श्रीमते रामानन्दाय नमः

श्रीमानस शंका समाधान रत्नावली

[चतुर्थ भाग]

(सुन्दर, लंका एवं उत्तर कांड)

मानसतत्वान्वेषी–वेदान्त भूषण, डॉ० पं० श्रीरामकुमार
दास जी रामायणी महाराज डी० लिट्०



प्रकाशक :—

मानसमर्मज्ञ–पं० सच्चिदानन्द दास रामायणी

महान्त—वर विश्रामबाग, अध्यक्ष—श्रीराम ग्रन्थागार

मणिपर्वत—श्री अयोध्याजी

पुनर्मुद्रणार्थ न्यौछावरि–२५)

मानस शंका समाधान रत्नावली

(चतुर्थ भाग)

समाधानकार:—

मानसतत्वान्वेषी वेदान्त भूषण, डा० पं० श्री रामकुमार दास जी महाराज डी० लिट्०

ये दोषा समुदीरिता बुधगणै रामेऽथ रामायणे,
निर्जीवा किल साधु तर्क रहिताः या याश्चदुर्युक्तयः ।
ग्रन्थेऽत्र विवेचनैश्च विविधैः सच्छास्त्रतः खण्डिता,
सत्यासत्य विवेक पूर्ण कुशलास्ते शीलयन्तुस्वयम् ।।

(पं० श्री बज्रांगाचार्यजी)

[एकरत्नं यदि प्राप्तं दैवाद्यत्नेन मानवः ।
आत्मानं कृतकृत्यं हि मन्यन्ते मतिमान्नरः ।
रत्नानामवलीं प्राप्ते को वा विज्ञो न मोदितः।।]

प्रकाशक:—

मानसमर्मज्ञ—पं० सच्चिदानन्द दास रामायणी

महान्त—वर विश्रामबाग, अध्यक्ष—श्रीराम ग्रन्थागार
मणिपर्वत—श्री अयोध्याजी ।

अश्वस्थितस्य पतनंभवनि प्रमादादुन्थापयन्ति च बुधा परितोषयन्ति ।
मूर्खाहसन्त्यविरतं परिनिन्दयन्तः विश्वन्तु तद्विबुधवृन्दविचारणीयम् ।।

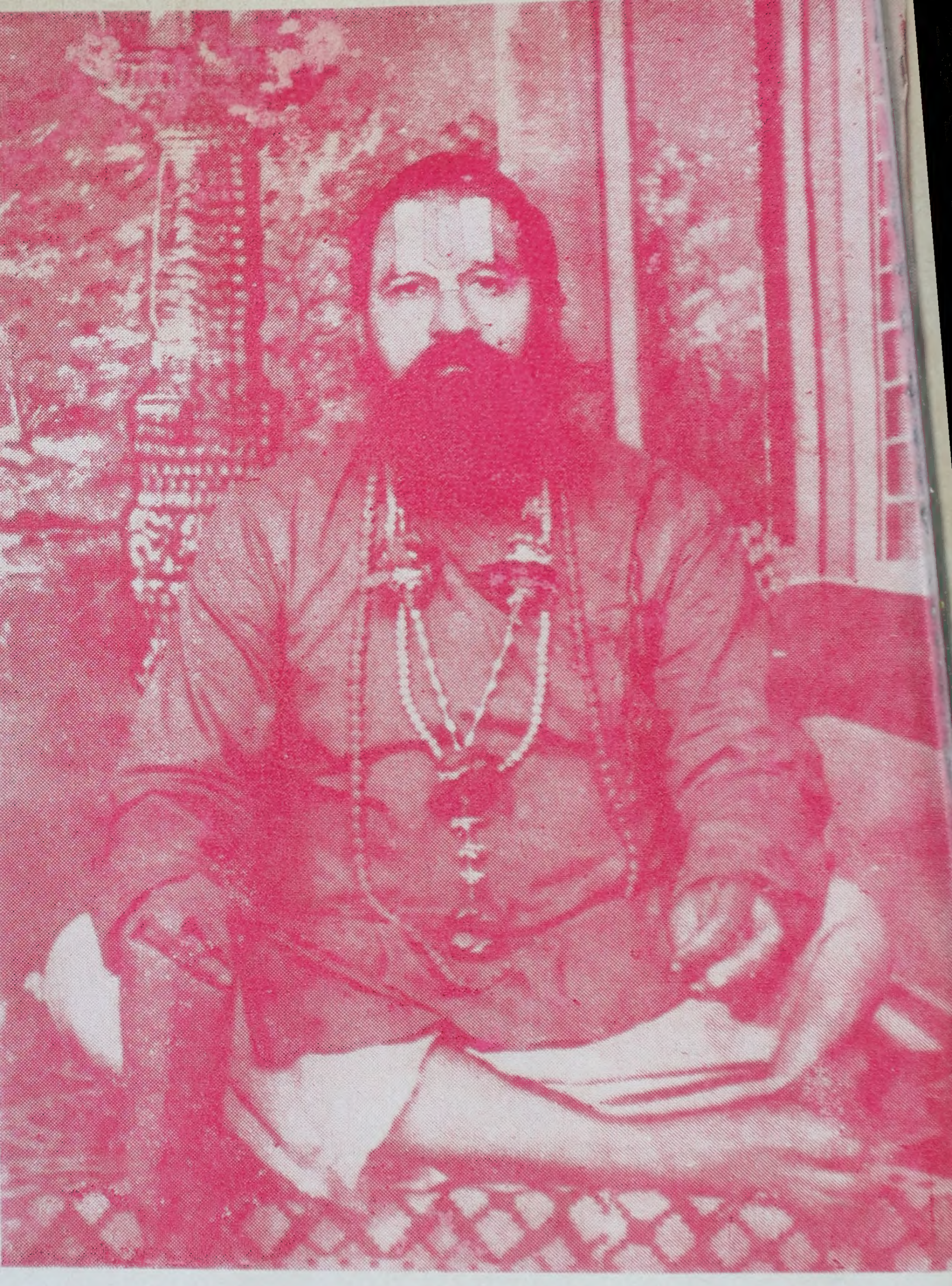
प्रकाशकः—
मानसमर्मज्ञ-पं० सच्चिदानन्द दास रामायणी
महान्त—वरविश्रामबाग, अध्यक्ष—श्रीराम ग्रंथागार
मणिपर्वत—श्री अयोध्याजी।

श्रीरामानन्दाचार्य जयन्ती माघकृष्ण सप्तमी
२०४३ वि० सं०, जनवरी १९८७
श्रीराम सम्बत—१,८१,९३,०८७

पुनर्मुद्रणार्थ न्योछावरि—२५)

पुस्तक प्राप्ति स्थान एवं पताः—
मानसमर्मज्ञ-पं० श्री सच्चिदानन्द दास रामायणी
श्रीराम ग्रन्थागार—मणिपर्वत
श्री अयोध्याजी—पिन-२२४१२३

मुद्रक—
वाल्मीकि प्रिंटिंग प्रेस
१२७/३ प्रमोदवन-अयोध्या।



मानस मर्मज्ञ - पं. श्री सच्चिदानन्द दास रामायणी
श्री राम ग्रन्थागार - वरविश्राम बाग
. मणि पर्वत, श्री अयोध्या जी .

प्रकाशकीय आवश्यक निवेदन

ले०–मानसमर्मज्ञ, महान्त पं० सच्चिदानन्द दास
रामायणी, श्रीरामग्रन्थागार
मणि पर्वत, श्रीअयोध्याजी

निगमागमपुराणादि सर्वशास्त्रेषु सम्मतम् ।
निर्मितो तुलसीदासः श्रीरामचरितमानसम् ।।१।।
लोका बहुविधा शंका नित्यं पृच्छन्ति मानसे ।
तेषां च यत्समाधानो वेदशास्त्रेषु सम्मतः ।।२।।
मणिकूटोत्तरतटे अयोध्यापुरिदक्षिणे ।
वरविश्रामबागेषु रामग्रन्थगृहं महत् ।।३।।
मानसतत्वान्वेषकः श्रुतिशास्त्रालोडकस्सुधीः ।
रामकुमारदासो यत्समाधानानि वै कृता ।।४।।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ती रामभक्तिप्रचारकः ।
वेदविद्यानिधिः ख्याता श्रौतसिद्धान्तभूषणः ।।५।।
सच्चिदानन्ददासोऽहं तत्पादाब्जस्य सेवकः ।
विद्याभक्तिप्रदातारो सद्गुरुं प्रणमामितम् ।।६।।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के अधिष्ठान, स्वप्रकाश, परब्रह्म स्वरूप राजाधिराज श्यामसुन्दर भगवान श्रीसीतारामजी महाराज की कृपा के फलस्वरूप गतवर्षीय प्रकाशित 'वेदों में कृष्ण कथा' एवं 'धन्य जटायु' खण्ड काव्य के उपरान्त यह श्री गुरुदेव महाराज द्वारा विरचित परमोपयोगी विशदग्रन्थ 'श्री मानस शंका समाधान रत्नावली' का चौथा और अंतिम खण्ड अब प्रकाशित हो रहा है। इसके पूर्व के तीन खण्डों में वालकाँड से लेकर किष्किधा काण्ड तक की शंकाओं के समाधान निकल चुके हैं। प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड में सुन्दर, लङ्का और उत्तरकाण्ड की आयी शंकाओं के समाधान दिये गये हैं। भारत के भिन्न-भिन्न भागों से जो शंकायें आयीं थीं उनका सम्यक रूपेण समाधान शास्त्रीय प्रमाण देकर श्री महाराजजी ने कई पत्र-पत्रिकाओं में किया था।

श्रीरामचरित मानस के मार्मिक रहस्य स्थलियों का परिज्ञान कराने वाला 'मानस समाधान रत्नावली' का चौथा खण्ड अब तक पाण्डुलिपि के रूप में उपेक्षित पड़ा था। बहुधा बाहर से कई लोगों की माँगें इस दुर्लभ प्रति के लिये आया करतीं थीं। किन्तु अर्थाभाव के कारण मानससिन्धु का यह अनमोल रत्न छिपा पड़ा था।

भगवत्कृपा से अब यह सुयोग आया है कि इस परमोपयोगी सुदुर्लभ ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इसके प्रकाशन में सर्वप्रथम गत वर्ष श्रीगुरुदेव महाराज के शिष्य कलकत्ता निवासी जय प्रकाश तिवारी ने सहयोग के रूप में ३१०१) तीन हजार एक सौ एक मुद्रायें अर्पित किया था। मुझे पूर्णतः पता है कि जयप्रकाशजी कोई धनी व्यक्ति नहीं हैं। उनके पास भी पूर्ण अर्थाभाव रहता है। किन्तु श्रीगुरुदेव के चरण कमलों में अपूर्व श्रद्धा है अतः उन्होंने निरन्तर श्रम करते हुये अपने दैनिक जीवन में हर तरह की कठिनाइयाँ झेलकर निजी कमाई का शुद्ध

द्रव्य श्रीगुरुचरणों में समर्पित किया था। सर्व हितैषी, भावग्राही भगवान उनका उत्तरोत्तर विकास करें, यही मेरी प्रभु से प्रार्थना है एवं मंगलमयी कामना है।

श्री महाराजजी के एक शिष्य जफरपुर, पो०–नगपुर (जलालपुर) जि०–फैजाबाद निवासी श्रीभागवत लाल श्रीवास्तव की माताजी अ० सौ० श्रीमती साहब राजी देवी ने इस महान प्रकाशन सत्र में सहयोग के रूप में ११०१) एक हजार एक सौ रूपयों की भेंट दी है। श्रीसीतारामजी महराज उनकी मनोवाँच्छा पूर्ण करें यही दास की प्रभु से मंगलमयी प्रार्थना है।

श्रीगुरुदेव महाराज के ही प्रिय शिष्य 'मानसरसिक' ठा० श्री राम शरण सिंह भुवालजी रामायणी दुर्ग का इस सत्कार्य में सहयोग स्वरूप ५०१) पाँच सौ एक रूपयों की राशि प्राप्त हुई है। श्रीभुवालजी तो सर्वथा अपने हैं उनसे तो सर्वदा सहयोग प्राप्त होता ही रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार होता रहेगा। मंगल भवन श्री हरि उनका नित्य मंगल करें, और अमंगलों का नाश करें, यही प्रार्थना है।

इस प्रकार भगवत्कृपा से कागज की कुछ समस्या हल हो गयी। शेष कार्य तो प्रभु कृपा पर ही आधारित है। इस पुनीत प्रकाशन का महान कार्य श्रीसीतारामजी ने सानन्द सम्पन्न करा लिया यह उन्हीं की महती कृपा है। अन्यथा मैं तो निमित्त मात्र हूं। प्रभु ने अकारण ही इस दुर्लभ ग्रन्थ का भी 'प्रकाशक' कहलाने का गौरवपूर्ण सौभाग्य दास को दिया "रघुपति दीन्ह बड़ाई मोहीं।"

मेरे निजी जीवन का यह व्रत है—अपने परमादरणीय, परमपूज्य गुरुदेव अनन्त श्री विभूषित मानस तत्वान्वेषी साहित्य रत्न, वेदान्त–

भूषण, डा० पंण्डित श्री रामकुमार दासजी रामायणी महाराज डी० लिट्० श्रीरामग्रन्थागार–मणि पर्वत श्री अयोध्याजी द्वारा रचित जितने भी प्रकाशित–अप्राप्य एवं अप्रकाशित ग्रन्थ हैं, सबका प्रकाशन कराऊँगा। इस महान सत्कार्य सम्पादन हेतु चाहे मुझे कुछ भी करना पड़े, करने के लिये पूर्णतः तैयार हूं। कहा भी गया है–

"मर जाऊँ माँगू नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारनै, माँगत करूं न लाज॥"

मैं इस ग्रन्थ रत्न के माध्यम से अपने सभी सहृदय सहयोगियों से विशेषकर जिन्होंने श्री गुरुदेव महाराजजी की कृपा–क्रोड में बैठकर कुछ ज्ञानार्जन किया हो तथा धर्म प्रेमी सज्जनों, महानुभावों से विनीत निवेदन करता हूं––इस सत्साहित्य प्रकाशन सत्र में समुचित सहयोग देकर कृतार्थ हों।

"तुलसी पच्छिन के पियै, घटै न सरिता नीर।
धर्म किये धन ना घटै, हों सहाय रघुबीर।।"

आचार्यवर श्री गुरुदेव महाराज ने जो मुझे अत्यन्त महत्वपूर्ण विशाल श्रीरामग्रन्थागार (वरविश्राम) का सार-संभाल करने का महान दायित्व सौंपा है, इसके लिये मुझे श्री महाराजजी के सभी प्रिय छात्रों एवं चरणानुरागी शिष्यों–भक्तों से शुभकामनायें एवं आशीर्वाद की पूर्ण अपेक्षा है।

मैं तो विशेष रूप से वर्तमान में 'श्रीअंजनी गुफा' के महान्त आदरणीय मानसभूषण श्रीराममंगल दास जी रामायणी महाराज का हृदय से कृतज्ञ हुँ। मुझे आज भी उनके स्नेहमय विचारों से प्रेरणा मिलती

रहती है। यह उन्हीं श्रीरामायणीजी की कृपा है कि मैं आज श्रीगुरुदेव की कृपा–क्रोड में बैठकर कृतार्थ हो रहा हूँ। मैं तो श्री चित्रकूट धाम में निवास का निश्चय कर चुका था और वहीं भगवत्कृपा से कालक्षेप कर भी रहा था। उनके साथ मैं भी श्रीगुरुदेव से दो चार शब्द सीखने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका हूँ। अतः मेरा उनका गुरुभाई का प्रिय सम्बन्ध है, इस कारण कृपापूर्वक उन्होंने चित्रकूट से बुलाकर श्री अवधधाम में गुरुदेव भगवान के चरणकमलों की सेवा का सुअवसर प्रदान किया। अब आगे भी इस सत्साहित्य–सेवा कार्य में उनका विशेष रूप से सहयोग प्राप्त होता रहेगा, ऐसी आशा है।

समग्ररूपेण श्रीसीताराम चरणकमलार्पित जीवन, श्रीसम्प्रदाय के समुज्ज्वल रत्न, श्रीरामानन्दीय, आचार्य प्रवर, वयोवृद्ध, श्रीगुरुदेव भगवान के द्वारा अब तक सैकड़ों छोटे–बड़े सदग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। उन परमोपयोगी ग्रन्थों में कइयों का प्रकाशन हो चुका है। किन्तु प्रकाशित पुस्तकों में भी कई अप्राप्य हो चुकी हैं।

कुछ अप्रकाशित एवं प्रकाशित ग्रन्थरत्नों में ऐसी बेजोड़ रचनायें हैं जिनका नवीन प्रकाशन एवं पुनर्प्रकाशन की तत्काल नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणस्वरूप–'मानससिद्धान्त' 'वेदों में रामकथा' मानस पारायण पूजन पद्धति' 'जानकी चरण चामर सरलाटीका' धर्मरथ, 'सखीगीता' 'श्री सीतागुणगान' और श्रीराम स्वभाव आदिका पुनर्मुद्रण कराना परमावश्यक है। अप्रकाशित रचनायें भी अभी सैकड़ों पड़ी हैं, कुछ रचनायें तो यत्र-तत्र पत्र–पत्रिकाओं में बिखरी हुई हैं। यदि उन्हें सबको संग्रह करके एकत्रित किया जाय तो बहुत से ग्रन्थ तैयार होंगे श्रीमहाराजजी ने एक विशाल संग्रह किया है जिसे ब्रह्मा की झोली' नामकरण भी किया है। विचारणीय है ब्रह्मा की झोली कितनी विशाल एवं कितनी विचित्र वस्तुओं से भरी होगी।

अप्रकाशित रचनाओं में तत्काल प्रकाशन के योग्य कुछ ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—'श्रीरामचरित मानस की वैदिकता' 'श्रीमद्‌भागवत और तुलसी' 'भगवद्‌गीता और तुलसी' 'हनुमान्नाटकम् और तुलसी' "श्रीरामतापनियोपनिषद भाष्य का हिन्दी अनुवाद'' मानससिद्धान्त परिशिष्ट' "मानस महायज्ञ पद्धति" और "मानस शंका समाधान परिशिष्ट" ।

वर्तमान कालीन ' श्री श्री जानकी कृपा पदावली'' महाकाव्य जो सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी की अन्तरंग एवं बहिरंग रहस्यात्मक लीलाओं का रसास्वादन कराने वाली अनोखी एवं अपने आप में पूर्ण सरस रचना है। इस अलौकिक दिव्य ग्रन्थ में भगवल्लीला माधुरी के सुन्दर-सुन्दर गेय पद्य हैं। उसे देखकर ऐसा लगता है कि 'श्रीरामगीतावली' जो आचार्यवर गौस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज की रचना है, उसी का परमप्रसाद रूप में श्रीमहाराजजी के करकमलों से श्रीजानकी कृपा पदावली महाकाव्य का अवतरण हुआ है। भक्त भाव ग्राही श्रीभगवान की परमपावन अनुकम्पा से ही ऐसी सरस एवं भावमय वैष्णव सिद्धान्त समन्वित संरचना हुई है। इस ग्रन्थ से अनेकों रहस्यस्थितियों का भाव प्रगट हो जाता है। श्रीराम कथा का मार्मिक प्रसंग स्पष्ट होकर सबके लिये उपोदय एवं सकिलत हो जाता है।

अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व विशाल श्रीरामग्रन्थागार के संस्थापक, मणिपर्वत की तलहटी में छिपे श्रीअवधधाम के समुज्जवल रत्नशिरोमणि, सन्तप्रवर, वेदान्त भूषण, पं० श्रीरामकुमार दासजी महाराज द्वारा वैदिक वाङ्मय साहित्यों से मन्थन कर निकाले गये ग्रन्थरत्न सम्पूर्ण जगत को अपूर्व दिशा देंगे।

श्रीयुगलमाधुरी कुंज–नजरबाग श्रीअयोध्याजी के महान्त श्री मैथिली

शरणजी 'भक्तमाली' ने स्वरचित श्रीभक्तमाल (संतचरितामृत) में श्रीमहाराजजी का परिचय का एक छप्पय लिखकर दिया है—

(श्री) रामकुमार सुदास बड़े अनुरागी त्यागी।
निर्दम्भी निर्लोभ सुमति सिय पिय पग पागी॥
मानसतत्त निधान काव्य कौशल रसिकाई।
मनिपर्वत की मनौ महानिधि इनने पाई॥
ब्यवहार वृत्ति से विलग है, परमारथ भीजो हियो।
अष्टादश षट् चार अरु सद्ग्रन्थन संचय कियो॥

(छप्पय संख्या—१७४)

श्री महाराजजी के सम्बन्ध में श्रीवृन्दावन धाम वासी आशुकवि सन्त शिरोमणि श्रीराघवदासजी श्रीवैष्णव रामायण व्यास एवं भक्तमाली जी ने 'मानस सिद्धात' नामक ग्रन्थ के लिये शुभ सम्मति लिखते हुए अन्त में एक छप्पय लिखा है—

मानस अर्थ अनूप भाव अबिरुद्ध उचारत।
भ्रान्ति भूरि करि दूरि शुद्ध सिद्धान्त निकारत॥
'राघव' कलानिधान लेख देखो 'मानसमणि'।
शुचि सुन्दर साहित्यरत्न वेदान्त शिरोमणि॥
पंडित रामकुमार दास की बैठि जीह पर भारती।
बादी वचन विदारि 'पारकर' कढ़ति करेजो फारती॥

श्रीमहाराजजी पक्के अध्यात्मवादी एवं पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ हैं। जहाँ

भी कोई धर्म या धर्मरक्षक श्रीभगवान के सम्बन्ध में अनर्गल आक्षेप करता है तत्काल उसकी भर्त्सना करते हुए अत्यन्त कड़ी आलोचना करते हैं। अत. 'शंका समाधान रत्नावली' में भी कहीं-कहीं आक्रोशित वाक्य आये हैं। वास्तव में सत्य थोड़ा प्रखर होता ही हैं। वैष्णव सिद्धान्त ही सम्पूर्ण जीव का अपना स्वाभाविक सिद्धान्त है। क्योंकि समस्त जीव मूलतः वैष्णव ही है। समग्र रचनाओं में सम्पूर्ण प्राणियों के लिये परम हित की बात बतायी गयी है।

अब आवश्यकता है. इन तपोधन महर्षिकल्प की तपः साधना को सम्पूर्ण जगत में वितरण करने की। ज्ञान-सूर्य रश्मियों को सर्वत्र आलोकित हेतु घर-घर पहुँचाने की। क्योंकि दुर्भाग्य वश अब ज्ञान का रवि अस्ताचल की चोटी पर पहुँच चुका है। सर्वदा ज्ञान-प्रकाश वितरण करने वाला भाष्कर शीघ्र ही अस्त होने वाला मालूम होता है। अतः यह स्वर्णिम सुअवसर पुनः जीवन में बार-बार नहीं आयेगा। अब हमें ज्यादा से ज्यादा सेवा-सौभाग्य प्राप्त कर लेना चाहिये।

वास्तव में श्रीगुरुदेव महाराज का दैनिक जीवन भगवद्भजन तथा सच्छास्त्रों के अनुशीलन, आलोडन, अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन मनन एवं श्रवण में ही व्यतीत होता है। आज भी महामनीषी सन्त प्रवर श्रीमहाराजजी रात्रि के दो बजे से ही भगवन्नाम जप करने आसना-सीन हो जाते हैं। नित्य प्रातः चार बजे ही स्नान कर लेते हैं। अत्यन्त अस्वस्थावस्था में भी विद्यार्थियों को मानस, भागवत दर्शनादि ग्रन्थों का स्वध्याय कराते हैं। प्रातः नित्य अनेकानेक जिज्ञासुगण अपनी ज्ञान पिपासा शान्त्यर्थ आते ही रहते हैं। भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के शोध छात्र-छात्राओं का आगमन निरन्तर होता रहता है। श्रीमहाराज जी उन्हें बड़े प्यार से ज्ञान-दान मार्ग दर्शन से सत्कृत करते रहते है। विदेशों से भी पर्यटक-शोधक यत्र तत्र आया करते है और उन्हें भी

वरविश्राम बाग स्थित श्रीरामग्रन्थागार की शीतल सुहावनी छाया का का आश्रय प्राप्त होता है।

अत्यन्त रुग्ण एवं वृद्ध शरीर में भी अब तक स्मरण शक्ति इतनी तीव्र है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। मुझे याद है, एक दिन डा० रामविहारी उपाध्याय 'अवध' शब्द को वेद में देख रहे थे। उन्हें 'अवध' शब्द नहीं मिला। अन्ततः वे लिख चुके थे कि अवध शब्द मूलतः वेद का नहीं है यह शब्द मुगल काल में मुसलमानों ने अयोध्या के बदले में गढ़ लिया होगा। बे श्रीमहाराजजी से भी यही बात बताये। तब उस समय प्रसाद ग्रहण करते समय ही विद्यावारिधि वेदान्त भूषणजी महाराज ने बताया—नहीं यह तुम्हारी कोरी कल्पना है वेद में 'अवध' शब्द है। मैंने अध्ययन काल में उसे देखा है। तुम परिश्रम करो और खोज निकालो। इस प्रकार अनर्गल कल्पना मत कर लो। उन दिनों कई वर्षों से डा० उपाध्यायजी रामग्रन्थागार में ही रहकर अयोध्या पर शोध कर रहे थे। पी० एच० डी० उन्होंने श्रीमहाराजजी के आश्रय में रहकर किया था। उस समय श्रीमहाराजजी की बात पर उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था। मैं वहीं विद्यमान था— मैंने कुछ रोषावेश में कहा उपाध्यायजी! अवश्य ही आपने अवध शब्द खोजने में श्रम नहीं किया है, जब श्रीगुरुदेव बता रहे हैं तब जरूर अवध शब्द वैदिक ही होगा। और मैं श्रीमहाराजजी की स्मरण शक्ति पर विश्वास करके वैदिक कोष को बारीकी से देखने लगा। श्रीमहाराजजी ने संकेत बता दिया और वह शब्द मिल गया। तब उपाध्याय खुशी से नाच उठे।

अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न विद्वद्वर श्रीमहाराजजी को सन १९७६ ईसवीय में श्री अवध विश्वविद्यालय ने ग्रन्थरत्न 'श्री मानस शंका

समाधान रत्नावली' पर डाक्टरेट—डी० लिट्० की सम्मानित उपाधि प्रदान कर अपने को कृतार्थ किया था।

सैकड़ों शोध छात्र उनकी छत्र–छाया में बैठकर पी० एच० डी०, डि० फिल्०, डी० लिट्० आदि पदवियों से विभूषित हो चुके हैं, उन्हें भला डी० लिट० की उपाधि क्या प्रभावित कर पायेगी जो परम विरक्त सन्त है जिनमें नाम मात्र के लिये भी बाह्याडम्बर दिखावापन तथा लौकिक प्रसिद्धियाँ प्राप्त करने की गंध नहीं है, उन वीतरागी सिद्ध सन्त को कोई प्रलोभन में क्या डाल पायेगा। हाँ इतना अवस्य है श्री भगवान की भाँति सन्त महात्मा आदि भी अपने प्रेमी–भक्तों के प्रेमोपहार को उनकी प्रसन्नता एवं श्रद्धा का समादर करते हुये स्वीकार कर लेते हैं। अन्यथा पूर्णकाम को कामना कैसी।

"कहा कमी जाके रामधनी।"
तीनि गाँठ कौपीन में अरू भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुबर उर बसे, इन्द्र बापुरो कौन ? ।।अस्तु ... ।

यह 'मानस शंका समाधान रत्दावली' का चतुर्थ खण्ड पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इस महान दिव्य ग्रन्थ में गुण ही गुण हैं, किन्तु एक–दो अभाव खटकते हैं—(१) उद्धरण में आये हुए मूल श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद नहीं दिया गया हे। जिससे सर्वसाधारण को समझने में कुछ असुविधा होती है, पर भावार्थ तो निकल ही जाता है। (२) ग्रन्थ का कागज, साज-सज्जा छपाई आदि विषयानुरूप नहीं हो पाये हैं।

प्रथम कारण तो श्रीमहाराजजी स्वयं स्पष्ट करते हैं कि कम से कम पृष्ठों में ज्यादा से ज्यादा तथ्य पूर्ण उपयोगी विषय आजायें मेरा

यही लक्ष्य रहा है । उद्धरणों के हिन्दी करने से ग्रन्थ का कलेवर विशाल होने का भय रहता है। दूसरा कारण भी स्पष्ट है अर्थाभाव का होना। भविष्य में यदि श्रीसीतारामजी की कृपा हुई तो पुनर्मुद्रण काल में सुन्दर साज-सज्जाओं से सजाकर संस्कृत उद्धरणों का भी हिन्दी अनुवाद के साथ और चारों खण्ड एक साथ एक बिशाल ग्रन्थ के रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जायेगा। और वे बड़े भाग्य-वान सज्जन होंगे जिन्हें प्रकाशक होने का सेवा सौभाग्य प्राप्त होगा।

श्री महाराजजी ने एक और खोज पूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जो मानस प्रेमियों के लिये अपूर्व है। इस "मानस के ऋषि-मुनि" नामक परम दिव्य पुस्तक में मानस में जितने ऋषियों-मुनियों के नाम आये हैं सबका विस्तृत चरित्र अनेकानेक धर्मग्रन्थों का शोधन करके लिखा है। कोई धर्म प्रेमी सज्जन इस दिव्य ग्रन्थ का प्रकाशन-सहयोग प्रदान कर सकते हैं ।

"श्रीमानस शंका समाधान रत्तावली" नामक दिव्य एवं परमोप-योगी ग्रन्थरत्न चार खण्डों में पूर्ण हुआ है । इसमें भारत के भिन्न-भिन्न भागों से शंकाकारों ने जो भी शंकायें भेजी हैं, उन्हीं का शास्त्रोक्त समाधान कृपालु श्रीगुरुदेव भगवान ने किया है । चौथे खण्ड में सुन्दर लंका एवं उत्तरकांडीय शंकायें लगभग २०० और उनके समाधान हैं। चारों खण्डों में कुल शंकायें ३७७ तथा उनके समाधान हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ शंकायें और समाधान यत्र-तत्र पत्र-पत्रि-काओं मे बिखरी पड़ी हैं । भविष्य में यदि भगवत्कृपा से सुयोग आयेगा तो श्रीरामचरितमानस सम्बन्धी श्री महाराजजी द्वारा उठायी शंकायें और उनका समाधान तथा अनेकानेक विशिष्ट भाव सम्पन्न

करके 'श्रीमानस शंका समाधान रत्नावली—परिशिष्ट' नामक पाँचवां खण्ड प्रकाशन कराने की कमनीय कामना है। लक्ष्य सस्ते मूल्य में देने का है। यदि बढ़ियाँ कागज और बाहरी टीम टाम देखाऊपन रखता तो इसका दुगुना दाम रखना पड़ता। सरकार तो सस्ता कागज लखपतियों को ही देती है। देखें श्रीभगवान कब और किस प्रकार यः मंगलमयी मेरी आकांक्षा पूरी कराते है। सर्वान्तर्यामी परमात्मा कि भाग्यवान सज्जन के हृदय में प्रेरणा प्रदान करके शौभाग्यशाली बनः का सेवा-सौभाग्य देते हैं।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।"

इत्यलम्
भगवद्भागवदानुचरः
पं० सच्चिदानन्द दासः
वरविश्रामबाग—श्रीराम ग्रन्थागारः
मणि पर्वत—श्रीअयोध्याजी



मानस तत्वान्वेषी वेदान्त भूषण डॉ० पं० श्री
रामकुमारदासजी रामायणी महाराज डी०लिट्०
श्री रामग्रन्थागार, मणिपर्वत, श्री अयोध्या जी

॥ श्रीमतेरामानन्दाय नमः ॥

श्री मानस शंका समाधान रत्नावली

पञ्चम भाग

* सुन्दर काण्ड *

शंका–१

रामायण के प्रत्येक कांड का नाम शब्दार्थ ठीक ठीक समझ में आ जाता है, जैसे प्रथम बाल चरित्रय से बालकांड, दूसरा अयोध्या के चरित्र मे अयोध्या कांड, ऐसे ही आरण्य, किष्किन्धा, लंका और उत्तर। किन्तु पाँचवे का ही नाम सुन्दरकांड क्यों रखा गया ? श्री रामचरित्र तो सभी सुन्दर हैं।

(श्री रामनारायण लाल हृदयस्य, सम्पादक–मारुति संजीवन)

समाधान

जय तुलसी हरिवल्लभा तुलसी वल्लभ राम।
जय रामायण प्रिय दुहुन तुलसी कथित ललाम॥

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने श्रीराम चरित मानस के सातों भागों का नाम सोपान रखा है, कांड नहीं और सोपानों के नाम बाल, अयोध्या आदि नहीं हैं अपितु सभी सोपानों के अन्त में सभी का अलग–अलग नाम दिया है। क्रमशः देखिये—

१– इति श्रीमद्रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल सन्तोष सम्पादनो नाम प्रथमः सोपानः समाप्तः।

२– इति श्रीमद् रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल विज्ञान पराभक्ति सम्पादनो नाम द्वितीयः सोपानः समाप्तः ।

३– इति श्रीमद्रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल बैराग्य सम्पादनो नाम तृतीयः सोपानः समाप्तः ।

४– इति श्रीमद्रामचरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विशुद्ध सन्तोष सम्पादनो नाम चतुर्थः सोपानः समाप्तः ।

५– इति श्रीमद्रामचरित्रमानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल विज्ञान सम्पादनो नाम पंचमः सोपानः समाप्तः ।

६– इति श्रीमद्रामचरित्रमानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल विज्ञान सम्पादनो नाम षष्ठः सोपानः समाप्तः ।

७– इति श्रीमद्राम चरित्र मानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने अविरल हरिभक्ति सम्पादनो नाम सप्तमः सोपानः समाप्तः ।

इन नामों का संकेत प्रत्येक काण्डान्त में देखा जा सकता है । अतः मानस के सम्बन्ध में यह प्रश्न ही व्यर्थ सा हैं परन्तु सुदूरपूर्व वाल्मीकि काल से बाल (आदि) कांड अयोध्याकांड (अवधकांड) आरण्य (वन) काण्ड, किष्किन्धा कांड, सुन्दर (सुमेर) कांड और युद्ध (लंका) कांड नाम की परिपाटी चली आई हैं ।

बहुत पीछे तीसरीशती में महर्षि प्राचेतस् रचित षट् काण्डात्मक आदि काव्य के अन्त में एक सातवें कांड का भी सम्मिश्रण कर दिया गया है तब से सात कांड रामायण की प्रथा चल पड़ी है, वैसे तो आनन्द रामायण नौ कांडों का है, अद्भुत रामायण एक ही कांड का है, आनन्द रामायण के तो किसी कांड का नाम बाल, अयोध्या, आरण्य आदि नहीं है अपितु दूसरे दूसरे नाम हैं । इसलिए आदि काव्य के इस काण्ड के नामकरण का कुछ रहस्य अवश्य है । रहस्य रहित होना तो भागवत के प्रथम स्कंध, द्वितीय आदि की तरह प्रथम कांड, द्वितीय कांड आदि ही रहता, महाभारत की तरह आदि पर्व सभा पर्व, वन पर्व आदि की तरह किंवा आनन्द रामायणके सार कांड,

यात्राकांड, याग कांड आदि की तरह विमल संतोष सम्पादिनो सोपान, विमल वैराग्य सम्पादिनो सोपान आदि नाम हैं, पर आपने मानस के सोपानों के नाम का अर्थ नहीं पूँछा है अपितु सुन्दर कांड नाम का अर्थ पूँछा है अतः वही लिखा जाता है। जैसे बाल्मीकीय रामायण के बालकांड में श्री राम जी के बाल चरित्र से विवाह तक का ही चित्रण है, अयोध्या कांड में वर्णित सम्पूर्ण कथा का सम्बन्ध अयोध्यावासियों से ही है, आरण्यकांड में दण्डक-अरण्य में संघटित चरित्र ही है, किष्किन्धा में किष्किन्धा जनेश सुग्रीव एवंउनके सम्पूर्ण अनुयायियों के कार्य की प्रधानता है और युद्ध (लंका) कांड में लंका के युद्ध एवं तद्युद्धजनित परिणाम सीता प्राप्ति विजय पूर्वक शत्रु के राज्य की प्राप्ति जिसे भारतीय परम्परा के अनुसार शत्रु के ही बचे हुये उत्तराधिकारी को दे दिया। और लौटकर अपनाराज किया और ग्रंथान्त की फलश्रुति का उल्लेख है। अस्तु—

यद्यपि यह सुन्दर कांड के नामकरण, सम्बन्धिनी आपकी शंका नई नहीं है और—

> सुन्दरे सुन्दरो वक्ता सुन्दरे सुन्दरी कथा ।
> सुन्दरे सुन्दरो श्रोता सुन्दरे सुन्दरो गिरिः ॥
> सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरो कपिः ।
> सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम् ॥

समाधान भी अनेक प्रकार से किया जा चुका है। तो भी जब आपने पुनः इस शंका को उद्भावित किया है तो इसका समाधान भी नये रूप से (जो पूर्व के सभी समाधानों से भिन्न हों) कर देना मुझे युक्ति संगत लगता है। यद्यपि कि अनेक पुराने समाधानों से जब आपको सन्तोष न हुआ तो मेरे इस नये समाधान से आपको सन्तोष हो जायेगा ऐसा तो दावा मैं नहीं करता। हाँ तो सुनिये—

(क) ऋषियों ने श्री हनुमान जी को रामायण महामाला का महारत्न (सुमेरु) बतलाया है—

गोष्पदी कृत वारीशं मशकी कृतराक्षसान् ।
रामायण माहामाला रत्नं वंदे अनिलात्मजम् ॥

(वा०रा०की भूषण टीका)

अतः सुमेरु स्वरूप श्री हनुमान जी के—

भक्ति प्रताप तेज बल सानी ।

कथा की प्रधानता होने से विज्ञभावुकों ने इस (काण्ड) सोपान का नाम सुमेरुकांड रख लिया है।

(ख) रामायण में जिसके सम्बन्ध में कोई प्रधान या अद्भुत घटना संघटित हुई है विज्ञों ने उसको उसी नाम से संबन्धित कर लिया है।

श्री हनुमान जी ने जब जाम्बवान जी की सलाह से लंका के लिए प्रस्थान किया तो जिस पर्वत पर चढ़कर समुद्र-प्लवन करने के लिए कूदे थे उस पर्वत के उस शिखर का नाम सुन्दर गिरि था।

सिन्धु तीर एक भूधर सुन्दर ।
कौतुक कूदि चढ़े ता ऊपर ॥

उस गंध मादन महेन्द्र के शिखर (सुन्दर गिरि) के सम्बन्ध में अद्भुतता यह हुई कि वह गिरि शिखर श्री हनुमान जी के कूदते ही उनके पूर्ण दाब पड़ने से दलक कर चार अंगुल नीचे धँस गया—

जेहि गिरि चरण देइ हनुमन्ता ।
चलेउ सो गा पाताल तुरन्ता ॥

परन्तु वह कुछ देर में पुनः अपने स्थान पर आ गया केवल चार अंगुल दवा रह गया जैसा कि स्वयं श्री गोस्वामी जी ने ही कविता-वली में लिखा है—

तुलसी रसातल ते निकरि सलिल आयो।
उचके उचकि चार अंगुल अचलगो॥
(कवि० ४।१।)

और श्री हनुमान जी जब लंका से लौटे तो भी उसी पर्वत पर आये और श्रीराम जी भी ससैन्य उसी पर्वत पर ठहरे थे। पंचम कांड (सोपान) की सम्पूर्ण लीलाओं का मुख्य केन्द्र वही 'सुन्दर गिरि' रहा। इसलिए रामायण प्रेमी महानुभावों ने इसका नाम सुन्दर कांड रख लिया है।

शंका २

सभी प्राचीन प्रनियों में "स्वर्णशैलाभदेहम्" और "रधुपति वर दूतम्" पाठ छपा है परन्तु गीताप्रेस ने ,'हेमशैलाभ देहम्" और "रधुपति प्रिय भक्तम्" का खूव प्रचार किया है और करता है। ऐसा पाठ परिवर्तन का क्या रहस्य है? (रामगोपाल दास जी रामायणी)

समाधान

स्वर्ण शैल कमनीय तनु, रामदूत वर धन्य।
प्रणवौं पवनज पद पदुम, सीतारामानन्य॥

पाठ परिवर्तन का कारण मुझसे न पूँछकर गीता प्रेस के कर्णधारों ही से पूँछना चाहिए। यह सत्य है कि आज के जमाने में में श्री रामचरित्र मानस का जितना प्रचार गीता प्रेस के द्वारा हुआ है उतना शायद अन्य से नहीं साथ ही यह भी परम सत्य है कि श्री

"राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम ।

ऐसा भाव (कारण) महानुभाव लोग प्रायः बताया करते हैं, परन्तु मैंने मानस में बहुत ढूँढ़ा तो भी मुझे गोस्वामी जी का कोई ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य नहीं मिला कि सब कांडों के मंगलाचरण में एक ही तरह का नियम रहे। अतः किसी श्लोक के साथ दोहा, किसी में सोरठा किसी में मात्र श्लोक ही रखा है और बालकांड के मंगलाचरण में तो चौपइयाँ भी दी गई हैं। सभी काण्डों की मंगलाचरण शैली भी एक सी नहीं है। देखिये—

१– बालकांड में छः श्लोक, कई सोरठे, कई दोहे और कई चौपाइयाँ भी हैं (आरम्भ का सातवाँ श्लोक मंगलाचरण का नहीं है)

२– अयोध्या कांड में तीन श्लोक और एक दोहा मंगलाचरण के हैं।

३– आरण्य कांड में दो श्लोक और एक सोरठा है पर सोरठा मंगलाचरणात्मक नहीं है।

४– किष्किन्धा कांड में दो श्लोक और दो सोरठा मंगलाचरण के हैं।

५– सुन्दर कांड में तीन श्लोक मात्र हैं।

६–लंका कांड में तीन श्लोक तत्पश्चात्-एक दोहा मंगलाचरण का है।

७– उत्तर कांड में तीन श्लोक मात्र मंगलाचरण के हैं। दोहा से तो कथा आरम्भ है। मंगलाचरण में वंदनीय देवक्रम में एक रूपता भी नहीं है और श्लोकों की जातियों में भी भेद है।

बाल, अयोध्या और आरण्य कांड के मंगलाचरणों में पहिले शंकर जी की वंदना तब राम जी की वंदमा है, लंका तथा उत्तर कांड में पहिले राम जी की तब शंकर जी की वंदना है और किष्किंधा तथा सुन्दर कांड में शिव जी की वंदना है ही नहीं।

शंका ४

श्री हनुमान जी को वारम्बार "वानराणामधीशं" 'कपिराय' कपीशं आदि क्यों कहा ? जब कि वानरों के राजा सुग्रीव थे ।

(पं० द्वारका दास जी)

समाधान

सुग्रीवसचिवं वीरं कपीशं करुणार्णवम्,
श्रीजानक्या कृपापात्रं वन्दे पवननन्दनम् ॥

जिस तरह आज से कुछ (एकाध वर्ष) पूर्व भारत में राजाओं में दो भेद था, एक सम्राट् और अनेक मांडलिक राजा थे । इसी तरह उस समय मनुष्यों में तो था ही, अप्राकृत वानरों में भी दो भेद था । श्री सुग्रीव जी वानर सम्राट् थे और मांडलिक कपीश अनेकों थे । उन अनेक मांडलिकों में श्री हनुमान जी के पिता श्री केशरी जी भी चौवीस अर्बुद बानर वाहिनी के राजा थे ऐसा ग्रन्थों में उल्लिखित है । मानस के क्षेपकों में इसका वर्णन वड़े विस्तार के साथ दिया गया है कि—

"पुनि देखहु यह यूथ अपारा । पीतवरण होइ गयउ पहारा ॥
बाल अरुण मरीचि जसफूटी । निशिचर निकर तमी चहछूटी ॥
चौबिस अर्बुद इनकर जूहा । सहज बृन्द सम कोटि समूहा ॥
शिला शैल जे आगे परहीं । पायन मर्दि गर्द सम करहीं ॥
कंचन गिरि कन्दर के वासी । इनकर यूथ नाथ अविनाशी ॥
अनिवल वासव कर हितकारी । सखा मुकंठ केर सुखकारी ॥
पान करैं गंगा कर नीरा । पर्वत श्रृंग समान शरीरा ॥
छिन छिन सिंह नाद जो होई । गर्जत आवत है कपि सोई ॥

यश तिहुँ मंडल गलित गज बलकर नाहिन अंत ।
यह कपि राजा केशरी, तासु सुवन हनुमन्त ॥

वानरराज केशरी के उत्तराधिकारी होने के कारण श्री हनुमान जी को जगह जगह पर 'कपीश' 'कपिराय' आदि कहा गया है ।

शंका ५

समुद्र में जहाज चलाने वालों को आज भी यत्र तत्र समुद्र में पर्वत एवं पर्वत खण्ड मिला करने है मैनाक भी इसी तरह कोई पर्वत था क्या ?

(महन्त रघुवरदास जी शिवनाम

समाधान

अधिदेव वाद को समझने वाले जानते हैं कि जब किसी भी वस्तु का निर्माण हो जाता है तो उसका एक अधिदेवता उसमें रहने लगता है इस कल्प की सृष्टि के आरम्भ में जब ब्रह्मा ने पर्वतों का निर्माण किया तब अजनाभ वर्ष [भारतवर्ष] के उत्तर में सबसे उच्च एवं विस्तृत शिखरावलियों वाला महान पर्वत का निर्माण करके उसमें हिमवंत नामक उपदेव को उसका अधिदेव बनाकर सभी पर्वतों का राजा बना—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः ॥ कुमारसंभव १।१॥

जिस पर्वत में जिस उपदेव को रखा वह पर्वत उसी उपदेव के नाम से ख्यात् हुआ । वह उपदेव जब चाहता अपने अधिष्ठित पर्वत में प्रवेश कर जाता और जब चाहता जो रूप बना लेता उसी पर्वत के किसी एक देश में गांव घर बनाकर परिवार युक्त रहता । पर्वतराज हिमवान ने उपदेव अग्निष्वात्ता पिता की मानसी कन्या मैना से विवाह किया जिससे मैनाक नामक पुत्र तथा हैमवती और पार्वती

नाम की दो कन्यायें हुई । मैनाक के क्रौंच नामक पुत्र हुआ । ब्रह्मा ने एक रत्नमय रमणीक पर्वत का अधिदेव मैनाक को और एक का अधि-देव क्रौंच को बना दिया । उसी के नाम से क्रौंचगिरि और वह वन क्रौंचारण्य नाम से ख्यात् हुआ—

एतेषां मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः ।
पत्नी हिमवतः श्रेष्ठा यस्यांमैनाक उच्यते ॥१३॥
मैनाकस्य सुतः श्रीमान् क्रौंचो नाम महागिरिः ।
पर्वत प्रवरः पुत्रो नानारत्न समन्वितः ॥ १४ ॥

(हरिबंश १।१८।१३–१४॥

पहिले पर्वतों में पर बने थे । वे उपदेव अपने अधिष्ठित पर्वत में प्रवेश करके उड़ते थे ।

उपदेव इच्छानुसार रुप बना लेते हैं तभी तो—

शैल सकल जहँ लगि जगमाहीं ।
लघु विशाल नहि बरनि सिराहीं ॥
बन सागर गिरि नदी तलावा ।
हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा ।
कामरूप सुन्दर तनुधारी ।
सहित समाज सहित सुत नारी ।
गये सकल तुहिनाचल गेहा ॥

शंका ६

श्री परमहंस पाण्डेय, नं० २४ ई०डी० (ए०सी०आई० फोर्स) आगरा "पुनि निहि कीन्ह प्रणाम" किसने किसको प्रणाम किया और क्यों प्रणाम किया ?

समाधान

श्रीरामचरित्र मानस के अनेक स्वयम्भू सम्पादकों ने इस प्रसंग

की दो चौपाइयां और एक सोरठा निकल दिया है इस कारण से शंका की यह दिवाल खड़ी हो गयी है; वे निष्काशित पद्य ये हैं—

इन्द्र वज्र जा दिन कर लीन्हा ।
पर्वत सबै पंख बिनु कीन्हा ।
तादिन मारुति कीन सहाई ।
तासु तनय लंका को जाई ।।

सिन्धु बचन सुनि कान तुरत उठ्यो मैनाक तब ।
कपि कहं कीन प्रनाम बार-बार कर जोरि कै ।।

इसका विस्तृत वर्णन वा० रामायण सुन्दर कांड सर्ग १ श्लोक ८७ से १३३ तक में है । जिसका संक्षिप्त भावार्थ यह है—

जिस समय कपिवर हनुमान जी समुद्र पार कर रहे थे उस समय इक्ष्वाकु कुल का सम्मान करने की इच्छा से समुद्र ने विचार किया-मुझे इक्ष्वाकु-कुल के महाराज सगर ने बढ़ाया था, इस समय ये भी इक्ष्वाकुवंशियों की सहायता कर रहे हैं, अतः इन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए । यह शुभ विचार करके समुद्र ने अपने जल में छिपे हुए सुवर्णमय मैनाक पर्वत से कहा—देखो ये पराक्रमी कपि केशरी हनुमान, तुम्हारे ऊपर हो कर जा रहे हैं । ये बड़ा भयंकर काम करने वाले हैं । इस समय श्री राम का कार्य सिद्ध करने के लिए इन्होंने आकाश में छलांग लगायी है । इनका परिश्रम देखकर तुम ऊपर उठ जाओ । (जिससे कुछ देर तुम्हारे ऊपर विश्राम करके ये आगे का मार्ग तयकर सकें ।

समुद्र की यह बात सुनकर बड़े-बड़े वृक्ष और लताओं से ढका हुआ सुवर्णमय मैनाक तुरन्त ही जल से बाहर निकल आया । उसे देखकर हनुमान जी ने समझा, यह कोई विघ्न उपस्थित हुआ है । अतः वायु जैसे बादल को छिन्न भिन्न कर देती है. उसी प्रकार महान् बेगशाली हनुमान् ने बहुत ऊँचे उठे हुए मैनाक को अपनी छाती से दबा दिया । इस प्रकार उनके सम्पर्क में आने से जब पर्वत श्रेष्ठ मैनाक

को उनके वेग का पता लग गया, तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ और गर्जना करने लगा ।

वह मनुष्य का रूप धारण करके अपने शिखर पर आया और उनसे कहने लगा—कपिवर ! आपने यह बड़ा ही कठिन कार्य किया है । श्री रघुनाथ जी के पूर्बजों ने समुद्र की वृद्धि की थी, इस समय आप उनका हित करने में लगे हुए हैं ; अतः समुद्र आपका सत्कार करना चाहते हैं, क्योंकि उपकार के बदले में उपकार करना तो सनातन धर्म ही हैं । इसलिये आपको भी उनकी बात रख लेना चाहिए । मुझे आपके सत्कार के लिये ही समुद्र ने बड़े आदर से नियुक्त किया है ।

कपिवर ! आप कुछ देर यहां ठहरिये । इस स्थान पर बहुत से सुगन्धित और स्वादिष्ट कन्द, मूल फल लगे हैं । खाकर और थोड़ी देर विश्राम करके आगे जाइयेगा । आप तीनों लोकों में विख्यात् और बड़े गुणवान् हैं तथा आपके साथ हमारा भी कुछ सम्बन्ध है ।

पहले सतयुग में सभी पर्वतों के पंख होते थे । वे भी गरुड़ के समान बड़े वेग से सब दिशाओं में उड़ा करते थे, जिससे देवता ऋषि और समस्त प्राणियों को उनके गिरने की आशंका सर्वदा बनी रहती थी । अतः इन्द्र ने क्रोध से भरकर अपने वज्र से उनके पंखों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये । उस समय देवराज कुपित होकर वज्र उठाये मेरी ओर भी आये, किन्तु पवनदेव ने उसी समय मुझे इस समुद्र में गिरा दिया । इस प्रकार आपके पिता ने मेरे पंखों को बचाकर मुझे अखण्डित रखा और मेरी रक्षा की । अतः मैं आपका आदर करता हूँ, आप मेरे लिए सब प्रकार से आदरणीय हैं । कपिवर ! आपके साथ मेरा यही बड़ा गुणमय सम्बन्ध है । इस प्रकार मेरा और समुद्र का भी काम करके आप प्रसन्न होइये हमें भी प्रसन्न कीजिये । यहां अपनी थकान उतारिये हमारी पूजा ग्रहण कीजिये और मेरा प्रेम स्वीकर कीजिये । आपको मेरी

बात मान लेनी चाहिए, मुझे भी आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई है मेरा आतिथ्य स्वीकार कीजिये ।

मैनाक के इस प्रकार कहने पर कपि श्रेष्ठ श्री हनुमान जी ने उससे कहा—मुझे भी आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है, मेरा आतिथ्य हो गया । आप नाराज न हों । मेरे काम का समय बीता जा रहा है, दिन भी ढल चुका है । मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। इसलिए यहां बीच में ठहर नहीं सकता । (मेरे पिता के प्रिय होने से अब मेरे भी आप प्रणम्य हैं ।

ऐसा कहकर महाबली हनुमान जी ने हँसते हुए मैनाक को हाथ से छू दिया और आकाश में चढ़कर चलने लगे । उस समय पर्वत और समुद्र दोनों ने बड़े आदर से उनकी ओर देखा, उनका सत्कार किया और यथोचित आशीर्वादों से उनका अभिनन्दन किया । अतः प्रणाम हनुमान जी ने मैनाक को किया ।

हनुमान जी का यह दुष्कर कार्य देखकर सारे देवता, सिद्ध और महर्षिगण उनकी प्रशंसा करने लगे । सुवर्णमय मँनाक का भी यह कार्य देखकर वहां आये हुए देवता और देवराज इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए । फिर स्वयं शचीपति इन्द्र ने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गद्गद् कंठ से कहा—पर्वतराज मैनाक ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ और तुम्हें अभयदान करता हूँ, तुम प्रसन्नता से जहां चाहो जा सकते हो । इस प्रकार वर पाकर मैनाक जल में स्थित हो गया और हनुमान जी पुनः समुद्र को लांघने लगे ।

शंका—७

सुरसा नाम अहिन के माता ।।

सर्पों की माता का नाम तो कद्रू विख्यात है, कोशों काव्यों में सर्पगण काद्रवेय कहकर अनेक वार स्मरण किये गये हैं और

"कद्रु विनतहिं दीन्ह दुख तुम्हहिं कौशिला देव ।

इस अयोध्याकांड की पंक्ति में भी नागमाता कद्रू के ही प्रसिद्ध आख्यान का स्मरण किया गया है तब यहाँ 'सुरसा नाम अहिन कै माता" कैसी ? क्या यह कोई कल्प भेद की मोहक माया है ? या दोनों विभिन्न कल्पों में नागमाता थीं।

(श्री मंगला प्रसाद–सगरा)

समाधान

रामदूत अंजनि तनय , सुरसा विजयी वीर।
नमो नित्य जेहि ते कबौं, होइ न अहि कृत पीर ।।

यह कल्पभेद की माया नहीं प्रत्युत सत्य कथा है दोनों इसी श्वेत-वाराह कल्प के सर्पों की माताएँ हैं एक समय में ही सुरसा और और कद्रू दोनों हैं, दोनों जगत्पिता प्रजापति महर्षि कश्यप की पाणि गृहीता धर्म पत्नी हैं, दोनों से उरगों की ही उत्पत्ति हुई है । कद्रू से जो उरगों के प्रधान अष्टकुल उत्पन्न हुए थे वे सब जन्म जात बहु-मुखी (एकाधिक मुख वाले)थे । उन सबके वंशजों के भी अनेकफण होते हैं और वे सब कामरूपी (इच्छित रूप बना लेने की शक्ति सम्पन्न उपदेव हैं । यथा—

अधस्तान्महातले काद्रवेयाणां—
सर्पाणां नैक शिरसाम् (भा०५।२४।२९)

अनेकशिरसां ब्रह्मन् खेचराणां महात्मनाम् ।
काद्रवेयास्तु वलिनः सहस्रममितौजसः ।।
(विष्णुपुराण १।२१।१९।ब्रह्मपुराण ३।९७

और सुरसा से जो उरग उत्पन्न हुए थे वे सब एक ही फण वाले रहे । यथा—

"सुरसायां सहस्त्रं तु सर्पाणाममितौजसः"
(वि०पु० १।२१।१८; ब्रम्हपु० ३।९६

"सुरसाऽजमयन्नागान् कद्रू पुत्रास्तुपन्नगान्"
-(म०भा०आदि पर्व ६६।७१)

आज पृथ्वी मंडल पर सैकड़ों प्रकार के छोटे बड़े उल्वण, विषधर, निर्विष, सदन्त, निर्दन्त, अंडज, पिंडज आदि विविध सर्प दिखाई देते हैं वे सब सुरसा के ही वंशज हैं। कद्रू के वंशजात उरग गण तो उपदेव होने से महातल, पातालादि अधस्थित दिव्य लोकों में चले गये जिनका प्रधान नगर भोगावती के नाम से विख्यात है—

"भोगावति जस अहिकुल वासा।"

और सुरसा के वंश जात एक मुखी अहिगण पृथ्वी मंडल पर व्याप्त हैं।

शंका ८

"शत योजन तिहि आनन कीन्हा"

सुरसा ने जब शत योजन (चार सौ कोस(का मुख बढ़ाया तो उतनी दूर अर्थात बारह सौ मील तक कोई गाँव जंगल या वृक्ष थे कि नहीं अगर थे तो कैसे बढ़ाया ? -(दयालदास कबीरपंथी)

समाधान

सुरसया कृतरोध निरोधकं निशिचरीकृतघात त्रिधाहकम् ।
जलधि लंघित दर्शितविक्रमं, नमत वानरराज मिहाद्भुतम् ।।

श्री हनुमान जी लंका जाते समय समुद्र के बहुत ऊँचे ऊपर आकाश मार्ग से उस पार लंका तट पर गये थे—

शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः ।
वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः ।।
(वा०रा०५।१'७६)

निरालम्ब आकाश में गांव जंगल, वृक्ष, पर्वत आदि नहीं हुआ करते अतः सुरसा के मुख फैलाने और श्री हनुमान जी के शरीर बढ़ाने में कोई बाधा नहीं हो सकती थी और न किसी की किसी प्रकार की हानि होने की ही सम्भावना थी ।

आकाश मार्ग में देवविमानों के मिलने की सम्भावना हो सकती थी, परन्तु जब देवताओं ने ही सुरसा को श्री हनुमान जी की परीक्षा के लिये भेजा था तब वे लोग वहाँ विमान लेकर कैसे स्थित रह सकते थे एक पर्वत 'मैनाक' समुद से निकला था परन्तु श्री हनुमान जी ने जब उसका आतिथ्य स्वीकार नही किया, तब तुरन्त ही पुनः समुद्र में ही अवस्थित हो गया था । यथा—

स वै दत्तवरः शैलोबभूवावस्थितस्ततः ।।
(वा०रा०५।१।१३६)

मैनाक के बाद सुरसा मिली थी वह आकाशमार्ग में ही । आपकी शंका के लिए कोई आधार ही नहीं है ।

शंका ९

मशक समान रूप कपि धरी ।
लंकहि चले सुमिरि नर हरी ।।

मशक समान रूप में अँगूठी कहाँ रखी ? (श्रीलक्ष्मीधर पाठक)

समाधान

मशकतुल्यकपीशसुविग्रहं, निशिचरीभयदायकमुष्ठिकम् ।
परं शोभननीतिविशारदं, नमतवानरराजमिहाद्भुतम् ।।

जिस देश की जैसी जलवायु होती है उस देश के निवासी मनुष्य उसी के अनुसार ह्रस्व दीर्घ आकार के होते हैं, वैसे ही वहां के पशु, पक्षी, पतंग, कीट, सरीसृप, वृक्ष, गुल्म लतादि होते हैं। जैसे अफ्रीका के घने प्रदेश में रहने वाले आदमखोर जंगली विशालकाय होते हैं वैसे ही वहाँ के स्थावर, जंगम, पशुपक्षी, कीट, पतंग आदि भी होते हैं। किसी किसी स्थान पर कुछ खास-खास प्राणियों में विशेषताएं भी होती हैं। डच न्यू गाइना में तीन तीन हाथ के लम्बे चूहे पाये जाते है। मलाया द्वीप में कुछ ऐसे विचित्र पतंगे मिलते हैं,

जो छिपकलियों को भी पकड़कर निगल जाते हैं और अभी अभी स्वतंत्र भारत को कलकत्ते के चिड़ियाघर के लिए तीन-तीन फिट लम्बी छिपकलियाँ भेंट में आई हैं। नार्वे प्रदेश में भारतीय गौरैया (कलविंक) बराबर मशक (मच्छर) आज भी देखे जाते हैं। अफ्रीका के दक्षिण-कैमरू में और फ्रांसीसी पश्चिम अफरीका के अंचल में दो फुट लम्बे और पाँच सेर वजन के मेढ़क होते हैं। वेनजुवेला में तीन इंच लम्बी मक्षिकाएं होती हैं इत्यादि। ऐसे ही विचार कर लेना चाहिए, जब लंका प्रदेश की जलवायु ऐसी थी कि वहाँ के निवासी राक्षसगण सैकड़ों हाथ के लम्बे होते थे तो क्या लंका के मशक भारतीय बिल्ली, कुत्ते के भी बराबर न होते होंगे। और श्री हनुमान जी लंका में तात्कालिक लंका के मशक समान रूप धारण कर लिए थे, भारतीय मशकवत् नहीं क्योंकि उस समय भारत में नहीं थे अपितु लंका में थे।

प्राचेतस महर्षि ने भी अपने आदि काव्य में उस समय श्री हनुमान जी का भारतीय बिडाल (बिल्ली) के बराबर कपि रूप धारण करना लिखा है—

सूर्येचास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुति ।
वृकदंशकमात्रोऽथ, बभूवाद्भुत दर्शनः ॥
(वा०रा०५।२।४७)

अपने समय के वेदशास्त्रादि समस्त संस्कृत साहित्य के प्रखर विद्वान "पं० श्रीराम वल्लभा शरण जी महराज" द्वारा संशोधित और पं० श्री रामकिशोर शरण शुक्ल एडवोकेट–सम्पादित एवं नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सन् १९२५ में प्रकाशित श्री रामचरित्रमानस पृष्ठ ३८६ पर—

"मशको विडालो मार्जारो वोतुः प्रवुर आखुभुक् (इतिकोशे)"

लिखकर विल्ली का एक पर्याय मशक भी बतलाया गया है।

और भट्टिकार ने शश–खरगोश (खरहा लमहा) के बराबर छोटा सा रूप हनुमान जी ने बनाकर लंका में प्रवेश किया था ऐसा लिखा है—

आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद्धिनम् ।
लंका समाविशद्रात्रौ वदमानोऽरि दुर्गमाम् ॥
[भट्टि काव्यम् ८।२६,२७]

अतः लंका के मशक अर्थात् भारतीय विल्ली अथवा मशक प्रमाण देह में अंगूठी रखने में तो किसी प्रकार की बात भी नहीं।

भगवत्प्रेरणा से उस समय श्री हनुमान जी एक गलती कर गये कि तत्कालीन एवं तद्देशीय मशक प्रमाण शरीर में भी आकृति बन्दर की ही रखे रह गये। लंका में उतने छोटे वन्दर नहीं हो सकते थे, इसी से लंकिनी ने चोरी पकड़ ली और कहा कि—

न शक्यं खल्वियं लंका प्रवेष्टुं वानरत्वया ।
[वा०रा०सु०का०३।२४]

यह भोंडी गल्ती भगवत्प्रेरणा से ब्रम्हा के वरदान का लंकिनी को निश्चय कराने के लिए हुई मालूम होती है। नहीं तो श्री हनुमान जी और गल्ती ? राम ! राम !!

"शांत पांप शान्त पापम्"

शंका–८

श्री हनुमान जी ने लंका में प्रवेश करके देवी सीता की खोज करने में लंका को खोज डाला उसका वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने–

'मंदिर मंदिर प्रति कर शोधा' ।

कहा है और सबके वाद कहा है कि–

"भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ।।"

यहाँ यह शंका होती है कि राक्षस राज रावण तथा निशाचरों के मकानों को 'मंदिर' और भक्तराज विभीषण जी के रामनाम एवं नामा-युध अंकित मकान को 'भवन' कहा है । ऐसा क्यों ?

(जी०आर० गुप्ता–गाजियाबाद)

समाधान

श्रीराम करुणा धाम कृपासिन्धो दयानिधे ।
नाथ दर्शय स्वकं देशं कौशलं सरयूतटम् ।।

प्रत्येक बातों में लोकमत और वेदमत का विचार करना परमावश्यक है–

"लोक वेदमत मंजुल कूला"

किसी किसी वस्तु या बात में लोक और वेद दोनों में प्रसंग मिलता है पर कहीं लोकमत मात्र और कहीं वेदमत मात्र की रीति वर्ती जाती है। मंदिर के सम्बन्ध मे लोक और वेद दोनों पक्ष की बातें कही जा सकती हैं । वेदमत से यह भाव है कि लंका के राक्षस

गण सभी तामसी भावना से श्री शिवजी एवं (निकुम्भिला) देवी आदि का पूजन करते थे। यदि सात्विक भावना एवं विधि से श्री शिव दुर्गा आदि का जप, आराधन, पूजन आदि किया जाय तो वह परम्परया ज्ञान भक्ति एवं मोक्ष प्रदायक होता है।

शास्त्रानुसार अपने शयन कक्ष से अलग असम्मिलित देवस्थान होना चाहिए और सत्व प्रधान लोगों का होता ही है–

"सबही के सुन्दर मंदिराऽऽजिर राउ रंक न लखि परै।"

"सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिकरचे।"

इत्यादि, परन्तु राक्षसगण तमः प्रधान होने के कारण अपने शयन कक्ष में ही देव स्थापन किये हुए थे और देव स्थापित स्थान मंदिर कहा जाता है। इसी से लंका के राक्षसों के शयन कक्ष को मंदिर कहा–

"मंदिर मंदिर प्रतिकर शोधा। देखे जँह तँह अगनित योधा॥
गयेउ दशानन मंदिर माहीं। अति विचित्र कहि जात सो नाहीं॥
शयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महँ न दीख वैदेही॥

परन्तु महाभागवत श्री विभीषण जी सत्व प्रधान थे। देखिये—

"विभीषणस्तु धर्मात्मा नित्यं धर्मपरः शुचिः।

(वा०रा०में संलग्न ७।१०।६)

इसी से श्री बिभीषणजी के इष्टदेव का स्थान शयन कक्ष ही नहीं, समस्त भवन से अलग था। तभी भवन और मन्दिर अलग-अलग कहा है—

"भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तँह भिन्न बनावा॥"

यह तो हुआ वेदमत से भाव, और लोकमत से यह भाव हुआ कि जहाँ दम्पति (पति और पत्नी दोनों) की स्थिति रहती है, उसे मंदिर शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है और जहाँ पति या पत्नी एक ही हों, उसे गृह भवन आदि कहा जा सकता है, न कि मंदिर।

इसी से गोस्वामी जी ने शायद बालकांड के फुलवारी प्रसंग में एकबार भी गिरिजा मंदिर नहीं कहा। वार-बार प्रसंग आने पर गिरिजागृह' 'भवानी भवन' आदि ही कहा क्यों कि वहाँ शिव जी कि स्थापना होने की कल्पना नहीं की गई है। अकेले भवानी के ही स्थापित होने की कवि कल्पना करता है। ऐसे ही जब चक्रवर्ती दशरथ जी रानियों के सहित महल में पुत्रों की बाल क्रीड़ा देखते हैं तब उसे मंदिर कहा—

नृप मंदिर सुन्दर सब भाँती।" "मंदिर महँ सब राजहिं रानी"

"शोभा दशरथ भवन की को कवि बरनै पार।

"नृप गृह कलश सो इन्दु उदारा।" भूप भवन तेहि अवसर सोहा॥"

आदि श्रीराम जी के बन जाने पर सभी अयोध्यावासी रामहित नेम व्रत करते थे, माताएं नित्य "निजकुल इष्टदेव भगवाना" श्री रंग जी के मंदिर में पूजन, अनुष्ठानादि करती थीं। श्रीभरत जी ने वहीं जाकर रामागमन की सूचना दी थी। यथा—

"पुनि मंदिर महँ बात जनाई',

लंका के सभी राक्षस वीर सपत्नीक अपने शयन कक्षमें (हनुमद् भ्रमण के समय) थे और विभीषण जी उस समय घर में अकेले थे। उनकी पत्नी "शरमा जी" अशोकवाटिका में श्री जानकी जी की सेवा में लगी रहती थीं। इसी से सब राक्षस बीरों के घर को मंदिर कहा और श्री विभीषण जी के घर को भवन कहा गया। इसी से तो—

"अशन शयन वर वसन सुहाये। पावहिं सब निज-निज मन भाये॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन मंदिर भूले॥"

शंका—९

जब सम्पाती ने बतला दिया था कि सीताजी अशोक उपवन में वैठी शोच करती हैं; तब फिर हनुमान जी ने लंका में घर घर क्यों

ढूँढ़ा खोजा ? क्या सम्पाती की बात का विश्वास नहीं था, या उसे भूल गये थे ? यदि कहा जाय कि विभीषण की बताई युक्ति से अशोक वाटिका में सीता जी तक जा सके, तो जिस युक्ति से लंका में घर–घर ढूँढा था उसी युक्ति से फिर अशोक वन में जाकर क्यों नहीं ढूँढा ?

(रामधारीलाल मुख्तार देडरिया)

समाधान

अमरवास महाद्रि ननुद्युतिं ह्यमर नायक शस्त्र नखस्मृतिम् ।
प्रलय पावक लोक विलोचनं नमत वानरराज मिहाद्भुतम् ।।

वास्तु शास्त्रों में उपवन के कई भेद वतलाये गये हैं । उनमें ग्रामोपवन, गृहोपवन दो प्रधान हैं । ग्राम की परिधि (परकोटे–चहरदीवारी) से मिला हुआ ग्राम के बाहर जो सार्वजनिक या राजकीय किंवा वैयक्तिक उपवन हो वह ग्रामोपवन है । और जो घर के एक भाग में स्थित हो और केवल वैयक्तिक हो वह गृहोपवन कहलाता है ।

प्राचीन काल में सार्वजनिक उपवनों, देवमंदिरों, तालाब, बावड़ी, बैठक, दालान अनेक प्रकार के दर्शनीय वृक्ष खंड, अनेक पुष्पलता मंडप, रचित गिरि श्रृंग और लता कुंज आदि होते थे, उन सार्वजनिक उपवनों के भ्रष्ट रूप आज के पार्क हैं । गृहोपवन में लता मंडप, पुष्पोद्यान, लघुवापिका और कुछ दर्शनीय वृक्षादि होते थे । गृहोपवन का भ्रष्ट रूप आज का कम्पाउन्ड (हाता) है । दोनों तरह के उपवनों में कुछ विशिष्ट वृक्ष हुआ करते थे जिनके नाम से उन उपवनों की ख्याति हुआ करती थी । जैसे जिसके चारों ओर आम्र वृक्ष हुआ करते थे वह आम्रोपवन कहलाता था, अथवा रसालोपवन नाम से ख्याति होती थी । जिसके चारों ओर चम्पा के वृक्ष होते थे वह चम्पकोपवन, ऐसे ही जम्बूवन, कदम्बवन, अशोकवन, तालवन,

तमालबन, पनसबन, कदलीवन आदिक कहाते थे । उपवनों में प्रायः लोग अवकाश के समय दिवा मनोरंजन करते थे, विशेष अवसरों पर रात में भी वहाँ रह जाया करते थे ।

उस दिन सम्पाती ने वानरों से केवल अशोक उपवन में सीता जी का वैठना मात्र बतलाया था कि इस समय सीता जी लंका के अशोक वन में बैठी शोक कर रही हैं । परन्तु यह नहीं बतलाया था कि वह अशोक वन कैसा है ग्रामोपवन है कि गृहोपवन है और वह लंका के किस स्थान पर है, किस घर के पास अथवा लंका नगर (बस्ती) के किस दिशा में कितनी दूर स्थित है । लंका में तो अनेकों उपवनों का होना सम्भव है । वह अशोक उपवन कहाँ है यह श्री हनुमान जी को ढूँढ़ना पड़ा था । सम्पाती ने दिन के समय बतलाया था सम्भवतः वह अपरान्ह काल था । सम्पाती के जाने के किंचिद् देर बाद ही हनुमान जी को समुद्र लंघन करना पड़ा था । उस पार पहुँचने में ही सूर्यास्त की बेला आगयी, । रात्रि का समय उपवन में निवास करने का है नहीं, अतः बन्दिनी सीता जी को रावण ने किस घर में वन्द कर रखा है । यह जानने के लिए घर-घर ढूँढना परम आवश्यक था, और रात में ही बातचीत के लिए एकान्त मिलना सम्भव था, क्योंकि श्री राम जी ने आज्ञा दी थी कि—

बहु प्रकार सीतहिं समुझ यहु ।
कहि वल विरह वेगि तुम आयहु ।।

यही कारण था कि श्री हनुमान जी ने—

"मंदिर मंदिर प्रति कर शोधा ।।"

घर घर शोध करने का यही कारण था और न तो सम्पाती जी का वचन भूला था, न तो ही उनके वचन पर अविश्वास ही किया था । यदि विभीषण जी से भेंट न हुई होती, तो भी जिस युक्ति

से नगर में घर घर खोज की थी उसी युक्ति से अशोक उपवन भी ढूँढ़ ही लेते जैसा कि थी वाल्मीकीय रामायण में वर्णित है ।

शंका १२

"हरि मंदिर तँह भिन्न वनावा" रामायुध अंकित गृह ....

जव रावण कहीं पर किसी प्रकार का भी वैदिक कर्म धर्म नहीं होने देता था

जिहि विधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहि वेद प्रतिकूला ।।

"शुभ आचरन कतहुँ नहि होई"

"नहि हरि भक्ति जोग जप ज्ञाना"

ऐसी स्थिति में लंका में हरि मंदिर वह भी रामायुध एवं रामनामांकित ! वह हरि मंदिर क्यों कर सुरक्षित रहा ? रावण ने क्यों नहीं गिरवा दिया, विभीषण को क्यों नहीं बहुविधि त्रास देकर देश निकाला दे दिया ? (राजबहादुरलमगोडा एडवोकेट)

समाधान

जलनिधौ दृढ़ सेतु सुथापकं दसमुखादिकराक्षस त्रासकम् ।
जनविभीषण राज्य विधायकं नमत श्रीरघुराजकिशोरकम् ।।

रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों भाइयों ने एक साथ ही एवं एक समान ही घोर तप किया था—

"कीन्ह विविध तप तीनउँ भाई"

तीनों को अपनी इच्छानुसार वरदान भी साथ ही मिला था—

तिनहि देइ वर ब्रम्ह सिधाये ।
हर्षित ते अपने गृहआये ।।

तीनों को वरदान का फल प्राप्त होने लगा । अब यदि कोई किसी के वरदानानुकूल फल प्राप्ति में विपरीतता या बाधा डालता

तो ब्रम्ह वरदान में मिथ्यात्व आ जाता और जब किसी एक के लिए भी वरदान में मिथ्यात्व आजाता तो तीनों का वरदान मिथ्या हो जाना उचित होता। रावण वरदान के कारण ही सर्व विजयी होता रहा–

वर पायउ कीन्ह्यो सब काजा। जीतेउ लोकपाल सवराजा ॥

यदि रावण कभी भी विभीषण के भजन में बाधा डालता तो उसका जान बूझकर ब्रम्ह–वाक्य का मिथ्या करना होता; और जब विभीषण के लिए ब्रम्ह वरदान मिथ्या हो जाता तो उसी नियम से रावण का वरदान में मिला सारा बल, तेज भी समाप्त हो जाता। इसी अपने वरदान के फल स्वरूप प्राप्त बल तेज की सुरक्षा की दृष्टि से रावण कभी भी विभीषण के भजन, पूजन, भक्ति भाव में आक्षेप करने का साहस नहीं करता था। इसी कारण लंका में खास रावण के महल के ही बगल में स्वतंत्र रूप से राम नाम एवं रामायुधांकित विभीषण का गृह तथा श्री हरिमन्दिर अपनी शान से खड़ा रहा।

शंका–१३

सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन महँ जीभ विचारी ॥

इस उपमा में विभीषण जी की जीभ से और राक्षसों की दाँत से तुलना की गई है। प्राणियों को जीभ तो जन्म से प्राप्त होती है पर दाँत पीछे उगते हैं लेकिन विभीषण जी तो रावण कुम्भ-करण से छोटे हैं अतः इस उपमा की संगति क्या है ?

(पं० हरि प्रसाद शर्मा)

समाधान

सर्व शास्त्रार्थ वेत्तारं धर्मज्ञं रावणानुजम्।
महाभागवतं वंदे राममित्रं विभीषणम् ॥

उपमा या दृष्टान्त उदाहरण का एक अंग ही वाँछनीय हुआ करता है, उपमालंकार में इस तथ्य को कभी भी न भूलना चाहिए। पुनः किसी शब्दोच्चारण के संबधनीय काल विभक्ति बचन लिंग आदि का ध्यान रखना भी परम आवश्यक है। यह जीभ की उपमा देते हुए विभीषण जी भूत या भविष्य काल का प्रयोग न करके वर्तमान 'रहनि' के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ विचारी॥

अतः बुद्धिमत्ता तो इसी में ही है कि विचारी अर्थात् विचार पूर्वक यदि दातों में रहे तो सर्वसुख करते हुये सुरक्षित रहती है; नहीं तो नहीं, पुनः—

बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेइ।

और इसी न्यायानुसार ही समझना उचित होगा कि जब जीभ और दाँत दोनों एक साथ रहते हैं तब दोनों की स्थिति कैसी रहती है, इसी बात पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। क्यों कि लंका रूपी मुख में रावण कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों एक साथ रहते आये हैं। [महामहोपाध्याय श्री शिवलाल जी पाठक अपने मानस मयंक तथा अभिप्राय दीपक में यह भाव लिखते हैं कि अनेक कोमल के बीच एक कठोर रहै तब तो कोमलों की किसी प्रकार रक्षा हो सकती है। परन्तु यहाँ तो अनेक कठोर राक्षसों के बीच एक विभीषण मात्र कोमल जीभ हैं, सब व्यवस्था ही उल्टी है। दातों के बार–बार काटने अहित करने पर भी दाँतों का हित ही करती है इसी प्रकार विभीषण भी रावणादि राक्षसों का हित सदैव करते रहते हैं ।"

रामायणीय इतिहास बताता है कि उस समय केवल तीन राक्षस ही विभीषण से अधिक आयु वाले लंका में थे। माल्यवान (रावण का नाना) रावण और कुम्भकरण थे। अन्य सभी लंका निवासी तत्कालीन राक्षस गण आयु में विभीषण से छोटे ही थे। उनके तीन

बड़ो में भी कुम्भकर्ण और माल्यवान सदैव विभीषण के अनुकूल ही रहते थे अतः वे विभीषण के लिए दाँत की उपमा में नहीं आ सकते । केवल रावण तथा मेघनादादि ही उनके लिए दाँत थे । जिनमें रावण के लिए ही आपकी शंका स्थान पा सकती है क्योंकि वही विभीषण से आयु में बड़ा था तो ऐसा भी देखा जाता है कि किसी-किसी मनुष्य के दाँत गर्भ से ही जमे रहते हैं, जैसे कि स्वयं गोस्वामी जी के थे–

अब देखिय दंत बतीसी जमी । नहिं खोल्हड़ पाँति में नेकुकमी ।।

(बाबा बेणीमाधव दास जी कृत मूल गोसाईं चरित)

पुराणों के मत से सभी राक्षसों के दाँत गर्भ से ही जमे रहते थे । आपकी शंका का समाधान इतने से ही हो जाता है । तो भी दाँत और जीभ के सम्बन्ध में बहुत से भाव कहे जा सकते हैं। परन्तु समय और स्थान का संकोच होने के कारण उनमें कुछ का ही दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है:—

१– जीभ सदैव दाँतों का हित ही चाहती है परन्तु दाँत मौका पड़ने पर जीभको काटने से नहीं चूकते–

"तात लात रावन मोहिमारा । कहत परमहित मंत्र विचारा ।।"

"मति अनुरूप कहब हित ताता"

"राम भजे हित नाथ तुम्हारा"

विभीषण जी मान अपमान प्रत्येक अवस्था में रावण का हित ही चाहते थे अपमान में विभीषण द्वारा राबण की हिताकांक्षा–

"तुम पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ।।

सम्मान में हिता कांक्षा—

जौं कृपाल मोहि पूँछहु ताता । मति अनुरूप कहब हित ताता ।।

२– दाँतो की कमाई का रस जिह्वा लेती है । दाँत तो कमाते (वस्तु चबाते) मात्र हैं । रावण ने बड़े यत्न, कष्ट से लंका

की सम्पत्ति को पाया था—

"जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्हि दिये दशमाथ"

"जो सम्पति दशशीश अरपि कर रावण शिवपहँ लीन्हीं"

उस लंका सम्पत्ति के रसग्राही भोक्ता – कल्प पर्यन्त विभीषण ही राज्य कर्त्ता हुए–

'करहु कल्प भरि राज तुम्ह......'

'अविचल राज विभीषण पायो'

३– दाँत स्वयं जीभ को दुखदेते हैं परन्तु सर्वथा जीभ को नष्ट नहीं कर सकते हैं अर्थात् परिश्रम करने पर भी पूरी जीभ नहीं काट सकते परन्तु जीभ दूसरों के द्वारा ही सारे दाँतों को तुड़वा सकती है जैसा कि किसी कवि ने जीभ और दाँत के सम्बाद रूप में कहा है कि—

अरी जीभ तू रहति है निशिदिन हमरे माहिं ।
जो हम किंचित दाब दें तो जरि से कटि जाहि ।।
सुनहु दाँत मैं रहति हूँ निशिदिन तव गण माहिं ।
किंचित कड़वी बोल दूँ, बत्तीसौ झरि जाहिं ।।

(कवि विलास)

रावण के लात मारने पर, प्राणांतक अमोघ शक्ति प्रहार करने पर भी विभीषण का नाश नहीं हुआ। परन्तु विभीषण ने श्रीरामजी के द्वारा ही ससैन्य सपरिवार रावण का समूलोच्छेद करा दिया। संत प्रार्थना करके भगवान से खलों का नाश करा देते हैं—

"तौ लौं न दाप दल्यो दशकंधर-जौं-लों विभीषण लात–न मार्‌यो ।।

',बेगि हनहु खल कहि मुनिगये ।"

" रहा न कोउ कुल रोवनिहारा ।"

४– जीभ बोलती है । दाँत बोलते नहीं, प्रत्युत जो दाँत टेढ़े या तालु में होते हैं वे बोलने से रोकते हैं । राक्षसगण वेद पुराण कहने

से रोकते थे—

"तिहि बहुबिधि त्रासइ देश निकासइ जो कह वेद पुराना"

इसी से तालू के टेढ़े दाँत रूपी राक्षस रावण के द्वारा विभीषण निकाल दिये गये क्योंकि—

'बुध पुरान श्रुति सम्मतबानी।
कही बिभीषन नीति बखानी॥'
'तात लात रावन मोहि मारा।
कहत परम हित मंत्र विचारा॥'

५— दाँत कठोर होते हैं वेदना भाव जानते ही नहीं। ऐसे ही राक्षस गण थे—

'कृपा रहित हिंसक सब पापी।'

जीभ कोमल होती है। दूसरे के दुख में दुखी हो जाना कोमल स्वभाव का लक्षण है। बिभीषण कोमल हृदय के थे, बिभीषण को "अरुण मृदुल सेवक सुखदाता" का सन्देह युद्ध में भी बना रहा—

'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना॥'

चिन्ता रहती थी कि वाण के नोक न गड़ जावे। यही नहीं बल्कि लात मार कर निकाल देने—शत्रुता करने वाले रावण के मारने पर शत्रु रावण की पत्नियों को दुखित विलाप करते देखकर—

रुदन करत देखी सब नारी। भयउ बिभीषन मन दुख भारी॥

'बन्धु दशा बिलोकि दुख कीन्हा……

यह तो कुछ सतर्कानुमोदित समाधान हुए। इसी तरह इसपर अनेकों तरह से बिनोदात्मक समाधान भी किये जा सकते हैं। जिनमें स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती के कुछ मनोरंजक समाधान उद्धृत किये देता हूँ—

१– दाँत और जीभ एक ही मुखमंडल में, संत और असंत एक ही पृथ्वी मंडल में—

'विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना'

'साधु असाधु सुजाति कुजाती'

ऐसे बिभीषण और राक्षस गण भी एक ही लंका में।

२– जीभ विधिवश ही दाँतों के कुसंग में पड़ी हैं—

'विधि बस सुजन कुसंगति परहीं'......

३– मुख में दाँत बहुत, जीभ एक, लंका में खल बहुत, सज्जन विभीषण एक। जैसे जगत में, कलियुग में दुर्जन बहुत, संत कम होते हैं।

'साधवो नहिं सर्वत्र चंदनं न बने-बने।'

४– दाँत लोभी– संग्रही कुछ न कुछ अन्न अपने पास बचा रखने का प्रयत्न करते हैं। यह जीभ को अनुचित लगता है। इससे वह बेचारी परोपकार बुद्धि से उसको निकाल कर दाँतों को गंदा होने व सड़ने से बचाती है। दाँत जितने ही बढ़ते हैं उतनी ही लोभ की वृद्धि होती है। दुर्जन दाँतवत् हैं, जीभको जरा भी लोभ नहीं—

"घीव घनो खाती रहै, तऊ चीकनी नाहिं।"

जीभवत् संत निर्लोभ एवं अनासक्त हैं। विभीषण संत हैं— "तुम सारिखे संत प्रिय मोरे।" बिभीषण सर्वथा निर्लोभी एवं अनासक्त हैं—

'त्यक्त्वा पुत्राँश्च दाराँश्च राघवं शरणं गतः।'

(वा० रा० ६।१७।१६)

'परित्यक्ता मया लंका मित्राणि च धनानि च'

(वा० रा० ६।१९।५)

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥

करत राज लंका शठ त्यागा ॥

५–दाँत देखने में शुभ्र—सात्विक से लगते हैं पर कठिन कठोर एवं, दम्भी होते हैं और जीभलाल रजोगुणी सी मालूम पड़ती है पर बहुत कोमल मृदु है वैसे राक्षस वेष बदलकर एवं दुर्जन गण दंभी होते हैं देखने में सफेद पोश,पर दम्भी, दुष्ट कठोर, परपीड़क होते हैं और संत देखने में व्यवहारी–संग्रही पर परम त्यागी, कोमलचित्त । लंका में बिभीषण देखने में, वि (बड़े) भीषण (भयंकर) आकृति के पर, परम सन्त ।

६–दातों में नम्रता—विनय स्वभाव से ही नहीं–"टुटै तो टुटै नवै नहि कबहीं" वैसे राक्षस दुर्जन अहंकार गर्व–मद से चूर, विनय नम्रता लेशमास भी नहीं और जीभवत् संत बिभीषण सदा विनम्र कोमल उपकारी ॥"

'मंद करत जो करइ भलाई'

७–दाँत जड़ हैं अपना भला बुरा भक्ष्य अभक्ष्य, योग्य–अयोग्य, कार्य–अकार्य कुछ भी नहीं जानते जो कुछ मिले उसे पीसकर पंकवत् कर देना सहज स्वभाव है । यही बात दुर्जनों–राक्षसों में भी है, पर जीभ चेतन है, रसज्ञ है, अन्न को सरस बनाकर उदर को देती है । अपने पास कुछ भी नहीं रखती । मुख के विभिन्न भागों से बैखरी बाणी प्रगट करती है । वैसे हरिभक्त संत रसज्ञ होते हैं—

'हरिपद रति रस बेद बखाना ।'

वे भगवान के नाम, गुण, लीला, धामादि का गान करते हैं । लंका में बिभीषण जी—

बिष्णु भक्त बिज्ञान निधाना' थे ॥

८–दाँतों का उदयास्त वार वार (कम से कम दो बार) मुख

रूपी जगत में होता है और गिरने पर तो—

"भूमि परे ते हाड़। ....अरि अशुद्ध............."

होकर फेंक दिये जाते हैं ऐसी ही दशा खलों की होती है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।'

(गी० १६।१९)

जीभ का उदय अस्त मुख के साथ ही होता है । हाँ बोलने की शक्ति लगभग दातों के साथ आती है, और दातों के नष्ट हो जाने पर भी रहती है । जगत के आरम्भ से ही संतों का उदय होता है, और जगत के अन्त तक रहेगा—

नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

पाँच भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी संत अपनी कीर्ति रूपी शरीर से आकल्पांत अजर अमर रहते हैं और (करहु कल्प भरि राज तुम) के अनुसार विभीषण जी तो सशरीर अमर हैं ।

९—दाँत देखने में निर्मल जान पड़ते हैं, पर हैं अति मलिन स्वभाव के, दिन में चाहे जितनी बार साफ करो, पर रात बीतते तक तो दुर्गन्धित और अशुचि ही हो जाते हैं, गिरने पर तो अशुद्ध होते ही हैं वैसे ही—

"लखि सुवेष जग बंचक जेऊ । वेष प्रताप पूजियहिं तेऊ ॥

परन्तु—"उघरे अन्त न होइ निबाहू"

और जीभ भले ही मलीन सी हो पर है पवित्र, वैसे संत भी—

'कियेहु कुबेष साधु सनमानू'

१०—दाँतों के पास तो क्षमा का नाम नहीं उपकार कर्ता जीभ का भी अपकार करते हैं, दुर्जन भी क्षमाहीन हैं—

"वैर अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ।।

और सन्त जीभ के समान परोपकारी हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम तुम्हार सेवक असुरारी ।।
पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगराया ।।

और बिभीषण के लिए तो कहा ही है कि—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ।।

११–जीभ की सहायता के बिना दाँत अपना काम नहीं कर सकते, वैसे विश्व में यदि सन्त न हों तो खल किसकी निन्दा करें और किसे दुख दें । दाँत की सहायता मिले बिना भी जीभ अपना कार्य रसज्ञान वर्णोच्चारण आदि करती ही है, वैसे संत भी खलों का दुःसंग न होने पर ही निर्विघ्न रूप से अधिकाधिक भगवत्—भजन, लोकसेवा, परोपकार करते ही हैं ।

१२–जीभ न हो तो दाँत, दंत, दशन, द्विज आदि अपने नाम का भी उच्चारण करने में असमर्थ हैं । दाँत आदि सभी तवर्गीय शब्द दन्त्य वर्णात्मक हैं । जीभ दाँतों का स्पर्श करती है तभी दंत्य वर्णों का उच्चारण होता है. वैसे ही संतों का अस्तित्व न हो तो दुर्जनों का अभाव ही समझिये । कारण कि दुर्जन और सज्जन शब्द सापेक्ष हैं जैसे रात और दिन । दाँतों का अस्तित्व मिट जाने पर भी जीभ दंत्य वर्णों को छोड़कर अन्य सभी वर्णों का सुगमता से उच्चारण करती है, संत भी दुर्जनों के न रहने पर भगवद्भजन, लोकोपकार अच्छी तरह कर सकते हैं ।

१३–कभी–कभी दाँतों की खलता के कारण मुख और मन भी ऊब जाता है, और ऐसी इच्छा होने लगती है कि ये जल्दी गिरवा दिये जायँ तो अच्छा । खलों से जगत इतना ऊब जाता है कि ब्रह्मा शिवादि तक भगवान् से प्रार्थना करने लगते हैं—

'दुष्ट उदय जग आरत हेतू'
'वेगि हतहु खल कहि मुनि गये।'

जीभ सदा उपकार रत रहती है, उससे मन और मुख कभी नहीं ऊबता, संतों से जगत नहीं ऊबता—

सन्त उदय सन्तत सुखकारी। विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी।।

१४—दाँत ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं इनके दोष, खलता, परापकारिता भी बढ़ते जाते हैं पर जीभ सदा एक रस कोमल रहती है और आयु बृद्धि के साथ सज्जनों की तरह अधिक-अधिक परोपकारक बनती जाती है।

१५—दाँतों की इच्छा होने पर वे जीभ का व्यापार—बाहर निकलना—दर्शन शुद्ध भाषण आदि में बाधा डाल सकते हैं। पर जीभ दातों के दर्शनादि कामों में बाधा नही डाला करती, खल संतों के दर्शन को मना करते हैं, पर संत किसी के कार्य में बाधा नहीं डालते।

१६—खल और दाँतों में शत्रुता, द्वेष भाव स्वाभाविक रहता है—

'वैर अकारन सबकाहू सो'

खल और दाँत कभी भी जीभ की सेवा, उपकारादि नहीं करते परन्तु जीभ एवं संत सदैव ही दाँतों और दुर्जनों तक का उपकार करते ही रहते हैं।

१७—दाँत क्रोधी हैं—दाँत पीसना क्रोध का लक्षण है, क्रोध से अकारण जीभ को काट लेते हैं। जीभ में क्रोध नहीं। खल क्रोध के घर-संत क्रोध रहित।

१८—दूसरों का उपहास करने में दाँत और दुर्जन सदैव अग्रसर रहते हैं पर जीभवत कोमल संत किसी का अपकार उपहास नहीं करते।

१९— दाँत कृतघ्न हैं—आश्रयदाता मुख से ही विमुख हो जाते हैं पर जीभ आश्रयदाता मुख से कभी भी विमुख नहीं होती। इसी तरह खल

भगवद्विमुख रहते हैं, यद्यपि कि भगवत्प्रदत्त अल्प बल से ही बली होते हैं—

'जाके बल लवलेश तें जितेहु चराचर झारि।'

पर संत सदैव भगवत्कृपा के कृतज्ञ रहते हैं।

२०– दाँत द्विज हैं, खल विशेषतः द्विजों (त्रैवर्णिकों) में अधिक होते हैं—

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।

पर सन्त वर्णातीत होते हैं, सभी वर्णों में होते हैं तथा कीर्ति रूप से सदा विद्यमान रहते हैं—दुबारा जन्म नहीं लेना पड़ता।

२१– दाँत जन्मते ही (छोटी उमर से ही) दुर्जनता करने लगते हैं, जिन पयोधरों का दूध चूसते हैं उन्हें भी काटते हैं दुर्जन माता पिता तक को भी दुख देते हैं पर संत तो जीभ की तरह जन्म से ही सद्गुणी होते हैं।

२२– आग में तपाने पर भी दाँतों की कठोरता ज्यों की त्यों बनी रहती है, और जीभ में जन्म ही से कठोंरता नहीं होती है। वैसे ही खल मरते दम तक पराये की हानि ही किया करते हैं तथा संत मरते-मरते भी परोपकार ही करते जाते हैं—

"सुकृत न सुकृती परि हरहिं कपट न कपटी नीच।
मरत सिखावन दै गये गीधराज मारीच ॥ (दोहावली ३४१)

२३– दाँत मन्द हैं जीभ चतुर है, खल राम विमुख होने से—

'होहिं विषय रत मंद मंद तर ॥'

और संत लोग तो—

'चतुर सिरोमनि तेर जगमाहीं। जे मणि लाग सुजतन कराहीं।

२४– दाँतों एवं खलों का स्वभाव सत्संग पाकर भी नहीं बदलता— 'मिटइ न मलिन स्वभाव अभंगू ॥'

पर दाँतों में रहते हुए भी जीभ कभी भी दाँतों का एक भी दुर्गुण नहीं लेती, वैसे ही सन्त भी—

"विधि वश सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं।।'

२५– दाँतों के कारण शरीर में विविध व्याधियाँ पैदा होती हैं परन्तु जीभ उन व्याधियों के निवारण का प्रयत्न करती है, ऐसे जगत को खलों के कारण विविध उत्पात से व्यथित होना पड़ता है। पर संत तो जगत के दुख निर्वाणार्थ स्वदेह तक को समर्पित कर देते हैं—

"भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित नित सह बिपत विशाला।।
सन इव खल पर बन्धन करई। खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई।।

२६– दाँत मुखद्वार पर बैठकर शरीर को भोजन देना बन्द कर देते हैं ऐसे ही खल भी—

"द्विज भोजन मख होम सराधा। सबकै जाइ करहु तुम बाधा।।
क्षुधा छीन बलहीन सुर सहजहिं……

परन्तु जीभ सभी इन्द्रियों को रस पहुँचाती है, संत भी सज्जनों एवं देवताओं को प्रसन्न रखते हैं।

२७– दाँतों एवं खलों का बिनाश उनके अपने दुर्गुणों, पापों से ही होता है—

"निज अध गयउ कुमारग गामी" पर जीभ और संतों का कभी भी अधः पात नहीं होता, संत अविनाशी सद्गति पाते हैं।

(मराठी गूढ़ार्थ चन्द्रिका से साभार)

शंका–१४

श्री हनुमान जी के और विभीषण के प्रसंग मे बताया गया है कि—

जुक्ति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवन सुत बिदा कराई।।
'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहँवा'

कौन सी युक्ति बिभीषण जी ने सुनाई तथा कौन सा रूप

धारण करके हनुमान जी वहाँ गये ?

(पं० मधुसूदन दास शास्त्री)

समाधान

मधुरभाव सुपूरित विग्रहं, कनकपंकज लोल विलोचनम् ।
जनकजा कर ललित मस्तकं, नमत वानरराजमिहाद्भुतम् ।।

सम्भवतः श्रीविभीषणजी ने यही सब युक्तियाँ बतलाई होगी कि अशोक वाटिका में जाने का मार्ग अर्थात् किस रास्ते से एवं कैसे छिपकर जाया जा सकता है, जिससे कि लंकिनी सरीखे किसी पहरेदार या निशिचरी से पुनः मुठभेड़ न हो जाय इत्यादि ।

श्रीहनुमानजी लंका में प्रवेश करते समय छोटे बन्दर के रूप में गये थे, पर लंकिनी को दण्ड देते समय बहुत विशाल (महाकपि) रूप में हो गये थे, और जब लंकिनी ने कहा कि—

'प्रविशि नगर कीजै सब काजा ।'

तब पहले से भी छोटे आकार के बन्दर बन गये थे—

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना । पैठेउ नगर सुमिरि भगवाना ।।

और लंका में घर-घर घूमते-घूमते जब श्रीविभीषणजी का घर देखा तब बानर का अति लघुरूप छोड़कर (मनुष्य) विप्र का रूप धारण कर लिया था—

'विप्र रूप धरि बचन सुनाये ।'

परन्तु जब विभीषणजी से विदा हुए तब पुनः वही अति लघुरूप बना लिया था। जिस रूप से कि लंका में घर-घर श्रीसीताजी का अन्वेषण किया था। और जिस रूप को छोड़कर विप्ररूप लेकर श्री विभीषणजी से मिले थे ।

शंका–१५

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामजी के चरणों को सर्वत्र कमल का विशेषण दिया है। परन्तु लंका में महारानी श्रीसीताजी के ध्यान में उनके शब्दों में भी—

'निज पद नयन दिये मन राम चरन मँह लीन।'

'अनुज समेत गहेउ प्रभु चरना।'

इन उपर्युक्त स्थलों पर श्रीराम चरण को कमल का विशेषण क्यों नहीं दिया ? (पुजारी रामधारीदास जी मटिहानी)

समाधान

श्री रामपद ध्यायन्तीं श्रीरामाभिन्नविग्रहाम्।
स्त्री धर्मान्दिर्शयन्तीं लंकास्थां जानकीं नमः॥

यद्यपि कि नवीन संशोधकों ने सुन्दरकांड के, मनरामचरण मँह लीन, के स्थान पर (मन राम पद कमल लीन) कर दिया है। धर्म शास्त्रों का कहना है कि जब जिस स्त्री का पति परदेश हो वह स्त्री तब तक अर्थात् पति से बियुक्त रहने वाली स्त्री को पति वियोग काल तक के लिए चाहिए कि पति के साथ रहने पर जिन प्रसाधनों का ग्रहण होता रहता है उन—

क्रीड़ा शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं पर-गृहे यानं त्यज्येत्प्रोषितभर्तृका॥

(याज्ञवलिक स्मृति)

स्रग्गंधो क्रीडनं वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्।
भूषणं बाहनं हास्यं त्यज्येत्प्रोषित भर्तृका॥

(काम दर्पण)

पुष्पमाला, इत्र, खेलकूद, रंगीन एवं किनारीदार सारी, छींट आदिक फैसनेबुल वस्त्र, नृत्य, गान, ताम्बूल, स्निग्ध, उत्तेजक भोजन ; (सौभाग्य चिन्हातिरिक्त) गहना, सवारी, हँसना अर्थात मजाक विनोद करना, शरीर का श्रृंगारिक संस्कार, सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होना, दूसरों के घर जाना आदि सर्वथा त्याग दे यहाँ तक कि इनका स्मरण भी न करे। इस धर्म शास्त्रीय शासनानुसार पुष्प एवं सौगंधिक होने से कमल का स्मरण होना प्रोषित पतिका के धर्म व्याघात का कारण होता है। लंका में जानकी जी पति वियुक्ता थीं, वे प्रोषित पतिका वाले सारे नियमों का पालन कर रही थी। उस समय एकान्त में यदि श्रीराम जी के चरणों को कमलवत् चिन्तवन करती तो कमल के पुष्पत्व एवं सौगन्धिकत्व का स्मरण होना अनिवार्य था, जो उनके लिए शास्त्र वर्जित होने से धर्म घातक माना जाता। इसी से वहाँ ग्रन्थकार एवं वक्ताओं ने भी श्री राम जी के चरण के साथ 'कमल' का विशेषण नहीं लगाया।

नवीन संशोधक लोग जो धन बल से प्रतिष्ठा प्राप्त करके उस प्रतिष्ठाजन्य मानस ज्ञान के थोथे अभिमान तथा धन एवं विद्या के गर्व में (धर्मस्य सूक्ष्मामार्गाः) धर्म के सूक्ष्म तत्व को विचार करने का कष्ट न करके 'रामचरण मँह लीन' पाठ को संशोधन के नाम से भाव भ्रष्ट करके 'चरण मँह की जगह' 'पद कमल' बदलते हैं ऐसे ही और भी कितने ही स्थलों पर पाठ परिवर्तन, कितनी चौपाइयों का निष्कासन कितना परिवर्धन आदि किया करते हैं। मानसकार तथा भगवान उन्हें क्षमा करें और सद्बुद्धि प्रदान करें कि वे किसी तरह सुज्ञ पारम्परिक गुरु से मानस सीखकर तब संशोधन जैसा शुभ कार्य करें, अन्यथा उनकी कलम कुल्हाड़े का ही कार्य करती रहेगी और ऐसे लोगों से मानस को वैसे ही भय होता रहेगा जैसे कि—

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥

(महा भारत)

शंका–१६

श्री हनुमन्त लाल जी तरुपल्लव में लुके हैं और उसी अवसर पर रावण आकर अतिनीच बचन, यहाँ तक कहता है कि—

'एक वार विलोकु मम ओरा ।'
कटिहौं तव शिर कठिन कृपाना ॥

मास दिवस महँ कहा न माना । तो मैं मारब काढ़ि कृपाना ॥
सीतहि त्रास दिखावहीं धरहिं रूप बहु मंद ॥

उपर्युक्त व्यवहार तक तरुपल्लव की ओट में श्री हनुमान जी देख रहे हैं फिर भी चुपचाप क्यों सहन करते जाते हैं ? श्री अंगद जी के प्रसंग में तो यह कहा है कि—

जबतिहि कीन्ह राम कइ निन्दा । क्रोधवन्त तब भयउ कपिंदा ।
हरि हर निन्दा सुनइ जो काना । होइ पाप गोघात समाना ।

तब श्री हनुमन्त लाल जी का यहाँ क्या मंतब्य है, जो चुपचाप श्री जानकी जी की निन्दा सुनते रह गये और रावण का प्रतिबाद नहीं किया–दंड नहीं दिया ?

(सेठ श्री निवासदास पोद्दार कलकत्ता)

समाधान

कपिपतिं परमार्तिविनाशनं जनकजाविरहानलनाशनम् ।
परमनीतिविशारदमुग्रकं नमत वानरराजमिहाद्भुतम् ॥

समाधान के प्रथम यह समझ लेना चाहिए कि निन्दा किसे कहा जाता है । किसी के परोक्ष में उसपर मिथ्या दोषारोपण करने का नाम निन्दा है और समक्ष में दोषारोपण करने का नाम गाली है । इसी तरह समक्ष में मिथ्या गुणानुवाद का नामवादचंचु–चापलूसी है और परोक्ष में इसी का नाम अत्युक्त्यात्मक मिथ्या प्रसंशा है । जैसे आपके परोक्ष में कोई कहे कि आप तो मिथ्यावादी व्यभिचारी, परमकृपण,

ढोंगी, नास्तिक आदि हैं। यदि वे सब दुर्गुण आप में हैं तब तो निन्दा नहीं हुई, यदि वे दुर्गुण आपमें नहीं हैं तो निन्दा हुई। परन्तु आपके प्रत्यक्ष में आपसे ही वैसा कहना (दुर्गुण न होने पर) गाली हुई। इसी तरह यदि कोई कहे कि आप परम भगवद्भक्त, बड़े उदार, धर्मात्मा, दयालु, सदाचारी आदि हैं। यदि ये सब शुभ लक्षण आपमें नहीं हैं तो सामने (आपके मुह पर) कहना वादचंचु (चापलूसी) हुई। और परोक्ष में मिथ्या प्रसंशा अर्थवाद हुआ।

किसी की निन्दा करना एवं सुनना पाप कहा गया है और भगवद्भागवत् की निन्दा तो—

"हरि हर निन्दा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥"

सुनने वाला यह नहीं जान सकता कि अमुक व्यक्ति में जो दोष वर्णन किया जा रहा है वह दोष सत्य है या मिथ्या निन्दा? इससे कभी किसी की बुराई सुनै ही नहीं और किसी के सच्चे दोषों का कथन श्रवण इससे नहीं करना चाहिए कि मानसिक जगत पर उसका बहुत बुरा संस्कार पड़ जाने के कारण शनैः शनैः अपनी ही आत्मा का अपमान होना है। अस्तु—

रावण ने श्रीराम जी के परोक्ष में श्रीरामजी पर मिथ्यारोपण किया था कि ये निर्बल हैं, डरपोक हैं, मूर्ख हैं, अनादृत हैं, निष्काषित हैं, आदि ऐसे हैं, वैसे हैं—

'बल प्रताप बुधि तेज न ताके'

अगुन अमान जानि तिहि दीन्ह पिता बनवास।
सो दुख अरु युवती विरह पुनि निशिदिन मम त्रास॥
जिनके बल कर गर्व तोहि ऐसे मनुज अनेक।
खाहि निशाचर दिवस निशि मूढ़ समुझु तजि टेक॥

इस प्रकार श्रीराम जी के परोक्ष में—

'जाब तिहि कीन्ह राम कइ निन्दा'

तो इस प्रकार की निन्दा सुनते ही—

'क्रोधवन्त तब भयउ कपिन्दा'

और वही रावण जब समराँगण में श्रीराम जी को—

आजु करौं खलु काल हवाले

आदि दुर्वचन (गाली) बकता था तब साथ में रहते हुए भी अंगद जी ने कोप इसलिए नहीं किया कि रावण का प्रत्युत्तर करने के लिए उसके सम्मुख ही श्रीरामजी उपस्थित थे।

इसी तरह अशोक बाटिका में भी समझना चाहिए। अर्थात् रावण जो कुछ कह रहा है वह श्रीसीता जी के समक्ष और उन्ही से कह रहा है अतः वह निन्दा नहीं हुई और उसका प्रत्युत्तर भी श्रीजानकी जी कर रही हैं। दूसरे श्री हनुमान जी उसी पेड़ के पल्लव में छिपे बैठे हैं जिसके ठीक नीचे श्री जानकी जी बैठी हैं और रावण दूर से बातें कर रहा है। तभी तो—

सुनत बचन पुनि मारन धावा

पास होता तो वार कर देता दौड़ता नहीं। उस समय बीच में ही मंदोदरी रावण को यदि न पकड़ लिए होती तो रावण सीता जी के समीप पहुँच जाता तब पवन नन्दन चुप न बैठे रहते रक्षा करते ही 'ज्ञानिनां अग्रगण्य' से यह अबिदित नहीं कि—

सहसा न विदधीत क्रियाम्

(किरातार्जुनीयम् २।३०।

सहसा करि पाछे पछताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं ॥

दूसरी बात यह भी है कि अंगद को पूर्णाधिकार देकर भेजा गया था कि—

काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ।।

परन्तु श्रीहनुमान जी को उनके अधिनायक ने आज्ञा दी थी कि–
'बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु । कहि बल विरह वेगि तुम आयहु ।।

श्री हनुमान जी तो अन्वेषक दूत की स्थिति में थे और अंगद जी प्रतिनिधि (राजदूत) थे अतएव दोनों के दूतत्व में अन्तर था इस लिए दोनों के कार्य में अन्तर होना ही चाहिए ।

तीसरे श्री हनुमान जी जिस श्रेणी के दूत बनाये गये हैं वे इसके कार्य गौरव को खूब समझते हैं ऐसी स्थिति में बिना दूर तक सोच विचार लिए सहसा कर बैठना उचित नहीं ।

इस सम्बन्ध में आदि कवि प्राचेतस् महर्षि ने सुन्दर काण्ड के २/४० के

घातयन्तीह कार्याणि दूतः पंडितमानिनः

इन शब्दों में श्री हनुमान जी का मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है और श्री हनुमान जी को तो सर्वथा निश्चित ही है कि श्री जानकी जी का बिनाश किसी तरह भी हो ही नहीं सकता । उन्हीं के बचनों को पढ़िये । (वा० रा० ५।५५।२५)

त्रयाणां भरतादीनां भ्रातृणांदेवता च या ।
रामस्य च मनः कांता कथं सा विनश्यति ।।

शंका १७

क्या कभी अनहोनी बात भी हो सकती है ? जो श्रीरामजी ने सन्देश भेजा कि चन्द्रमा अब सूर्य हो गये और सीता जी ने चन्द्रमा को अग्नि मय कहा–

'काल निशा सम निशि शशि भानू ।'
'पावक मय शशि श्रवत न आगी ।।'

सुखदेने वाली वस्तु दुख प्रद कैसे ?

(रामचन्द्र लालसामन्त एम० ए० अकबरपुर)

समाधान

नित श्री सीताराम पद बंदौं अति चित चाय।
जाकी कृपा कटाक्ष ते सब अनुकूल सुहाय ॥

कोई वस्तु किसी को सुख या दुख नहीं देती है अपितु अपनी अपनी शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिति के अनुसार एक ही वस्तु किसी को किसी समय सुखप्रद अनुभवित होती है तो वही वस्तु उसी व्यक्ति को किसी समय दुखप्रद ज्ञात होने लगती है इसी तथ्य पर समझ लीजिये कि जिन प्रेमी-प्रेमिकाओं को संयोग काल में चन्द्रमा सुखदाई मालुम पड़ता है उन्हें ही बियोग काल में चन्द्रमा दुखदाई प्रतीत होता है। जैसे सर्प दंशित व्यक्ति को विष रहते तक नीम मीठी लगती है और पित्त प्रबाल्य पर मीठी मिश्री कड़ुई लगने लगती है-

'जे हित रहे करत तेइ पीरा'

शंका-१८

श्रीराम जी का सन्देश सुनाते समय श्री हनुमान जी ने-
'कहेउ राम त्रियोग तव सीता।' से 'जानु प्रीति रस इतनेहि माहीं ॥'

तक जो कुछ कहा उससे सभी भोगों के विपरीतता की बात संकेत से कही गयी है ऐसा ज्ञात होता है तो क्या श्रीराम जी प्रथम मद्य मांस भी सेवन करते थे ? जैसा कि वाल्मीकी के निम्नलिखि श्लोक से ज्ञात होता है-

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधुसेवते।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पंचमम् ॥

(वा०रा०५।३६।४१)

इसका अर्थ एक हिन्दी टीकाकार ने ऐसा लिखा है कि आपके वियोग में श्रीरामजी न तो मांस ही खाते हैं और न मधु (मद्य) ही पीते हैं वल्कि बन के मिले फूल मूलादि ही खाते हैं, मांस और मद्य छोड़ दिये हैं। (डा० राजेन्द्र प्रसाद सिनहा)

समाधान

साकेते स्वर्णपीठे मणिगणखचिते कल्पवृक्षस्यमूले।
नानारत्नौघपुंजे कुसुमितविपिने नेत्रजास्वच्छकूले ॥
जानक्याङ्के रमन्तं नृपनयकुशलं मंत्रजाप्यैकमिष्ठं।
रामं लोकाभिरामं निर्जहृदिकमले भासयन्तं भजेऽहम् ॥

यह तो सभी लोग एक स्वर से कहते हैं और मानते आये हैं कि श्री राम जी ने कभी भी असत्य भाषण नहीं ही किया है उन्होंने स्वयं ही अनेकों वार कहा है कि–

'सखा वचन मम मृषा न होई।' 'मृषन कहउँ मोर यह बाना ॥'

द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामोद्विर्नाभिभाषते ॥
(राम तत्वार्णव)

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामोद्विर्नाभिभाषते ॥
[वा०रा० २।१८।३०)

जब श्रीरामजी बन जाने लगे तो माता श्री कौशल्या जी के आगे प्रतिज्ञा की थी कि–

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कंदमूल फलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥
(वा० रा० २।२०।२९)

विदा होते समय पिता श्री दशरथ जी के सामने भी प्रतिज्ञा की थी—

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने,
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि ।
वनं प्रविश्येव विचित्रपादपं,
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥

(वा० रा० २।३४।५९)

पुनः प्रयाग में महर्षि भरद्वाज जी के आश्रम में जहाँ पर कि—

मुनि समाज अरु तीरथ राजू । साँचिहु शपथ अघाइ अकाजू ।

वहाँ भी श्री राम जी ने प्रतिज्ञा की थी कि—

धर्ममेवाचरिण्यामस्तत्र मूलफलाशनाः

(वा० रा० २।५४।१६)

उपर्युक्त तीनों वार की प्रतिज्ञा में यही कहा है कि चौदह वर्ष पर्यन्त केवल मूल फल आदि खाकर ही मुनियों की तरह रहूँगा—

भूमि शयन बल्कल वसन, अशन कंद फल मूल ।
'वरस चारिदस विपिन वसि मुनि ब्रत वेष अहार ॥'

"हित्वा मुनि वदामिषम्" में आमिष शब्द से प्राणिमांस का ग्रहण करके कुचोद्य किया जाता है कि वनवास के पूर्व ; पश्चात् श्री राम जी मांस खाते रहे होंगे तभी तो "हित्वा" कह रहे हैं । उस श्लोक की टीका करते हुए शिरोमणिकार लिखते हैं कि—

"आमिषं राज्यभोग्यवस्तु हित्वा" आमिष शब्दः भोगवस्त्वर्थकः

'आकपर्णेपि पुंसि स्यादामिषं पुं नपुंसकम्'
भोग्यवस्तुनि संभोगेऽप्युत्कोचे पललेऽपिच ॥ मेदिनीकोश

आमिष की व्याख्या करते हुए (सरोजसुन्दरकार ने लिखा है ।

प्राण्यंगचूर्णं चर्माम्बुजम्बीरें बीजपूरकम्
अयज्ञशिष्टमाषादि यद्विष्णोरनिवेदितम् ॥
दग्घमन्नं मसूरं च मांसं चेत्याष्टचाऽऽमिषम्
(सरोज सुन्दर)

गोछागी महिषी क्षीरादन्यां दुग्ध तु ह्यामिषम् ॥८॥
धान्ये मसूरिका प्रोक्ता अन्नं पर्युसितं तथा ।
द्विजक्रीतरसाः सर्वे लवणं भूमिजं तथा ॥९।
ताम्रपात्रस्थितं गव्यं जलं पल्वलसस्थितम् ।
आत्मार्थं पाचितं चान्नमामिषं तत्स्मृतं बुधैः ॥१०।
(पद्मपुराण उत्तर खण्ड अध्याय ९४ श्लोक ८, ९ १०)

जयद्रथ ने जब द्रोपदी का हरण किया था तब अर्जुन नें भीम से कहा था कि प्रधान शत्रु जयद्रथ को खोजो उसके बिना सैनिकों से लड़ना तो "अनामिषमिदंकर्म०" (महाभारत वन पर्व अ०.२७० श्लो० ३८) यहाँ प्रयोजन सिद्धि को आमिष कहा गया है । उपर्युक्त वर्जित वस्तुओं में से कितनी ही वस्तुएं कारण विशेष से राजाओं के यहां गृहीत हो सकती हैं. परन्तु मुनियों के यहाँ आपत्तिकाल (औषधादि के रूप में भी उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता । अतः श्रीराम जी समस्त राजभोगों को चौदहवर्षों तक मुनिवत न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा माता के सामने करते हैं । तब भला बन में माँस प्राणि अंग कैसे खा सकते हैं ? जो कि मनुष्य मात्र के खाने की प्राकृतिक वस्तु ही नहीं है । (देखिये बालकांड का समाधान पृष्ठ १०८ से ११५ तक) वाल्मीकीय रामायण में लगे हुए उत्तर कांड के पढ़ने वाले जानते होंगे कि श्रीराम जी के पूर्वज विकुक्षि आपत्तिकाल में शशा (खरगोश) का मांस खा लेने के कारण सौ वर्ष तक राज्याच्युत रहे और प्रायश्चित स्वरूप सौ

वर्ष तक घोर तप करके तब राज्य पाये एवं शशाद ऐसा निकृष्ट नाम तो उनका आज भी अमर है। श्रीराम जी के दूसरे पूर्वज (शशाद के कई पीढ़ी बाद) वीर्यसह की कथा दी है (उ०का०६५सर्ग में) कि वशिष्ठ वेषधारी राक्षस के कहने पर राजा वीर्यसह ने मांस न बनवाकर मांस की गंध आने वाले पकवान्नों को ही बनवाया तो भी वशिष्ठ जी के शाप से १२ वर्षों तक राजा वीर्यसह को राक्षस होना पड़ा था और कल्माषपाद तो जीवन भर रहे ही।

आज के किसी इतिहासज्ञ से छिपा नहीं है कि श्री राम जी के वंशज हिन्दूपति महाराणा प्रताप सिंह के बच्चे तक वन में रहते हुए भी उपवास करके घास की रोटी खाकर निर्वाह करते थे पर मांस खाने की चर्चा तक नहीं आती, तब भला मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम जी को मांसाहारी कहना कहाँ तक न्याय संगत और धर्म की बात है। अस्तु—

यहां श्री हनुमान जी के कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि श्री राम जी पहले माँस मदिरा का सेवन करते थे। अब आप (सीता जी) के वियोग में त्याग दिये। किन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि जब सीता जी ने पूँछा कि—

कच्चिन्न दीनः सम्भ्रान्तः कार्येषु न मुह्यति।
कच्चित्पुरुष कार्याणि कुरुते नृपतेः सुतः॥
सुखानामुचितो नित्यमसुखनमनूचितः।
दुःखमुत्तरमासाद्य किन्तु रामो न सीदति॥२१॥

धर्मापदेशात्त्यजतः स्वराज्यं मां चाप्यरण्यं नयतः पदातेः। नासीद्व्यथा यस्य नर्मानिशोकः कच्चितस धैर्यं हृदये करोति॥२३॥

इतीव देवी वचनं महार्थम्० ।

(वा०रा०सुन्दर कांड सर्ग ३६)

सारांश यह कि अभूतपूर्व एव अनपेक्षित दुख पाकर अपने कर्म धर्म से क्या श्री राम जी च्युत तो नहीं हो गये ? महारानी जी के इस महार्थ बचन को सुनकर श्री हनुमान जी ने कहा कि देवि ! विपत्ति पड़ने पर तो वह पुरुष अपने कर्म धर्म से भ्रष्ट हो जाता है जो मांस मद्य का सेवन करता है । पर भला श्री राम जी क्यों च्युत होने लगे, वे तो राघव हैं, रघुवंश श्रेष्ठ क्षत्री वीर हैं और—

रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ । मन कुपंथ पग परइ न काऊ ।।

कोई भी असली (वर्णसंकर नहीं) सच्चा क्षत्री कभी भी मद्य मांसादि गर्हित वस्तुओं का सेवन नहीं कर सकता । और—

न मांसं राघवो भुंक्ते न चैव मधुसेवते ।

(वा०रा०५।३६।४१)

जब श्री राम जी कभी भी मद्य मांस का सेवन नहीं करते तब भला वे स्वधर्म कर्म से च्युत क्यों होंगे । शिरोमणिकार इस जिज्ञासित श्लोक का अर्थ करते हैं कि—

राघवः मांसं—सुग्रीवसांसर्गेण वनेऽपि प्राप्त राज्यभोग्यं न भुंक्ते करोति, अतः मधु–क्षौद्रं (ग्राम्य-भाषया शहद) न सेवते ।।

श्री राम जी तो नित्य ही—

वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नातिपंचमम् ।

(वा०रा०५।३६।४१)

अतः श्री राम जी कर्मच्युत नहीं हैं अपितु—

'धृतव्रतो राजसुतो महात्मा तवैवलभायकृतप्रयत्नः ।

(वा०रा०५।३६।४६)

अतएव वाल्मीकि रामायण के पूर्वापर के बिचार से सुस्पष्ट हो जाता है कि श्री राम जी कभी भी मद्य मांसादि का सेवन नहीं करते थे ।

शंका–१९

रावण के नगर में कपड़ा घी, तेल का न रह जाना कैसे सम्भव है ? जो कहा गया है कि—

रहा न नगर बसन घृत तेला । बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला ।।

(रामेश्वर प्रसाद पटरैया)

समाधान

जनकजाऽनलशोकनिवारकं दहनकारकराक्षसपूर्गृहम् ।
निधनकारकरावणसैनिकान्मत बानरराजमिहाद्भूतम् ।।

क– लड़कपन में मुझे भी 'बसन घृत तेला; पर लोगों से अनेकों वेसिर पैर की बातें सुनकर शंका बनी रहती थी विधार्थी जीवन में एक बार सन् १९३४ में मैं जब पाठशालीय अवकाश में कर्वी कालेज से अपने एक साथी (जो अपने अन्तिम व्याकरण की पढ़ाई छोड़कर खजुरी ताल पाठशाला में पढ़ाने उसी साल चले गये थे) पं० श्याम सुन्दर चतुर्वेदी शास्त्री के यहाँ (रीवाँ के पास) बघेल खन्ड में पहले पहल गया तो बघेल खंडी भाषा में ,भूलर' शब्द का अर्थ मेढक 'दर्दुर' सुनकर राजर्षि श्री रघुराज सिंह जी की भक्तमाल की एक पंक्ति का अर्थ समझ मे आगया और 'रहा' शब्द का प्रयोग 'खलिहान, कोठार, कोड़ार और खेत आदि के अर्थ में ही प्रयुक्त होते देखकर इस जिज्ञासित पंक्ति का एक अर्थ लग गया ।

हिन्दी मे प्रायः विनुपस्थाविनुरस्र अजन्त प्रातिपदिक के अन्त में 'न' प्रत्यय जोड़ देने से वह शब्द बहुवचनान्त बन जाता है जैसे–

देवन, सखिन, गुरुन, नारिन, करमन, धरमन, नामन, ऋषिन, भरमन, लोगन, भूपन, दूतन आदि। यद्यपि मानस में ही अन्य कई स्थलों पर 'रहा' शब्द 'रहना' 'उपस्थित का बोधक है परन्तु यहाँ रहा शब्द खलिहान, कोठार, कोंड़ार, खेत आदि के ही अर्थ में प्रयुक्त होना उपयुक्त युक्ति संगत ज्ञात होता है। अस्तु

एक बचन 'रहा' के अन्त में 'न' प्रत्यय के जोड़ देने से 'रहान' बहुवचनान्त शब्द बन जाता है अतः चौपाई का अर्थ ऐसा हुआ कि जब रावण की आज्ञा से—वेष्टंते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः॥ (वा०रा० सु०का० २६/६)

वसन वटोरि खोरि खोरि धाइतमीचर,
तेल वोरि वोरि आइ बाँधत लंगूर हैं।
(क०व०५।३)

अर्थात् कोई तो गली कूचों में पड़े हुए चिथड़ों को बटोरने में लगे हुए हैं और कोई घी लाने लगे, कोई तेल। तब 'रहान' अर्थात् बस्ती से बाहर किसानों के काम करते के स्थानों, कोठारों, खेतों, कोडारों, खलिहानों में काम करने बाले लोग और नगर के वे अन्य लोग जो दरबार की इस बात से अनभिज्ञ थे, उन्हीं लोगों के द्वारा राजकर्मचारियों से 'रहान' खेतों खलिहानों कोठारों में और नगर में 'बसन घृत तेला' की पूँछ बढ़ी अर्थात् वे सभी लोग आश्चर्य चकित होकर—

'एक एक सन पूँछहिं धाई'

कि यह सब क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? कि प्रत्येक सरकारी कर्मचारी–सिपाही चीथड़ों और घी तेल के बटोरने में आज व्यस्त हैं। तब उन वसन चीथड़ों घी तेल के संग्रह करने वालों ने बताया कि "कीन्ह कपि खेला" अर्थात् राजसभा में आज एक बिचित्र

बानर के साथ खेल का आयोजन किया गया है। [किसी को इस तरह जला देना राक्षसों के लिए तो खेल ही है–

'चौरी को मरन खेल बालकन को सोहै'

(हनुमान बाहुक)

बस फिर क्या बात थी ऐसे अमानुषिक खेल का नाम सुनते ही–

कौतुक कँह आये पुरवासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ॥

और जिनको बन्दर की पूर्व कथा अर्थात् बाटिका विध्वंसन, अक्षबध, सैन्य संहार, बानर वंध आदि मालूम था वे आकर पहले से ही डट गये थे—

"कपि वंधन सुनि निशिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये ॥

रावण के नगर में वस्त्र घी तेल नहीं रह गया ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं क्यों कि स्वयं गोस्वामी जी ने ही लंका जलते समय घराऊ वस्त्र का होना बताते हैं देखिये कवितावली–

"वसन विसारें मणि भूषण सँभारत न० ॥१०॥

"सब असगाब डौंढ़ मै न काढ़ै तें न काढ़ै०॥१२॥

"छूटै वार बसन उधारे० ॥१५॥

[बघेल खंडी भाषा का मानस में होना आश्चर्य नहीं है। भारतीय अनेक खंडों की प्रचलित भाषाएं श्री रामचरित मानस में हैं। पचासों विभिन्न प्रान्तीय शब्द मुझे मानस में मिल चुके हैं जो कि तत्तदर्थों में ही व्यवहृत होते हैं। बघेल खंड की बोलचाल की भाषा में पान (तम्बूल, नाग वल्ली) के अर्थ में 'बेन' शब्द व्यवहृत होता है कि नहीं मैं यह निश्चित रूप से नहीं जानता परन्तु बघेल खंडी हिन्दी कोश में ये 'बेन' शब्द पान के पर्याय में व्यबहृत होताा है, ऐसा मैंने पढ़ा है। पान की लता में कभी भी फूल फल नहीं आता है इससे निश्चय होता है कि पान के ही अर्थ में लिखा गया है कि

'फूलै फलै' न वेंत यदापि सुधा बरसहिं जलद । विवरण लंका कांड में दिया गया है । अस्तु इसी तरह के और भी कितने ही शब्द हैं।

ख–पूँछ प्रज्वलित करने की क्रिया दरवार में की जाती थी अतः दरवार में पूँछ जलाने के लिए जो कुछ भी नगर से वस्त्र, तेल, घी आया था वह सवका सब श्री हनुमान जी की पूँछ में खप गया अर्थात् श्री हनुमान जी कीं इतनी पूँछ बढ़ गई कि जो खोरि, खोरि गली गली से चिथड़े बटोरकर आये थे उन चिथड़े को वोरने के लिए जितना घी तेल नगर से आया था उसमें से विल्कुल रंच मात्र भी नहीं रह गया श्री हनुमान जी ने खेल पूर्वक–खेल करके पूँछ बढ़ाते गये कि सब खप गया कुछ न रहा । स्मरण रहे कि यदि श्री हनुमान जी एक वार में हीं झटपट सहसा अपनी पूछ बढ़ा देते तो सभी राक्षस चौकन्ने हो जाते, जैसे कि पूँछ में आग लगते ही शिर को छोटा करके बंधे हुए फँदे से शिर निबका लिया और गरज कर विशाल हो गये तब प्रायः सभी चौकन्ने होकर कहने लगे कि—

'वानर रूप घरे सुर कोई'

ऐसे ही घी तेल में भिगाया वस्त्र (चिथड़े) लपेटते समय यदि एकदम से पूँछ बढ़ा देते तो सभी वस्त्र बाँधने वाले चौकन्ने हो जाते तब शायद और बात हो जाती । इसी से—

'तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै,
लात के अघात सहैं जी में कहैं कूर है ।।

यह कवितावली में स्पष्ट रूप से श्री गोस्वामी जी ने लिखा है कि (गात को ढ़ीला करके) अर्थात एक दम से ढीला नही कर दिया अपितु "कै, कै शनैः शनैः तात्पर्य यह कि परम कौतुकी कपि श्री हनुमान जी, ज्यों ज्यों ज्यों राक्षसगण वस्त्र लपेटते गये त्यों त्यों धीरे धीरे पूँछ बढ़ाते गये । अन्ततः इतनी पूँछ बढ़ गयी कि नगर से

आया हुआ वसन (चिथड़ा, चिरकुट) घी और तेल सभी समाप्त हो गया परन्तु राक्षसों को पता ही न चला क्यों कि वे तो अपने अपने खेल तथा कपिराज के खेल में और—

मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ।

में मस्त थे इसी से पूँछ का शनैः शनैः बढ़ना और संग्रहीत वसन [चिथड़ों] एवं घी तथा तेल के न रह का जाने कारण न जान सके ।

ग– श्रीशहजाद सिंह वैद्य शाहगंज जौनपुर [उ०प्र०] द्वारा लिखित एवं सं० २०१७ वि० में प्रकाशित मूढ़ गीत सतुआ–तुलसी पराग के पृष्ठ ५५ पर लिखा है कि प्रतिलिपिकार की असावधानी से "रहान" लिख उठा है वास्तविक पाठ "राहन" है । राहन पाठ पर शंका एवं किसी को किसी तरह की उछल कूद मचाने का अवकाश ही नहीं रह जाता ।

शंका २०

लंका में रावण की आज्ञा से किस राक्षस ने हनुमान जी की पूँछ में आग लगाई थी ?

[राघव दास जी रामायणी वृन्दावन]

समाधान

सीता की शोकाग्नि लै श्री हनुमन्त सुजान ।
रावण सम्मुख ही कियो, लंक जराइ मशान ।।

लंका में श्री हनुमान जी की पूछँ में आग स्वयं रावण ने लगाई थी । देखिये आनन्द रामायण सारकांड सर्ग ९—

प्रदीप्तं ना भवत्पुच्छं ततो मारुतिरब्रवीत् ।
यदास्वीय मुखेनायं यजमानोहि रावण ।।१९६।।

बह्निप्रज्वलयेदत्र तदा ज्वाला भविष्यति ।
तन्मारुतिवचः श्रुत्वा ययावग्रे दशाननः ।१९७।
यावतफूत्कारयामास तत्पुच्छानलमाननैः ।
तावत् तच्छिरजैश्मश्रुकूर्चंदिग्धा दशाभवत् ।१९८।
तदा विशंद्भुजैः स्वीयमुखोपरि दशाननः ।
ताडयेद् वह्नि शान्त्यर्थं जहसू राक्षसास्तदा ।१९९।

शंका २१

अनुज समेत गहेउ प्रभु चरना ।

महारानी श्री सीता जी ने भाई लक्ष्मण जी के भी चरण पकडने को हनुमान जी से क्यों कहा ? प्रभु चरण गहना तो उचित है पर अनुज समेत ठीक प्रतीत नहीं होता। आदर्श देवी सीता ने श्री लक्ष्मण जी को प्रणाम क्यों किया ।

(विसाहुलाल मिश्र खोखरा)

समाधान

सम्बंधाखिल सार षड विधिरती रामाभिरामेश्रती:
स्वात्मानन्दस्वरूपसम्प्रतितति: प्रेमाधिकासंततिः ॥
दिव्यानंतकलाकलापकविताकादम्ब कल्पामतिः ।
जाता यस्य कृपाकटाच्छकलया त्राता स लक्ष्मणः ॥

श्री लक्ष्मण जी के सम्बन्ध में वारम्वार लिखा गया है कि–

..........सुमित्रा सीता के दुलारे (वि०प०३७)
'सिय रघुवीरहिं प्राण पियारे'

जोगवहिं प्रभुसिय लषनहिं कैसे । पलक विलोचन गोलक जैसे ।।
सेवहिं लषन सीय रघुवीरहिं । जिमि अबिवेकी पुरुष शरीरहिं ।।

इस परस्पर के जोगवने और सेवने से जाना जाता है कि लषणलाल पर सीता जी का कितना वात्सल्य स्नेह और विश्वास रहा करता है और जैसे माता कौशल्या की दृष्टि में विना लक्ष्मण के अकेले श्रीराम जी अच्छे नहीं लगते–

लाल लोने लखन विनु तुम ललित लागत नाँय [गी०व०

इसी तरह उपासकों की दृष्टि में विना सीता जी के श्रीराम जी अच्छे नहीं लगते और लक्ष्मण जी तो सदैव–

स भ्रातुश्चरणौ गाढ़ं निपीडय रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ।।

(वा९रा०२/३१/२)

सीतासमक्षं काकुत्समिदं बचनमब्रवीत् ।।

(वा०रा० ३।१५।६)

इस समय श्रीराम जी प्रत्यक्षतः विना श्री सीताजी के हैं । अतः जब श्रीराम जी अपने अनुज [लषनलाल] के सहित हों तब मेरी ओर से प्रभु का चरण पकड कर मेरी विपत्ति गाथा कहना अर्थात् जैसे श्रीराम जी ने एकान्त में तुम [हनुमान] से मेरे लिये सन्देश कहा था जिसे कि तुम स्वयं कह रहे हो—

नहिं विसरति वह लगन कान की । (गी०व०)

वैसे एकान्त में मेरा सन्देश मत कहना क्यों कि एकान्त में कहने से कदाचित् श्रीरामजी ढिलाई भी कर दें परन्तु जब अनुज सहित रहेंगे और उस समय श्रीरामजी का चरण पकड़ कर मेरी विपत्ति कथा सुनाओगे तो श्री लषनलाल जी तुरन्त प्रयत्न करेंगे किंचित भी देरी नहीं करेंगे तथा श्रीराम जी को भी शीघ्र प्रेरित

करेंगे। हुआ भी ऐसा ही कि समुद्र तट पर श्रीराम जी के सत्याग्रह वाली देरी को देखकर वह देरी लक्ष्मण जी को सहन नही हुई और कह बैठे कि—

नाथ दैवकर कौंन भरोषा ।
सोषिअ सिन्धु करिय मन रोषा ।।

अतः यहाँ केवल प्रभु का चरण पकड़ना है अनुज का नहीं।

शंका—२२

जारा नगर निमिष इक माहीं ।
एक विभीषण कर गृह नाहीं ।।
अंजनि सुत बलवीर, लंक जराये निमिष मँह ।
जारिय कुमन कुपीर, भक्ति देइ शीतल करिय ।।

लंका जलाते समय मारुति जी ने तो केवल बिभीषण का घर ही बचाया। कुम्भकरण का घर जल गया तो सोया हुआ कुम्भकरण क्यों नही जला ?

[(गोबिन्द राम काश्यप जिला विलासपुर]

समाधान

अंजनि सुत बलबीर, लंका जराये निमिष मँह ।
जारिय कुमति कुपीर, भक्ति देइ शीतल करिय ।।

त्रिकूट पर्वत के ऊपर लंका बसी थी—

"गिरि त्रिकूट ऊपर वस लंका ।'

परन्तु लंका नगर में कुम्भकरण के रहने योग्य विशाल घर एक भी नही था क्यों कि तत्कालीन नाप के अनुसार कुम्भकरण

बारह सौ गज अर्थात् चौबीस सौ हाथ लम्बा और चार सौ हाथ अर्थात् दो सौ गज मोटा था—

धनुःशत परीणाह स षटशतसमुच्छ्रितः ।
रौद्रः शकटचक्राक्षः महापर्वतसन्निभः ॥

(वा०रा० ६। ६५।४१)

इस लिए लंका नगर से दूर एक पर्वत की गुफा में सोया करता था—

प्रतिष्ठमानाः कृच्छ्रेण यत्नात्प्रविविशुर्गुहाम् ।
तां प्रविश्य गुहां रम्यां रत्नकाञ्चन कुट्टिमाम् ॥
ददृशुर्नैर्ऋत व्याघ्राः शयानं भीमविक्रमम् ।

(बा०रा० ६।६०।२६)

कुंभकरण के लिए जो गुफा रावण ने बनवाई थी उसका वर्णन वाल्मीकीय रामायण में संलग्न उत्तर कांड के तेरहवें सर्ग में—

विस्तीर्णं योजनं स्निग्धं ततो द्विगुणमायतम् ॥३॥

है कि वह स्वर्ण एवं स्फटिक–संगमरमर निर्मित गुहा तत्कालीन एक योजन (आज का २१ किलोमीटर चौड़ी एवं ऊँची और दो योजन अर्थात् ४२ किलोमीटर लम्बी थी । श्री हनुमान जी ने लंका नगर मात्र जलाया था नगर से वाहर का स्थान नहीं जलाया था इसी मे अशोक वाटिका, निकुंभिला मन्दिर एवं कुंभकरण की गुफा में वह आग नही पहुँची थीं ।

शंका–२३

भगवती श्री सीता जी ने जो चूड़ामणि श्री राघवेन्द्र सरकार के पास भेजी थी वह उन्हें कहां से मिली थी ?

(पं० रामरक्षित शुक्ल रामायणी)

समाधान

विजुली सम अंग दिपै निशि धौस सुनैन बड़े दल कंजमहाई ।
कान्तित क्रीट सुकुण्डल औ मुसुकानि में शान्ति कृपा दरशाई ।।
वेदन वेद्य सुरामममयी सुख दासन देति 'कुमार' सदाई ।
अति कांतिमती विधि औ हर सेवित रामप्रियैंसुप्रणाम सुहाई ।।

किसी समय जनक जी ने अश्वमेध यज्ञ किया था तब प्रसन्न होकर इन्द्र ने वह सामुद्रिकीय चूड़ामणि जनक जी को भेंट की थी जिसे महरानी सुनैना धारण करती थीं । समधी से भेंट कराई के नेग में वह दिव्य चूड़ामणि सुनैना जी ने दशरथ जी को दी थी । वही चूड़ामणि जब अयोध्या में दशरथ जी ने—

सुन्दर बधुन्ह गोद वैठारी ।

उस समय सीता जी को (मुह दिखाई के रूप में) दी थी। सत्योपाख्यान में है कि—

श्री अयोध्या में नववधू ने प्रथम पाक रंधन किया था तब श्री वशिष्ठ जी के इशारे से दशरथ जी ने वह चूड़ामणि सीता जी को दी थी—

गुरुणा प्रेरितो राजा सीतायै प्रददौ मणिम् ।
इन्द्रेणैव पुरादत्तो यज्ञेचैवाश्वमेधके ।।९।।
सैव चूड़ामणिर्ज्ञेयः सर्व लोकेषु विश्रुतः ।
तं मणि जानकी लब्ध्वा सुस्मिताऽभूद्वरानना ।।१०।।

(सत्योपाख्यान उत्तरार्ध अध्याय १०)

विमुच्य केश पाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ ।

(अध्यात्म रामायण ५।३।५२)

कुछ विस्तृत वर्णन देखिये वाल्मीकीय रामायण सुन्दर कांड—

मणिं दत्वा ततः सीता हनुमंतमथाब्रवीत ।
अभिज्ञानमभि ज्ञातमेतप्राप्रस्य तत्वतः ।३९।१।
मणिं दृष्ट्वा तु रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति (३९।२)
एष निर्यातितः श्रीमान मया ते वारिसंभवः।४०।७
एनं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ ।६५।२४
मणि रत्नमिदं दत्तं वैदेह्या श्वसुरेण मे ।
वधूकाले यथा वद्धमधिकं भूर्घ्नि शोभते ।६६।४।
अयं जलधिसम्भूतो मणिः प्रवर पूजितः ।
यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ।।५।।
इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं यथा तातस्य दर्शनम् ।
अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः ।।६।।
अयं ही शोभते तस्याः प्रियायाः मूध्नि मे मणिः
अद्यास्य दर्शनेनांह प्राप्तां तामिवचिन्तये ।।७।।

संस्कृति में चूड़ा कहते हैं शिखा को इसलिए शिशु के प्रथम बार के शिखा वपन (मुण्डन) को चूड़ाकरण कहा जाता है। और चूड़ा का अपभ्रंश जूड़ा या जूरा है। जूड़ा को बाँधते समय स्त्रियां सारे बालों को समेटकर अनेक रूप से शिर पर बाँधती हैं चूड़ामणि वलयाकृत भूषण होता है जिसे अमीर गरीब सभी स्त्रियाँ अपनी हैसियत के अनुसार रखती हैं। समस्त बालों को समेट कर एक वेणी बना लेती हैं, और चूड़ामणि के भीतर से निकालकर पुनः घुमाकर उसी चूड़ामणि में बालों को बांधकर इच्छानुसार जूड़ा बना लेती हैं तब भी चूड़ामणि को शिखा के ही स्थान पर रखतीं है।

स्त्रियों का एक शिरोभूषण शशि फूल भी होता है जो जूड़ा

से लेकर सीमन्त माँग के ऊपर होता हुआ ललाट पर चन्द्रकशाया चन्द्रिका के नीचे लटकता है । शशिफूल अर्धचन्द्राकार वर्तुल चतुष्कोण आदि अनेक आकार का होता है । अगस्तिमतउत्तरार्ध के भूषणाध्याय में वर्णित है कि जूड़ा के वलयाकृत भूषण को चूड़ामणि अर्धचन्द्राकार जूड़ा के भूषण को लऊन्तक कहते हैं । इनके अतिरिक्त केशपाश से लेकर भौंहों के ऊपर ललाट तक नौ भूषण होते हैं । उनके नाम गर्भक, ललामक, ललन्तिका अर्थात् टिकुली डण्डक पारितथ्य, हंसतिलक, भालपट्ट, चन्द्रक और लम्बक है इनमें डण्डक को ही शशिफूल कहा जाता है । कुछ लोग चूड़ामणि का अर्थ न जानने के कारण शशिफूल को ही चूड़ामणि कह दिया करते हैं । जो ठीक नहीं ।

शिरो मध्यस्थ शिखामात्रे चूड़ा,

चूड़ास्थितो मणिः चूड़ामणिः । इति वाचस्पत्यम् ॥

अनुमान होता है कि एक दिन प्रातःकाल श्रीसीता जी ने गोदावरी में स्नान करके बालों को चूड़ामणि में डालकर शिखास्थान पर बाँधकर बालों को सूखने के लिये छितरा रखा था उसी दिन हरण हो गया । लंका में बालों का संस्कार न होने से उनका एक लट हो गया था ।

कृशतन शीश जटा इक वेणी ।

लंका दहन के बाद जब हनुमान जी ने सहिदानी के रूप में कोई अद्भुत चीज माँगा तो जानकी जी ने अपनी चूड़ामणि अपने जूड़े से निकालकर दिया और कहा कि इसको देखकर श्रीराम जी (त्रयाणाँ संस्मरिष्यति) महर्षि बालमीक ने उस चूड़ामणि को जलधिसम्भव बतलाया है । अर्थात् समुद्र मन्थन के समय सर्पराज बासुकि के मुख से उल्वड़ विष के साथ अनेकों मणियां भी निकल पड़ी थी । बासुकि आदि दिव्य बहुमुखी नागों की यह विशेषता है कि उनकी ममि निकलने पर तुरन्त ही दूसरी मणि उनके मस्तक पर प्रगट हो

जाती है। इसी से वे अपनी पूर्व मणि के लिये व्याकुल नहीं होते। अस्तु वे ही बासुकि की मणियाँ इस चूड़ामणि में जड़ी थी। पाने पर श्रीराम जी ने अपनी जटा में रख लिया था। यद्यपि सभी सर्प मणियों में–

हरइगरल दुख दारिद दहई।

का गुण होता है परन्तु बासुकि के मणि में यह विशेषता है कि वह एक भी मणि जिसके पास रहे उसके पास रहने वाले असंख्य लोगों पर भी किसी प्रकार के भयंकर से भयंकर सर्पों के विष का प्रभाव नहीं पड़ सकता यही कारण है कि मेघनाद के नागपाश में बँधने पर भी किसी बन्दर भालू को सर्पविष का अनुभव नहीं हुआ था।

सारांश—महामहोपाध्याय श्री शिवलाल पाठक मानस मयंककार का सुप्रसिद्ध दोहा है—

द सु प्रेम पयोधि जग, ज क ज्ञान अपार।

जैसे कोमल जल से उत्पन्न जलोपल-बर्फ कठोर होता है वैसे जल संभवमणि भी कठोर है। श्री सीता जी ने सोचा था प्रेम पयोधि श्री सुनैना जी अपनी पुत्री का हरण सुनकर यदि अश्वमेध विजई जनक जी को प्रेरित करके लंका भेजा और जनक ने रावण का नाश किया तो रघुवँश का यश धूमिल हो जायेगा। लंका में माया सीता अर्थात सिन्धु सुता लक्ष्मी गई थीं, और चूड़ामणि लक्ष्मी का भाई हुआ। वह अब तक उनके प्राणों की रक्षा करता रहा। अब पतिदेव की मुद्रिका प्राणों की रक्षा करेगी इससे चूड़ामणि पतिदेव के पास भेज दिया और "साले को पैगम्बर मानो" बकौल श्री गोपाल प्रसाद व्यास के श्रीराम जी ने साले (मणि) को शिर पर जटा में रख लिया। धर्मशास्त्र शिरोमणि, मीमांसा रत्न, श्री विश्वम्भर शास्त्री गौड़ ने लिखा है तभी से रामजी "भूपाल चूड़ामणि' हुए।

लंका से अयोध्या जाते समय श्रीरामजी ने अपनी मुद्रिका लेलिया,

चूड़ामणि श्री सीता जी को वापस कर दिया। चूड़ामणिका गुण प्रभाव मानस के सपेरे पुस्तक में पढ़िये।

शंका–२४

श्री हनुमान जी सीतावेषण करके चूड़ामणि सहिदानी रूप में लाकर भगवान की सेवा में अर्पित करते हुए भगवती श्री सीता जी की विपत्ति पूर्ण करुणावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

मन क्रम वचन चरन अनुरागी।

"सीता कै अति विपति विशाला। बिनहिं कहे भलि दीन दयाल।
कह हनुमन्त विपति प्रभुसोई। जव तब सुमिरन भजन न होई॥

"सरकार! विपत्ति तभी है जव आपका भजन न हो। अतः मन क्रम वचन चरन अनुरागी श्री सीता जी विपत्ति में नहीं हैं" तो क्या सीताहरण से लेकर अग्नि परिशोधन तक की विपत्ति को झेल करके भी श्री जनक नन्दिनी जी विपद ग्रस्ता नहीं थीं? अथवा यह उपर्युक्त प्रसंग भगवत भागवत के मनोविनोदार्थ युक्ति मात्र ही है।

(पं० राम रक्षित शुक्ल रामायणी)

समाधान

लसद्गौरश्यामावनिशमभिरामाववनतां,
परानन्दाकन्दौ नृपतिकुलचंदौ सुमदनौ।
मनोज्ञौमुद्रूपौ रसिकमणिभूपौ भवनुतौ,
सदा सीतारामौ ममहृदिसवामौ बिहरताम्॥

यह प्रसंग भगवद्भागवत के विनोदार्थ युक्ति मात्र नहीं है इसमें वास्तविक तथ्य है। श्री जानकी जी अपने हरण काल से अग्नि परिशोधन काल तक सतत्काल सर्वथा विपत्ति में ही

नहीं थीं विपत्ति तो यदा कदा ही होती थीं, परन्तु वही यदा कदा वाली विपत्ति ही अपने समय तक अति विशाल रूप धारण किये रहती थी अर्थात्— "जब तब सुमिरन भजन न होई" जिह्वा से हरदम सुस्पष्ट भगवन्नामोच्चारण को सुमिरण–स्मरण कहा जाता है और सेवार्थक 'भज' धातु से निष्पन्न भजन शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष शारीरिक सेवा या मानसिक पूजा अथवा ध्यान करना है। श्रीसीताजी मन, कर्म, वचन से श्री राम चरणानुरागिणी हैं। मन से श्रीरामजी का ध्यान पूजा, कर्म से (साथ रहने पर) सेवा और वचन से नाम स्मरण सदैव ही करती रहती हैं—

"नाम पाहरू दिवस निशि ध्यान तुम्हार कपाट।'

परन्तु लंका में जब तब (यदा कदा) जितनी देर तक कभी रावण के कारण और कभी रावण प्रेरित निशाचरियों के कारण तब (आपका) स्मरण एवं ध्यान छूट जाता है। जिससे उतनी देर अति विपत्ति विशाल रहती है।

भगवत् ध्यान स्मरण में लीन अध्यात्म तत्वज्ञ महारथियों, परम भागवतों का अनुभव है कि—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सोऽपि दुःखः महद्भ्रमः।
यदा पुंसो हरेर्नाम विस्मरणं किल जायते॥

(श्री हरि भक्ति रसायन)

हा! हन्त! कहां तो क्षण मात्र के स्मरण–विस्मरण को महत्तम दुःख अनुभव किया जाता था और कहां आज क्षण मात्र भी समुचित रूपेण सुमिरण भजन नहीं हो पाता है—

धन्य हम और धन्य हमारा कलियुग।

शंका–२५

बाबू (डाक्टर) श्याम सुन्दरदास बी०ए० ने लिखा है कि गोस्वामी तुलसीदास जी बाहुपीड़ा से मरे हैं, तो 'हनुमान बाहुक" स्तोत्र से गोस्वामी जी की वाहुपीड़ा बन्द नहीं हुई ? यदि उस स्तोत्र से उनकी बाहुपीड़ा वन्द नहीं हुई तो फिर वह हनुमान बाहुक स्तोत्र दूसरों को लाभप्रद कैसे हो सकता है ?

(राम लखन शरण मुंगेर)

समाधान

पग नूपुर के मणि नील प्रकाश हृदय गुनि दूब मृगी शिशु धावैं ।
मुख मंडल श्री सरसीरुह पैं मधुलोभी शिलीमुख त्यों मडरीवैं ।।
कर कीर "कुमार" जिन्है गुनि जामुन चाहत ज्यों उड़िचोंच चलावैं ।
तिनहू पै कृपा करि खैंचि सुखेलति ऐसी सियामोहिं दर्श दिखावैं ।।

श्री हनुमान बाहुक में इस समय ४४ पद्य मिलते हैं । बम्बई के एक संस्करण में ५९ पद छपे थे, उसमें कवितावली के बहुत से पद्य संग्रहीत थे । एक पुरानी लिखित प्रति में केवल ३१ पद्य देखा था उसमें वे १३ पद्य नही थे जिनमें कि बाहुया अन्य शारीरिक दुःख की चर्चा नहीं है । इससे यह मालूम पड़ता है कि समय–समय पर श्री गोस्वामीपाद कृत श्री हनुमान सम्बन्धी अन्य कवित्तों का संग्रह कर करके प्रेमियों ने श्री हमुमान बाहुक की काफी कलेवर वृद्धि किया है ।

आज प्रायः सर्वमान्य संग्रह ४४ पद्यों का ही है जो कई जगहों से प्रकाशित हुआ है । और मूल, टीका, टिप्पणी, भावादि के रूप में अनेकों संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं । संभवतः जब इस स्तोत्र की कलेवर वृद्धि होने लगी थी उस समय लेखक प्रमाद से अन्त के दो कविता वीच में चले आये और उनका बीच में आना महान अनर्थ का कारण हुआ कि आज के स्वयंभू समालोचक गण समालोचना के नाम पर मनमानी लिख दिया करते हैं उस ग्रन्थ का

अच्छी प्रकार बिना मनन किये ही। जैसे कि हनुमान बाहुक के गलत प्रकाशन के आधार पर गोस्वामी जी का बाहुपीड़ा से व्याकुल होकर मरना मान लिया है। वे समयलोचक महानुभाव इस ग्रंथ का यदि मनन करते तो देखते कि वर्तमान संग्रह के ३५ वें पद्य में गोस्वामी जी ने अपना सर्वथा रोगमुक्त हो जाना स्वीकर किया है। मानस मयंक के टीकाकार बाबू इन्द्रदेव नारायण सिंह ने जो हनुमान बाहुक की टीका निकली थी और बक्सर (विहार) से जो अंग्रेजी टीका निकली है इन दोनों प्रतियों में अन्तिम पद्य वह है जो अन्य प्रतियों में ३५ वाँ पद्य है।

निष्कर्ष यह कि वर्तमान कई संग्रहों में जो ३९ वाँ और ३५ वाँ पद्य है उसे क्रमशः ४३ वाँ और ४४ वाँ कर देने से किसी प्रकार की शंका का स्थान ही नहीं रह जाता। वे पद्य निम्न हैं—

४३-बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि'
मुंह पीर केतुजा कुरोग जातुधान हैं।
राम नाम जप जाग कियो चाहौं सानुराग
काल के से दूत भूत कहा मेरे मान हैं।
सुमिरे सहाय राम लखन आखर दोऊ
जिनके समूह शाके जागत जहान हैं।
तुलसी संभारी ताड़ुका संहारि मारी
वैध बरगद से बनाइ बान बान है ॥४३॥
४४-घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुजोगनि ज्यों
बासर जलद घन घटा धुकि छाई है
बरषत बारि पीर जारिये तवास जस

रोष बिन दोष धूम मूल मलिनाई है
करुना निधान हनुमान महावलवान
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है
खाये हुते तुलसी कुरोग राह राकसनि
केशरी किशोर राखे पीर बरि आई है ॥४४॥

कुछ संत विद्वान रहस्य लोगों का कहना प्रसिद्ध है कि मानसी पंडित राम गुलाम द्विवेदी भी यही क्रम मानते थे और ऐसा मानने में कोई शंका भी नहीं उठ सकती है। सुन्दर कांड श्री हनुमच्चरित्र प्रधान है इसलिये हनुमान स्तोत्र संबंधी समाधान सुन्दर कांड में दिया जाता है।

शंका—२६

तौ परनारि लिलार गोसाईं। तजिय चौथि के चंद की नाईं।

(क) चन्द्रमा कबसे और क्यों कलंकी है।

(ख) भादौं सुदी चौथ का ही चन्द्रमा त्याज्य है या साल भर का ?

(ग) त्याज्य होने का कारण समझाइये कि चौथ का चन्द्रमा ही क्यों त्याज्य है ?

(घ) कोई--कोई स्यमंतक मणि की कथा सुनते हैं, चन्दा देखने के प्रायश्चित में।

चन्द्रमा को त्याज्य बतलाया गया है तो द्वापर के पहले जब स्यमंतक मणि की कथा नहीं थी तब क्या सुनते थे।

[रमेश पटरैया]

समाधान

पूजन पाठ करौं न कछू 'कबों राम को नाउं न लेउँ सबेरे।

धर्म सुकर्म में प्रीति नहीं चित आलस नींद रहै निति घेरे ।
काम औ लोभ के दास बने नित रामकुमार की ओर न हेरे ।
पाप पहार हमार अपार पै आश बसौं मणिपर्वत नेरे ।।

ज्योतिष चन्द्रिका, उद्भट सागर तथा उद्भट सागर की टीका में धर्मशास्त्रीय प्रमाण उद्धृत है कि भादौं मास के (कृष्णा, शुक्ला) दोनों पक्ष की चौथ का चन्द्रमा त्याज्य है—

सिंहादित्ये भाद्रिमासे चतुर्थ्यौंचन्द्रदर्शने ।
मिथ्याभिदूषणं कुर्य्यात्तस्मात्पश्येन्न तं सदा ।।

[ज्योतिष चन्द्रिका]

पंचाननगते भानौ पक्षयोरुभयोरपि ।
चतुर्थ्यांमुदितश्चन्द्रो नेक्षितब्यः कदाचन ।।

[उद्भट सागर तृतीय प्र० ३९० की टिप्पणी प्रमाण धर्म शास्त्रे]

चतुर्थ्यौ भाद्रिमासस्य चन्दचूड़स्य भामिनी ।
दिनद्वयं वर्षमध्ये चतिवक्त्रं न पश्यति ।।

[उद्भट सागर तृ० प्र० ३९० ग]

उद्भट सागर कार तो कह रहे हैं कि पार्वतीजी साल भर में दो दिन भाद्रपद मास की दोनों चौथ को अपने पति भगवान शंकर का मुख नहीं देखतीं, कारण कि भगवान शंकर के मस्तक पर चन्द्रमा रहता है। [शायद भादों मास की दोनों चौथ को भगवान शंकर भी दर्पणादि में अपना मुख नहीं देखते होंगे]

नहि शुद्धेति गृह्ये चतुर्थी चन्द्रचन्द्रिका ।

[वेदान्ताचार्य कृत यादवाभ्युदय महाकाव्य १/२२]

इस श्लोक पर अप्पय दीक्षित की टीका है कि—

सिंहगतचतुर्थ्यां तु शुक्लपक्षे चन्द्रस्य ।

दर्शनंमिथ्याभिदूषणं कुर्यात् तस्मात्पश्येन्न तं तदा ।।

सतयुग में ही भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की चौथ को चन्द्रमा नें अपने गुरु की धर्मपत्नी जुहू (तारा) के साथ बलात्कार करके उसका अपहरण कर लिया था—

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।।

(अथर्ववेद ५/१७/२, ऋ०वे० १०/१०९/२)

यस्माद्भाद्रवतुर्थ्यान्तु गुरुपत्नीक्षतीः कृता ।
तस्मात्तस्मिन्दिने वत्सः पापदृश्योयुगःयुगः ।।

(ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्णजन्म खंड ८१/५३)

और भाद्रमास के ही कृष्णपक्ष की चौथ को अहिल्या के साथ व्यभिचार करने में इन्द्र की सहायता चन्द्रमा ने की थी इससे केवल भाद्रपद मास की दोनों चौथ का चन्द्रमा त्याज्य है अन्य मास का नहीं।

भागवत में लिखा है कि स्यमंतकोपाख्यान पढ़ने सुनने अथबा स्मरण करने से सभी प्रकार के दुःख दुष्कीर्ति और पाप नष्ट होते हैं, तथा सुमंगल और शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु भागवत में (जो कि श्रीकृष्ण कथा का आकर ग्रंथ हैं, केन्द्र हैं उसमें) कहीं भी नहीं लिखा है कि कलंकित चन्द्रदर्शन के दोष परिहारार्थ स्यमंतकोपाख्यान सुना जाय वैसे तो वह कथा सभी पापनाशक है ही—

यस्त्वेतद् भगवत ईश्वरस्यविष्णो,
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च ।
आख्यानं पठति श्रुणोत्यनुस्मरे द्वा,
दुष्कीर्तिदुरतिमपोह्य याति शांतिम् ।।

[भा० १०/५७/४२]

मोर संस्करण ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्ण जन्मखंड अ० ७९—

चतुर्थ्यामुदिश्चन्द्रे भाद्रे मासि सितासिते ।
अदृश्यो नष्ट रूपश्च (श्रूयतांयेन हेतुना) ।६२।

कहीं अन्यत्र से प्रकासित ब्रह्मवैवर्त पुराण से लेकर रामायण की टिप्पणी में वैष्णव धर्म प्ररोचक पं० सूर्यदास जी ने लिखा है कि—

ब्रह्मवैवर्त पुराणे जन्मखंडे ७९ अध्याये—

नष्ट चन्द्रो न दृश्यश्च भाद्रमासिसितासिते ।
चतुर्थ्यां मुदिश्चचन्द्रो परित्यक्तो मनीषिभिः ।१।
चन्द्रस्तारापहरणं कलंकमतिदुष्करम् ।
तस्मैंददाति हे नंद कामतो यदि पश्यति ।२।
अकामत्त नरो दृष्ट्वा मंत्रपूतं जलं पिवेत् ।
तदा शुद्धो भवेत्सद्यो निष्कलंको महीतले ।३।
मत्र— सिंह प्रसेनमवधी सिंहो जाम्बवता हता ।
सुकुमारक मा रोदीः तव ह्येषा स्यमन्तकः ।४।
इतिमत्रेण पूतं च जलं साधुः पिवेद्ध्रुवम् ।।

स्यमंतको पाख्यान इसी द्वापर का होते हुए भी भगवान की सभी लीलाओं के समान यह भी नित्य है पुनः भागवत में तो इस श्वेत वाराह कल्प के अतिरिक्त पाद्म कल्प और (ब्राम्ह) कल्प की भी कथाएं हैं अर्थात् पाद्म और ब्राम्ह कल्प में भी स्यमंतकोपाख्यान का प्रचलित होना कौन आश्चर्य है । किवा इस द्वापरान्त के पूर्व पूर्वकल्कित चन्द्रदर्शन के दोष परिहार का कोई दूसरा साधन रहा होगा ।

❁ ❁ ❁

शंका २७

सचिव मंख ले नभ पथ गयऊ ।

रावण से अपमानित होकर (पद प्रहार के पश्चात्) विभीषण श्रीराम जी के पास चले तो उस समय उनके साथ में मंत्री भी थे। वे मंत्री कौन थे ? क्या रावण के मँत्रियों में से थे। या विभीषण ही के सलाह कार थे ? श्रीरामचन्द्र जी के मिलन प्रसंग में इनका कोई स्थान नहीं पाया जाता है। यही नहीं अपितु मानस में भी इनके विषय में कोई बात नहीं मिलती।

(डा० शान्तीलाल गोपाल चाँपा)

समाधान

एक कर माला शुभ्र स्फटिक सुमणि केर,
एक कर स्वर्ण कुंभ अमृत भरे लिये।
एक वाम कर दिव्य पुस्तक विराजमान,
दूजे वीणा लिये गावें रामयश चित दिये।
रामयश सुनि दृग आँसू ढ़रि भीजे वक्ष,
दशरथ कुमार ध्यान मन में सदा किये।
ऐसी मातु शारदा के बन्दौं पद बार बार,
आइके विराजौ मम वाणी वुद्धि औ हिये॥

आज तक भी राज प्रथा रही आई है कि राजा अपने भाइयो एवं पुत्रों को गुजारा देता रहा है। जिसे वह गुजारेदार स्वेच्छा से वर्तता रहा। सम्भव है कि विभीषण को भी रावण की ओर से गुजारा मिला रहा हो जिसपर कि विभीषण का शासन रहा हो। उसके शासन के लिए विभीषण के चार सचिव थे। जिनका नाम कि वा० रा० युद्ध कांड ३७।७ के अनुसार अनल, शरभ, सम्पति और प्रमति था। वे चारों भक्ति मंत्री छाया के समान विभीषण के साथ लगे रहते थे—

पादयौर्निपपाताथ भक्तैरनुचरैः सह ।

(वां॰रा॰ ६।१९।२)

उनके अनन्य प्रेम के कारण ही बिभीषण ने उन्हें छोड़ा नहीं अपितु लंका त्यागते ही—

सचिव संग लै नभ पथ गयऊ ।"

विभीषण को रावण मानता था, दुलार करता था जिसका विभीषण को गर्व था तभी तो विभीषण ने कहा था—

'तात चरण गहि माँगौ राखहु मोर दुलार'

रावण के दुलार का बहुत बड़ा कारण था वह यह कि रावण तो अधिकतर—

'रणमद मत्त फिरइ जग धावा'

तथा कुंभकरण ६ महीने से पूर्व जाग सकता ही नहीं था और मेघनाद के लिए तो भरी सभा में ही विभीषण जी ने कहा था कि—

न तात ! मंत्रे तब निश्चयोऽसि बालस्त्वमद्याप्यविपक्वबुद्धिः ।।

(वा॰रा॰ यु॰ १५।९)

अर्थात् बेटा अभी तुम कच्ची बुद्धि वाले हो अभी राज्य मंत्रणा में तुम्हारा कोई मूल्य नहीं है। यही दशा सभी रावण के बेटे पोतों की कही जा सकती है अर्थात् उन नवयुवकों को खेलने, खाने, लड़ने भिड़ने मात्र से काम था। मंदोदरी ने कहा था कि—

छोटेऊ बड़ेऊ मेरे पूतऊ अनेरे सब,
साँपन सो खेलैं मेलैं गले क्षुरा धार सों।

(कवितावली सु॰ का॰)

ऐसी दशा में रावण की अनुपस्थिति में लंका का राज विभीषण के ही निरीक्षण में चलना था तभी तो रावण ने कहा था कि—

करत राज लंका शठ त्यागी ।

उस समय माल्यवन्त आदि रावणामात्यों के अतिरिक्त बिभीषण के अपने भी आमात्य रहते थे । उन्हीं अनल, शरभ आदि चारों अपने सचिवों को संग लेकर नभपथ से विभीषण चले गये । अपने मंत्रियों को विभीषण जी साथ इसलिए लेते गये कि उनकी अनुपस्थिति में रावण राज्य नियम में बाध्य होकर उन विभीषण के भक्त अनुचर सचिवों को मार डालता । या कठिन कारागार में वन्द कर देता । इसी कारण विभीषण जी–

सचिव संग लै नभ पथ गयऊ ।

उन सचिबों में रामचरित्र के साथ किसी खास बिशेषता न होने से उनकी चर्चा मानस में नहीं है ।

शंका–२८

जब रावण उत्तम कुल में पैदा होते हुए निश्चर का कर्म करने से निशाचर कहाया तो विभीषण भगवान के भक्त होते हुए और सन्मार्ग पर चलते हुए एवं सत्कर्म करते हुए निशाचर क्यों कहाये ?

(हरिमोहन मझौया वलिया उ०प्र०)

समाधान

जननि जनक गुरु बन्धु हित धन जन सब परिवार ।
सीयराम मय हृदय इमि आवत तरइ कुमार ।।

जब माता–पिता विभिन्न वर्ण या वर्ग के होते हैं तब सन्तान जिस पक्ष में रहती है उसका वही वर्ग या वर्ण अथवा वंश होता है । उदाहरण के लिए महाभारत देखना चाहिए । महर्षि पराशर जी वशिष्ठ जी के पौत्र परम शुद्ध ब्राह्मण थे और योजनगंधा–सत्यवती दासराज केवट की कन्या थी जिसके गर्भ से पराशर के औरस

सेद्वैपायन व्यास का जन्म हुआ। व्यास जी जन्म से ही पराशर के साथ रहे इससे व्यास द्वैपायन कृष्ण ब्राह्मण वंशज माने गये। उन्हीं कैवर्त्त कन्या सत्यवती के गर्भ से क्षत्रिय राजा शन्तनु के औरस से चित्रांगद और विचित्र वीर्य जन्म लेकर पिता के साथ रहने से क्षत्रिय माने गये। क्षत्रिय काशीराज की कन्याओं के गर्भ से ब्राह्मण, व्यास के औरस से धृतराष्ट्र और पांडु जन्म लेकर माता के साथ रहने से क्षत्रिय कहाये। और उसी समय शूद्रा दासी के गर्भ से एवं व्यास के औरस से जन्म लेने वाले माता के साथ रहने से बिदुर शूद्र माने गये। इसी तरह क्षत्राणी कुन्ती, माद्री के गर्भ से तथा देवताओं के औरस से उत्पन्न होने वाले पांडव माता के संग रहने से क्षत्री माने जाते थे। रावण कुंभकरण विभीषणकी माताएं माल्यवान निश्चर की कन्या थी।

माल्यवंत अति जरठ निशांचर, रावनमात पिता मंत्रीवर।

ब्राह्मणोत्तम पुलस्त्य के पुत्र में महर्षि विश्रवा के औरस से होते हुए भी जन्म से माता पक्ष में रहने से रावणादि निशाचर वंश में माने जाते थे। इसी कारण रावणादि वध से राम जी को ब्रह्म हत्यादि नहीं लगी।

शंका—२९

रावण के जीते ही राम ने विभीषण को मिलते ही लंकेश कह करके राज तिलक कैसे कर दिया? क्या जैसे ज्योतिर्मठ के मठाधीश स्वामी 'शान्ता नन्द सरस्वती के शंकराचार्य रहते ही नकली शंकराचार्य श्री कृष्ण बोधाश्रम और स्वरूपानन्द जी बना दिये गये हैं वैसे विभीषण भी नकली लंकेश बना दिये गये थे?

(सुधीर पाण्डेय, गढ़वाल]

समाधान

रामदूत अंजनी तनय, जय कपीश बलधाम ।
करहु कृपा जिहि ते सतत द्रवहिं जानकी राम ।।

सुना है कि वे युद्ध में हार जाने के बाद भी किसी के हठ धर्मी के कारण विद्वान एवं त्यागी तितिक्षु होते हुए भी नकली शंकराचार्य बने घूमते हैं । परन्तु श्रीरामजी ने तो एक वार ऋषियों के सामने और एक वार अपने ताऊ जटायू जी के सामने प्रतिज्ञा की थी कि मैं समस्त राक्षसों अथवा समस्त परिवार सहित रावण को मार डालूँगा ।

क– निशिचर हीन करौं महि भुज उठाइ प्रन कीन्ह ।
ख– जो मैं राम तो कुल सहित कहिय दशानन धाइ ।।

इसी से विभीषण से भेंट होते ही [रावण के जीवित रहते हुए ही] उसे लंकेश कहकर सम्बोधित किया और—

"अस कहि राम तिलक तेहि सारा ।" "जातहिं राम तिलक तेहिं सारा ।।

श्रीराम जी को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में लेशमात्र भी सन्देह नहीं था । रावण तो अन्याय से कुवेर के यक्षों को भगाकर लंकेश बन गया था और श्री शान्तानन्द सरस्वती जी तो अपने गुरु से वैधानिक रूपेण ज्योतिर्मठाधीशत्व और शंकराचार्यत्व पाये हैं ।

शंका ३०

प्रभु तुम्हार कुल गुरु जलधि, कहिहि उपाय विचारि ।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु कपि धारि ।।

श्री विभीषण जी ने समुद्र को सरकार का कुलगुरु किस दृष्टिकोण से कहा ? कुलगुरु बतलाया ही है "गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे"

कुलगुरु समहित माय न बापू ॥

इसका समाधान आप अपने दृष्टिकोण से करने का कष्ट करें।

(परमहंस पाण्डेय आगरा)

समाधान

यद्यपि 'गुरु' शब्द का प्रयोग दीक्षा प्रदाता या ज्ञान तथा विद्या प्रदाता में रूढ़ि हो गया है। परन्तु यही नहीं है इसके अतिरिक्त पूज्य प्रतिष्ठित, सम्मानीय, आदरणीय अदि के लिए भी गुरू शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—

गुरुजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि।

प्राचीन काल से भारतीय सभ्यता रही आई है कि आर्य लोग स्व पूर्वज निर्मित कूपाऽऽराम वृक्ष तटाकादि को अत्यन्त आदर देते आये हैं। पूर्वजों के कीर्ति स्तंभ की रक्षा करते रहे हैं। तभी तो—

ममजनकदोर्दण्ड विजयस्फुरत् कीर्तिस्तम्भः।८

हन्यात्-किं नाङ्गदस्त्वानति परुषरुषा तातकक्षावशिष्टः

(हनुमन्नाटकं अंक ८।४६)

बालि विमल जश भाजन जानी। हतउँ न तोहि अधम अभिमानी॥

[यह उदाहरण तटाकोपजीवन वत है।]

सागर = जलधि तो श्रीराम जी के पूर्वजों सगर पुत्रों से परिवर्द्धित होने से सगर नरेश का कीर्ति स्तम्भ है। इसी से वह सागर नाम से विख्यात है—

येषां स सगरो नाम सागरो येन खनितः।

(वा०रा० १।५।२)

इसी से जलधि का अधिदेवता सगर वंशियों से मान्य है अतः—

प्रभु तुम्हार कुल गुरू जलधि······

कहा गया है।

शंका–३१

'होइ है जव कर कीट अभागा ।'

रावण ने विभीषण को जव का कीट क्यों कहा ? यदि अन्न का ही कीट कहना था तो बढ़िया अन्न चावल, गेहूँ, उरद, अरहर आदि का कीट या मसूर खेसारी (चिपटी: लहरा, तिउरा) अँकरा मटए आदि निकृष्ट अन्न ही का कीट न कहकर सामान्य मध्यम श्रेणी के ही अन्न का कीट क्यों कहा ?

(राजीव लोचनदास रामायणी)

समाधान

अमितकोटिकलानिधिमव्ययं अमितकोटिकटाहविधारकम् ।
अमितदाससुहृदगणसेवितविग्रहं नमत श्रीरघुराजकिशोरकम् ।।

जब सामान्य अन्न नहीं है अपितु यज्ञीय अन्नों में सर्वोत्तम प्रधान अन्न है । किसी कारण विशेष से कीट घुन सभी अन्नों में पड़ जाया करते हैं । शास्त्रों में घुन युक्त अन्न खाने को वर्जित किया गया है । जव के अतिरिक्त प्रायः सभी अन्नों की प्राकृतिक रीति है कि जैसे उनमें घुन पैदा होता है तो उसी समय उसमें काला दाग दिखाई पड़ता है जिससे मालूम पड़ जाता है कि इसमें घुन पैदा हो गया है अतः उसे निकालकर साफ अन्न व्यवहार में लाया जाता है। दूसरे जव से अतिरिक्त अन्य अन्नों में यह नियम नहीं है कि उसके ठीक बीचोवीच में ही कीट घुन पैदा हों किसी में बीच में किसी के अगल बगल में, किसी में किनारे घुन पैदा होते हैं । परन्तु जौ के ठीक बीचो-बीच में घुन पड़ता है और वे बाहर से ज्ञात नहीं होते हैं इसलिए जौ पीसते समय अज्ञात रूप से घुन भी पिस जाते हैं जानबूझकर कोई (राक्षस भी) घुन नहीं पीसते परन्तु जौ में जल्दी (थोड़े-समय) ही पड़े घुन बाहर से दिखाई नहीं देते ज्ञात नहीं होते इसी

लिए जब के साथ घुन भी पिस जाते हैं ऐसी ही लोकोक्ति भी बन गई है।

प्राण शरीर के मध्य संतुलित भाग में रहता है और बाहर से दिखाई नहीं पड़ता तथा किसी कारण से भी शरीर नष्ट होते ही प्राण अनायास ही नष्ट हो जाता है। ऐसी धारणा है। रावण ने सुना है कि श्रीरामजी ने विभीषण के प्रति प्रतिज्ञा की है कि—

जौ समीत आवा शरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई ॥

इसी से रावण कहता है कि राम को तो मैं अवश्य मार डालूँगा ही और जब राम मर जायेंगे तो राम के 'प्राण की नाई' बिभीषण तो स्वयं ही मर जायेगा। अतः जैसे जौ के कीट को कोई जानबूझकर नहीं मारता पीसता प्रत्युत वह जव के साथ ही अज्ञात रूप से पिसकर मर जाता है वही दशा विभीषण की होगी। इसी से कहता है कि—

पुनि कहु कुशल विभीषण केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥
करत राज लंका शठ त्यागा। होइहि जव कर कीट अभागा ॥

इसी प्रकार की चिन्ता श्रीरामजी ने भी की थी कि लक्ष्मण के वियोग में हमारे मर जाने पर—

"गिरि कंदर जै हैं शाखामृग हौं पुनि अनुज संघाती।
होइहै कहा विभीषण की गति रही शोचभरि छाती ॥

(गीतावली)

"रण पर्यो बन्धु विभीषण ही को शोच हृदय अधिकाई (वि०प०)
याम्यामि कालसदनं सहलक्ष्मणेन सीताभरिष्यति भयादरोहेदगेकंधगहे।
याम्यान्ति वानरचमूपतयः स्वदेशान् का वागतिर्भवति चास्यविभीषणस्य ॥

(सूक्तिमंजरी)

शंका–३२

सचिव संग लै नभ पथ गयऊ

विभीषण आकाश मार्ग से रामजी के पास गये। तो क्या आकाश मार्ग से उड़कर गये या कोई यान विमान आदि साथ रहा, और रहा तो उस यँत्र का नाम क्या था ? और वह विभीषण को कैसे और कहां से मिला था ?

(डा०शान्ति लाल गोपाल चाँपा)

समाधान

रामभक्ति मय हृदय शुचि चरित परम रमणीय।
भूप विभीषण लंकपति रामसखा पुजनीय ।।

उसकाल में व्योमयानो की भरमार थी। महर्षि भरद्वाज ने अपने अंशुवोधिनी नामक ग्रंथ में आठ प्रकार के व्योमयानों की चर्चा किया है। वैदिक सम्पति ग्रंथ के अनुसार अंशुबोधिनी के–

शक्तयुद्गमाद्यष्टौ

इस सूत्र पर वृत्ति करते हुये भगवान बोधायन पुरुषोत्तमाचार्य जी ने आठो का नाम भेद वतलाया है कि–

शक्तयुद्गमो भूतवाहौ धूमयानः शिखोद्गमः।
अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मसत्सखः

मानस में भी बतलाया गया है कि–

सती बिलोकेउ योमविमाना। जात चले सुन्दर विधिनाना ,।"

'चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ ।।

'मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकाश'

'नभचढ़ि वरषइ विपुल अंगारा ।:

लंका में अनेक तरह के वायुयान थे। विभीषण के पास भी

व्योमयान का होगा पुराणों में वर्णित है । परन्तु विभीषणजी तो मंत्रिओं को लेकर विमान से इस पार नहीं आये थे । वे तो—

उत्पपात गदापाणिरात्मानं सह पंचमम् ।

[वा० रा००यु०]

सभा से उड़ कर सीधे श्रीरामजी के पास उड़ते हुये ही आये थे । जैसे हनुमान जी बिना किसी यान के उड़कर लंका गये थे और "कपि नभपन्थ उड़ाहिं ।।" विभीषण ने रावण की कही जाने वाली कोई वस्तु साथ नहीं लिया था ।

शंका—३३

जिनके जीवन कर रखवारा । भयउ मृदुलचित सिन्धु विचारा ।

क्या रामजी के लंका पहुँचने के पहिले ही राक्षसगण समुद्र के इस पार नहीं आ सकते थे ? पं० लोचनधर जी

समाधान

गर्व खर्व करि सकुल दलि रावण मारेउ जोय ।
कोल कीश सुर रीक्ष हित नित मम रक्षक सोय ।।

राक्षस समुद्र पार आ सकते थे और यदा कदा आया भी करते थे परन्तु रावण का कहना है कि जबतक राक्षसगण लंका से उसपार नहीं जाते तबतक तो उनका जीवन बचा ही है । समुद्रपार यहाँ [लंका में] आजाने पर तो फिर जब—

घर बैठे अहार बिधि दीन्हा ।

तब तो किसी तरह बचही नहीं सकते, अतः जबतक समुद्र नहीं आने देता तब तक तो किसी तरह कुछ काल के लिये ही सही उनका जीवन रक्षित ही है ।

शंका ३४

काटे पै कदली करै कोटि जतन कौउ सींच।
विनय न मान खगेश सुनु डाँटे पै नव नीच ।।

इस प्रसंग में केला कांटने पर ही फलता है ऐसा कहा गया है तो जिसमें फल लग गया है उसे काटने पर तो वह फिर फलता ही नही है तब ऐसा क्यों कहा? यदि दूसरे अंकुर के बारे में कहा गया हो तो उदाहरण के प्रसंग में विरोध आता है ।

(पीलाजी प्रभुआ खजुरानी, वेलादुआर विलासपुर)

समाधान

मानस राम चरित्र के भीतर भूरि गुणावलि है शुचि सीकी ।
वेदन को शुचि अर्थ अनूपम सोहति दिव्य कथा सिय पी की ।।
सार 'कुमार' धरचो शास्त्रन काव्य पुराणहु से अति नीकी ।
गागर में भर्यो सागर साँच सो लागै लखे कविता तुलसीकी ।।

दोहावली में गोस्वामी जी ने लिखा है कि—

नीच निरादर ही सुखद—आदर सुखद बिशाल ।
कदली बदली विटप मिस पेखहु पनस रसाल ।।

नीच प्राकृति के लोग निरादर करने (डाँटने) पर ही ठीक काम करते हैं उस पर कदली (केला) और बदली (वृक्ष) का दृष्टान्त दिया है। बदली वृक्ष की फली हुई डाली को फल झड़ जाने के वाद विना काटने (कलम कर देने छाँटनें) पर भी फलती तो है परन्तु बदरी वृक्ष की डालियों को फल झड़जाने के बाद डालैं छाँट जाने से उस पेड़ में नई डालियां निकलती हैं तब उनमें रितु आजाने पर पहले की अपेक्षा बड़े-बड़े अधिक सुन्दर और विशेष गूदेदार फक होते हैं।

कदली के एक पिंड से अनेक स्तम्भ निकलते हैं । फले हुए

स्तम्भ की घवरि—फल वृन्त समूह के तना स्तम्भ से अलग हो जाने पर उस फलित स्तम्भ के पिंड से जो दूसरे वृक्षांकुर निकलकर कदली स्तम्भ तैयार होते हैं उनमें तब तक फल नहीं लगता जब तक कि प्रथम फलित स्तम्भ फल रहित होने पर नष्ट नहीं हो जाता।

जंगलों में वह तना स्तम्भ कुछ महीनों बाद स्वयं नष्ट हो जाता है और बगीचों में फल लेकर वह तना स्तम्भ भी पिंड के पास से काट दिया जाता है।

ठीक इसी तथ्य के विपरीत पनस (कटहल) और रसाल (आम्र) की रीति है अर्थात् पनस और आम्र की डालियाँ यदि काट करके कलम कर दी जाय (छिनगादीजांय) तो प्रथम तो उनमें डाली ही न निकलेगी और यदि किसी में कुछ डाली आमी जाये तो उनमें फल ही नहीं लगेंगे।

दृष्टान्त में किंवा उपमा का एक एक ही अंग लिया जाता है। प्रस्तुत दृष्टान्त का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे एक बार कट जाने पर केले के नये स्तम्भ में बढ़िया फल लगते हैं। उसी तरह नीच प्रकृति के लोग सीधे से काम नहीं करते प्रत्युत डांटने (भयदेने) पर ही ठीक तरह पर काम करते हैं। समुद्र नीच प्रकृति का (जड़) है अतः बिना भय दिखाये समुद्र कोई उपाय नहीं बता सकता। एक बार हनुमान जी के लिये काम कर चुका है। इसलिए—

बोले राम सकोप तब मम बिनु होइ न प्रीति।
लक्षिमन बान सरासन आनू शोषौं बारिधि बिशिख कृशानू॥

यही डाँटना—भय दिखाना हुआ जिससे समुद्र ने नयकर काम कर दिया।

शंका—३५

शूद्र और नारी ये दोनों तड़ना—पिटने के अधिकारी क्यों है ?

समाधान

ताड़न का अर्थ हिन्दी शब्द सागर नामक सुप्रसिद्ध कोश में इस तरह दिया है 'ताड़न' मारना प्रहार करना, आघात करना, डाँटडपट करना, घुड़की देना, शासन में रखना, दण्डदेना ।

भ्वादिगण की ताँड तोडने धातु से भाव में ल्युट करने से ताड़न शब्द बनता है जिसका अर्थ अनुशासन में रखना भी होता है वाचस्पत्यम् में इस पर चाणक्य का उदाहरण दिया है–

लालपेत् पञ्च वर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोड़शेवर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ।।

सुभाषित रत्नभांडागार में दिया है कि—

लालने बहवो दोषा ताडने बहवो गुणाः ।
तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत् ।।

इन नीति के श्लोकों में ताड़न का अर्थ शासन करना, डाँटेडपट करना, धुड़की देना आदि है मारना पीटना नहीं । यद्यपि कि–

'आपत ताड़त परुष कहन्ता ।।'
'उर ताडतिबहु भाति पुकारी ।'
'उर ताड़ना करहिं बिधि नाना ।।'

आदि स्थलों पर ताड़ना का अर्थ मारना पीटना ही है। परन्तु आशंकित चौपाई में ताड़न का अर्थ शासन में रखना ही समीचीन है । मानस मणिमे मेंरे उक्त समाधान छपने के लगभग चौबीस वर्ष के बाद मानस पुष्प' वार्षिक पत्रिका के प्रथमांक में सम्वत् २०३५ वि० मे प्रो० श्री रामनिरंजन पाण्डेय हैदराबाद का विस्तृत लेख छपा है। उसमें मेंरे समाधान के अतिरिक्त भी कुछ रोचक समाधान छपा है । इससे मैं प्रो० पाण्डेय जी से अनुमति लेकर वह लेख अविकल रूप से दे रहा हूँ ।

तथा कथित सुधारवादी लोग गोस्वामी तुलसीदास पर प्रायः यह अभियोग लगाते ही रहते हैं कि वे ग्रामीणों, शूद्रों और नारियों के विरोधी है, उन्हें ढोल और पशु के समान ताड़ना के अधिकारी मानते है; पर ऐसा अभियोग लगाने बाले लोग मर्यादावादी महात्मा के शब्दों के गौरवमय रहस्य को नही समझ पाते। महात्मा के मन में किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता। वे यदि किसी के लिए कुछ कहते हैं तो उसमें मर्यादा की स्थापना के लिए ही ऐसा कहते हैं।

ताड़न का अर्थ यदि करारी चोट पहुँचाना होता तो ढोल तो टूट ही जाता। उसका अस्तित्व ही मिट जाता। अतः ढोल के साथ ताड़न का अर्थ है उसे ताड़-ताड़ कर समझ–समझ कर बजाना। ढोल ऐसा बाजा है कि उस पर सब ताल, लय और राग निकाले जा सकते हैं, इसीलिए उसको यह अधिकार प्राप्त है कि उसे समझ–समझ कर बजाया जाव नहीं तो ऐसे सुन्दर वाद्य का अपमान हो जायगा, उसमें से भद्दी ध्वनि निकलने लग जायगी। ताड़न का दूसरा अभिप्राय ढोल के साथ यह है कि जब उसका चमड़ा, रस्सी ढीला पड़ जाने से ढीला पड जाता ही है तो उसे ताड़ने के लिए रस्सी कसी जाती है और ठोक ठाक किया जाता है। चमड़े के मगभग सब वाद्यों के साथ ऐसा किया जाता है। ठोक–ठाक कर, कस कर या गरम करके इन पाद्यों में जो तनाव पैदा किया जाता है वह भी एक प्रकार का ताडन ही है। इतने सब अभिप्राय सूक्ष्मदर्शी गोस्वामी तुलसीदास जी के सदंर्भ में है।

गंवार तो ग्रामीण दोता ही है। उसे जीवन के संयम–नियम का ज्ञान कम रहता है। उसके जीवन को संयत, नियमित तथा अनुशासित बनाने के लिए उमसे कुछ कठोरता उत्पन्न की जाती है। इसमे उसका गौरव बढ़ना है, वह सम्माननीय बनता है। उसके साथ ऐसा इसलिये किया जाता है कि संसार को अन्न और वस्त्र प्रदान करने के लिये वह श्रम करता है; अतः वह गौरव और सम्मान का अधिकारी है। उसे अधिक गौरवमय और अधिक सम्मान के योग्य बनाने के

लिये कठोर अनुशासन में रख कर अनुशासन का अभ्यास कराया जाता है। देश की आबादी का सबसे बड़ा खंड ग्रामीण है। यदि उसे अनुशासन का अभ्यास करा दिया जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्र ही धन्य और मर्यादित वन जायगा। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी का यह अभिप्राय है कि ग्रामीण भोला भाला होता है। वह अपनी आवश्यकताओं को जानता भी नहीं और प्रकट भी नहीं कर सकता। अतः उसकी आवश्यकताओं को "ताड" कर उनकी पूर्ति होती रहनी चाहिए। यदि ऐसा होता रहेगा तभी राष्ट्र सम्पन्न और समृद्ध हो सकेगा।

शूद्र जातियां सेवक जातियाँ हैं। राष्ट्र की सेवा करती हैं। अतः उनको भी यह अधिकार प्राप्त है कि जो लोग उनसे सेवा प्राप्त करते रहते हैं वे उनकी आवश्यकताओं को 'ताडें' क्योंकि उन्हें भी न तो अपनी सब आवश्यकताओं का ज्ञान ही है और न उनमें ऐसी योग्यता ही है कि वे उन आवश्यकताओं को व्यक्त कर सकें। सेवक जातियां भी संख्या में बहुत अधिक हैं। उन्हें भी उपयुक्त ढंग से अनुशासित रखने की आवश्यकता है। इससे भी राष्ट्र अनुशासित होगा।

पशु का भी मनुष्य आभारी है। पशु मनुष्य की इतनी सेवा करता है कि मनुष्य उसके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। अतः पशु की सेवा भी मनुष्य को करनी चाहिए। उसकी खाने पीने की रुचियों को 'ताडना' चाहिए। वह सन्तुष्ट रहेगा, स्वस्थ रहेगा, तो मनुष्य के लिये अधिक अच्छा सेवक हो सकेगा। इसके अतिरिक्त पशु का मूल्य बढ़ाने के लिए उसे भी अनुशासन सिखाना पड़ता है। उसे विभिन्न कार्यों के योग्य बनाना पडता है। अल्प कठोरता का प्रयोग करके पशु को प्रशिक्षण दे देने के बाद उसका मूल्य बढ़ जाता है। वह गौरवान्वित हो जाता है।

नारी भी बडी निष्ठा से, प्रेम से सेवा करती है, त्याग करती उत्सर्ग करती है। उसके इस बलिदान से ही उसे यह अधिकार प्राप्त

है कि उसकी आवश्यकताओं को समझा जाय 'ताडा जाय।' वह संकोच शीला है। अपनी आवश्यकताएँ मांगती नहीं अतः सेवा प्राप्त करने वालों का धर्म है कि ताड कर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें। नारी की प्रकृति कोमल है। उसे स्वार्थी लोग झूठे-झूठे अनुनय-विनय से अपने बश में कर लेते हैं। इसीलिये उसे भी अनुशासन में रहने की आवश्यकता है। यह अनुशासन उसकी रक्षा करता है। यही उसका 'ताडन' है।

'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताडन के अधिकारी।

जब भगवान राम ने समुद्र को सुखा देने के लिए अग्निबाण का सन्धान कर लिया क्योंकि तीन दिन तक प्रार्थना करने के वाद भी समुद्र ने उनको लंका के तट पर सेना ले जाने के लिये मार्ग नहीं दिया था। ऐसा करते ही समुद्र का जल उबलने लगा और समुद्र प्रकट हो गया।

उसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने कहा हैं—

सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे।
छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥
गगन समीर अनल जल धरनी।
इनकइ नाथ सहज जड़ करनी॥

इस क्षमा प्रार्थना में समुद्र ने पाँचों तत्वों का नाम लिया और इनका स्वभाव जड़ बतलाया। जड़ स्वभाव वालों को चेतन स्वभाव वाला अनुशासन में रखता है; क्योंकि जड़ स्वयं अनुशासित रहने के विवेक से वंचित रहता है। इसीलिए जब गगन अनुशासित हुआ तब अपने भीतर सीमित अवकाश रखने वाली गृह इत्यादि वस्तुएँ बनी और ध्वनि क्षेपण से रेडियो इत्यादि वस्तुएँ बन सकी, पवन अनुशासित हुआ तो मनुष्य के शरीर में स्पर्श का अनुभव संभव हुआ

और अनेक स्थितियों में मनुष्य सुरक्षित बना । पवन को अनुशासित करके रबर के पोले पहिए भी कितना कार्य करते हैं । अग्नि के अनुशासित होने से मनुष्य का भोजन बनने के साधन से लेकर कितने और विस्मयजनक कार्य होते है । जल पर प्रभुत्व स्थापित करके मनुष्य उससे कितने कार्य कराता है । धरणी को अपने नियन्त्रण में रख कर मनुष्य उससे अपने लिये कितने कार्य करा लेता है । अतः पाचों जड तत्वों पर अपना शासन स्थापित करके चेतन मनुष्य उनसे कितनी सेवा प्राप्त कर रहा है । इन पांचों तत्वों को ताडने और अनुशासन में लाने के लिये, मनुष्य कितने वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग कर रह है । भूगर्भ की वस्तुओं का पता लगाने के लिये, उनको ताडने के लिए मनुष्य कितने वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग कर रहा है । भूगर्भीय सम्पत्तियों का पता लगाने और कठिनाईयों पर विजय प्राप्त कर उन वस्तुओं को ऊपर लाने के लिये उसने कितने वैज्ञानिक साधन जुटाये हैं । पाँचों तत्वों की जडता के भीतर परम चेतन को प्राप्त करने के लिये आज का मानव भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयत्न सफल प्रयत्न कर रहा है । आकाश तत्व का क्षेपण करके वह चन्द्रना की ढाई लाख मील की दूरी से शब्द के माध्यम से टेलीफोन पर बात कर चुका है । अग्नितत्त्व का क्षेवक्ष करके अमेरिका के रूपकों को उसी क्षण भारत में दूर दर्शन की सहायता से देख सकता है । शेष तीन तत्वों के क्षेपण के प्रयत्न भी हो रहे है । पृथ्वी तत्त्व का क्षेपण करने में मानव सफल हो जायगा तो अमेरिका की सुगंध एक क्षण में ही भारत में अनुभव की जा सकेगी । जलतत्त्व का क्षेपण हो जायगा तो अमेरिका में या चीन में रखी हुई वस्तु का स्वाद भारत में लिया जा सकेगा और यदि पवन तत्व का क्षेपण संभव हो गया तो पांचों तत्वों के क्षेपण के आधार पर रूस से पूरी की पूरी वस्तु एक क्षण में भारत में प्राप्त हो जायगी ; क्योंकि प्रत्येक वस्तु पंच तत्वों की ही बनी हुई हैं । भारतीय

योगी पाँचों तत्वों का क्षेपण कर सकते थे इसीलिए उनका शरीर एक ही क्षण में कई स्थानों पर दिखलायी पड़ जाता था। भगवान राम लंका से लौटे तो एक ही क्षण में सब अयोध्या निवासियों से सशरीर मिले। भगवान श्री कृष्ण इसी योग के आधार पर अपने १६१०८ महलों में एक साथ ही रहते थे ; क्योंकि वे योगेश्वर थे।

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक तत्व के रहस्य को मनुष्य ताड कर अनुशासित कर सकता है और सम्पूर्ण विश्व में उनका प्रयोग कर सकता है। ताडन के दोनों अर्थ इस समग्र जगत में क्रियाशील हो रहे हैं, इसीलिये यह प्रकृति व्यक्त होकर अपना कार्य कितने अद्‌भुत ढंग से कर रही है। छोटा वृक्ष जब ताड जाता है कि मैं बड़े वृक्ष के नीचे हूँ तो ठेढा होकर उस वृक्ष की छाया से बाहर जाने के लिए अपने को अनुशासित करके टेढा हो जाता है। इसीलिए सारा जगत ज्ञान और अनुशासन के सम्मिलित प्रयत्नों से चल रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने ताडन शब्द में इन दोनों अर्थों को बिठाकर शब्द का प्रयोग किया हैं। इसीलिये उनके इस शब्द के अर्थ 'ताडन के अधिकारी' वाली चौपाई में हैं ! ज्ञान और नियन्त्रण के दो अर्थ रखने वाला गोस्वामीजी का ताडन शब्द कितना सार्थक है ढोल, गंवार, शूद्र, पशु और नारी के रहस्यों को ताड कर उन्हें नियन्त्रण में रखा जाय तभी विश्व में मंगल की स्थापना होगी, यही गोस्वामी जी का अभिप्राय है। रहस्यों को ताड लेने के बाद सेवा और नियन्त्रण के कार्य सुखपूर्वक चलते रहते हैं। पशु अपनी सेवा करने वाले का ही अनुशासन मानता है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जड तथा चेतन के साथ इसी नियम का सम्बन्ध है। उनकी प्रकृति को समझ कर जो उनकी सेवा करता है वे उसी के वश में होकर उसकी सेवा करने लगते हैं। गोस्वामीजी के ताडन के अधिकार का इतना बड़ा मंगलमय अर्थ है। अतः जल्दबाजी से तुलसी को समझने का प्रयत्न

करने वाला सदा असफल ही होगा। तुलसी सम्पूर्ण जीवन के रहस्य को जानते थे। राम को जान लेने वाला सब कुछ जान लेता है। उसे कुछ और जानने की बात रह ही नहीं जाती। इसीलिये सर्वज्ञाता तुलसी को समझने के लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता है और कुछ न लिख कर तुलसी केवल 'ताडन के अधिकार' वाली चौपाई ही लिख जाते तो उसे लेकर विश्व मंगल की स्थापना हो जाती और तुलसी अमर हो जाते।

तुलसी के ढोल शब्द में सब कलाएँ गंवार शब्द में विश्व को भोजन और वस्त्र देने वाले सब मानव, शूद्र शब्द में विश्व के समग्र सेवक, पशु शब्द में मनुष्य के अतिरिक्त सब सेवक प्राणी तथा नारी शब्द में विश्व की कोमल सेवा करने वाली तथा उसे गर्भ में धारण करने वाली सब जड-चेतन माताएँ आ जाती हैं। इन सब को समझने, इनकी सेवा करने तथा इन्हें अनुशासन में रखने का विश्वव्यापी महामन्त्र गोस्वामी अपनी ताडन वाली पंक्ति में दे गये हैं। मानस की यह चौपाई सब जड़-चेतन के बीच महामंगलामयी मैत्री-स्थापना का रहस्य है। इस चौपाई के अनुसार चल कर जीवन को सँभाला जाय तो जीवन परम मंगलमय हो जायगा।

मानस की कथाओं के संदर्भ में गोस्वमीजी ने इस पंक्ति में एक और अर्थ की स्थापना की है। उस अभिप्राय को समझने के लिए उस के शब्दों में एक दूसरे प्रकार का क्रम बिठाना होगा। (१) ढोल (२) गंवार शूद्र और (३) पशुनारी। सुन्दर काण्ड के अन्त के समुद्र प्रकरण तक मानस में ढोल, निशान, मृदंग शहनाई इत्यादि सब वाद्य बज चुके हैं। गंवार शूद्र इन्द्र की सभा के गन्धर्व को कबन्ध के रूप मेंदण्ड मिल चुका है तथा ताड़का, शूपणखा, कैकेयी और मन्थरा पशुवत् आचरण करने वाली नारियाँ दण्डित हो चुकी हैं। इन सब के छोटे छोटे अपराध थे। अब लका कांड में महा अपराधी रावण को दण्ड

मिलना है । इस महादण्ड विधान के पूर्व छोटे दण्ड विधानों के उपसंहार के रूप में समुद्र के शब्दों में गोस्वामीजी ने इन घटनाओं को भी संक्षेप में रख दिया है ।

इन्द्र की सभा में गंधर्व गा रहा था । दुर्वासा पहुँचे । वे गान से प्रभावित न हुए । गन्धर्व को अपनी गान विद्या का अभिमान था । ऋषि को कला में जड समझ गधर्व अभिमान और अनादर के भाव से हँसा । ऋषि समझ गये । उन्होंने उसे राक्षस हो जाने का शाप दिया। परम उग्र तपस्वी का अपमान अविवेक के कारण हुआ । बुद्धिहीनता के कारण हुआ । कोई आवश्यक नहीं था कि ज्ञानी ऋषि में संगीत मर्मज्ञता भी हो । बुद्धिहीनता का आचरण, अभिमान का आचरण करने के कारण गन्धर्व बिना सिर का राक्षस बन गया । सिर बुद्धि का स्थान और आत्मगौरव का प्रतीक होता है। दोनों का अभाव हो जाने के कारण वस बिना सिर का होकर दंड भोग चुका भगवान राम का दर्शन और उनके हाथों वध से मुक्ति भी दुर्वासा ने शाप के अन्त में रख दिया था । इसीलिए ऋषि का शाप भी कल्याणकारी हो गया ।

ताडका और शूर्पनखा स्थायी दुष्टा थी, कैकेयी और मंथरा क्षणिक बुद्धि । इसी लिये पशु के समान जड स्वार्थों की प्रेरणा से कार्य करने के कारण अपराध की गुरुता के अनुपात में उन्हें दण्ड मिला। अतः इस चौपाई में इस अर्थ की भी गोस्वामीजी ने पुष्टि की है कि गंवार, शूद्र और पशुवत आचरण करने वाली नारी ही दंडित हो: सब नारियां नहीं । क्योंकि सुमित्रा कौशल्या, अरून्धती तथा अनसूया और शबरी मानस में परम पूज्य है ; गुह, निषाद, केवट इत्यादि भी पूज्य ही क्या परम पूज्य हैं। अतः रामचरित्र मानस को बड़े ध्यान से पढ़ना चाहिए। गोस्वामीजी ने—"सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना" कह कर मानस को ज्ञान नेत्रों से देखने का आग्रह किया है और कहा

है कि केवल इसी पद्धति से संदेश दूर होगा ; नहीं तो मनुष्य उलझ जायेगा ।

जिस प्रकार वेदमन्त्रों में ऋषियों ने अनेक अर्थो को एक साथ रख कर सब कुछ संक्षेप में कह दिया, उसी प्रकार मानस में भी कई अर्थो को एक साथ रख कर संक्षेप शैली का प्रयोग किया है । 'माया रूपी नारि' कह कर 'ताडन के अधिकारी' वाली पंक्ति में गो॰ स्वामीजी ने नारी शब्द से माया को भी अनुशासन में रखने का संकेत किया है ; क्योंकि माया से उत्पन्न चचल चित्तबृत्ति का निरोध न किया गया तो परमात्मा से योग-सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा ।

इसी नारी वाली पंक्ति को लेकर मुझे वहुत वर्षों से सन्देह था कि समुद्र क्षमा याचना कर रहा है । पहले तो उसने पांचों तत्त्वों में अपने जल तत्व को मिला कर माफी मांगी ; पर जब प्रत्यक्ष उदाहरण दिये तब केवल ढोल, गंवार, शूद्र, पशु और नारी की ही चर्चा करता है अपनी नही ; क्योंकि समुद्र इनमें से एक भी नहीं है । मैं समझ रहा था कि गोस्वामीजी प्रत्यक्ष उदाहरण में समुद्र को भूल गये पर कुछ समय पूर्व जब नारी शब्द के एक और अर्थ की ओर ध्यान गया तो मेरा भ्रम दूर हो गया । 'नार' शब्द का अर्थ होता है—जल । जल में निवास करने के कारण ही भगवान विष्णु नारायण कहलाते हैं । इसीलिए जैसे 'धन' शब्द से धनी शब्द बनता है, उसी प्रकार 'नार' शब्द से नारी शब्द बनेगा । धनी शब्द का अर्थ होता है धनवाला और नारी शब्द का अर्थ हो जायगा जल वाला । यहां भगवान राम के सामने जल नहीं खड़ा है । जल वाला खड़ा हुआ है, समुद्र खड़ा हुआ है । इसीलिये नारी शब्द का अर्थ समुद्र भी हो जायगा । जब मेरा ध्यान इस अर्थ की ओर गया तब अपने ज्ञान पर हंसी आयी, दया आयी और गोस्वामीजी की अपार योग्यता के सामने मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक गया । अतः गोस्वामी जी की आलोचना या निन्दा

करने के पूर्व उनकी योग्यता पर खूब विचार कर लेना चाहिए—'तुलसी न लसे कविता करके कविता लसी पा तुलसी की कला' । भाव और कला तथा अर्थ की गंभीरता के क्षेत्र में तुलसी अद्वितीय हैं ।

शंका—३५

"नाथ नील नल कपि दोउ भाई । लरिकाई रिषि आशिष पाई ।।"

यहाँ नील और नल का कोई परिचय नहीं दिया गया है । उन्हें किस रिषि का आशीर्वाद मिला था, इसकी भी चर्चा नहीं है । जिज्ञाशा होती है कि नल नील कौन थे तथा उन्हें पत्थर पानी में उतरा देने का अपूर्व वरदान किन महाभाग मुनिवर से मिला था ?

(एक जिज्ञाशु)

समाधान

अस्ति त्वत्र नलोनाम वानरः शिल्पि सम्मतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ।।

(महाभारत वन०२८३।४)

समुद्र ने श्रीरामजी से बताया कि इस वानरी सेना में विश्वकर्मा का पुत्र (अंश) एक नल नामक वानर है । वह बहुत दक्ष शिल्पी (राज; कारीगर) है । और बहुत बलवान है ।

वाल्मीकीय रामायण में भी आया है—

विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम् ।
पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।।

(१।१७।१२–१३)

अर्थात् विश्वकर्मा द्वारा नल नामक महाकपि उत्पन्न हुए और अग्नि सदृश तेजस्वी श्रीमान् नील साक्षात् अग्निदेव के पुत्र हुए ।

नील और नल दोनों भाई उपदेव जाति के वन्दर थे। दोनों अपार वली थे। बालि–सुग्रीव की समस्त वानरवाहिनी के प्रधान सेनापति नल थे और उपसेनापति नील थे। दोनों वीर बानरों का रंग भौंरा के समान काला था। श्रीरामचरित्र मानस में आया है कि जब अन्त में एकदिन रावण से युद्ध हो रहा था तो पराक्रमी नल और नील ने दशानन के दशों मस्तक की चमड़ी को फाड़ दिया था। यथा—

"तब नलनील शिरनि चढ़ि गयऊ। नखनि लिलार विदारत भयऊ॥
गहे न जाहि शिरनि पर फिरहीं। जनु जुग मधुप कमलवन चरहीं॥"

नल नील के आशीर्वाद पाने की कथा इस प्रकार है।—

एक ऋतुध्वज नामक विरक्त रिषि के पास बहुत बड़े-वड़े शालग्राम थे। एकान्त वासी 'ब्रह्मर्षि' अपने अन्तिम समय में उत्तराधिकारी के अभाव में अपने पूजित शाशग्रामजी को शालीग्रामी गंगा (नारायणी गंडकी) तक ले जाने में कष्ट का अनुभव करते थे। तब नल नील दोनों भाइयों ने उन्हें बहुत सहायता किया था। जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मर्षि ने आशीर्वाद दिया था कि छोटे कंकड से लेकर बड़े-बड़े पहाड़ तक भी तुम्हारे कर स्पर्श से कभी भी पानी में नहीं डूबेंगे। उसी वरदान के फलस्वरूप दोनों भाइयों ने समुद्र में पत्थरों का सेतु निर्माण किया था।

इनकी उत्पत्ति भी प्रभु श्रीराम के अन्य षोडशपार्षदों की भाँति ही हुई थी। देवों के वैज्ञानिक सम्राट् विश्वकर्मा जी ने नल के शरीर में प्रवेश किया था अर्थात् ब्रह्माजी की आज्ञानुसार श्रीभगवान की सेवा—सहायता हेतु पूर्वोत्पन्न अपने पुत्र नल में स्वयं भी प्रविष्ट होगये। जैसा कि रामचरितमानस में वर्णन है -

निज लोकही विरंचि गे देवन इहइ सिखाइ।
वानर तन धरि धरनि महँ, हरिपद सेवहु जाइ॥

अर्थात् ब्रह्माजी देवताओं को यह सिखाकर अपने लोक गये कि वानरों के शरीर को धर—धर कर तात्पर्य उनमें प्रवेश करके उनमें आविष्ट होकर श्रीहरि के पदकमलों की सेवा करो। तब आगे आया है—

"वनचर देहधरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन पाहीं।।"

इसी प्रकार अग्निदेव भी अपने पुत्र नील के शरीर में स्वयं प्रविष्ठ होकर भगवत्सेवा का सुअवसर देखने लगे:—

गिरि तरु नख आयुध सब वीरा, हरिमारग चितवहिं रनधीरा।

जब श्रीभगवान् ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीकिशोरीजी की खोज करते हुए पहुँचे तभी श्रीरामजी के त्रिपाद विभूतिस्थ प्रधान षोडश पार्षदों में नल—नील ने अपने प्राणधन श्रीराघवेन्द्र की सेवा करने के लिये विश्वकर्मा एवं अग्निदेव के पुत्र नल–नील के तन में प्रवेश किया।

श्रीरामचरित मानस में इसकी सांकेतिक चर्चा आयी है। ऋक्षराज श्रीजाम्बवान् ने समुद्र तटपर अंगदादि सभी वानर प्रवरों के समक्ष रहस्योद्घाटन करते हुए भगवदीय सिद्धान्त का विवेचन किया—

जाम्बवन्त अंगद दुख देखी। कही था उपदेश विशेषी।।
तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।।
हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।
निज इच्छा प्रभु अवतरहिं, सुर महि गोद्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोक्ष सुख त्यागि।।"

वानरराज सुग्रीव के आमन्त्रण पर नल नील ने बहुत सी वानर सेना साथ में लाकर श्रीरघुनाथजी की सहायता किया था। यथा–

"नीलाञ्जनचयाकारो नीलो नामैष यूथपः।
अदृश्यत महाकायः कोटिभिर्दशभिर्वृतः।।"
(वा०रा०४।३९।२२)

"नलश्चापि महावीर्यः संवृतो द्रुमवासिभिः ।
कोटिशतेन सम्प्राप्तः सहस्रेण शतेन च ॥"
(वा०रा०४।३९।३६)

अर्थात् महापराक्रमी यूथपति नील का शरीर भी बड़ा विशाल था । वे नील कज्जलगिरि के समान नील वर्ण के थे और दश करोड़ कपियों से घिरे हुए थे ।।२२।।

फिर पराक्रमी नल उपस्थित हुए जो एक अरब एक हजार एक सौ द्रुमवासी वानरों से घिरे हुए थे ।।३६।।

वानरराज सुग्रीव के निर्वासन कालमें ये भी वालिके डर से सकल भुवनों में घूमे थे और अन्त में सुग्रीव के साथ ही ऋष्यमूक पर्वत पर रहे थे ।

॥ सुन्दर कांड समाप्त ॥

* लंका काण्ड *

शंका–१

जामवन्त के वचन को सुनकर श्रीहनुमानजी ने कहा था कि—

प्रभु प्रताप बड़वालन भारी। शोषेउ प्रथम पयोनिधि वारी।।
तवरिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तिहि खारा।।
सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। विहँसे रघुपति कपि तन हेरी।।

ये चौपाइयाँ हमारे मस्तिष्क से बाहर हैं। इनका उचित अर्थ एवं समाधान समझाइये कि वह उक्ति कौन है।

[पं॰ किशोरीलाल दीक्षित]

समाधान

रामसेवाविदग्धः वचनविन्यासपंडितः ।
विद्याकलासु कुशल आंजनेयः स मे गतिः।।

थोड़ा सा भी अलंकार का ज्ञान रखने वाला कोई साहित्य का विद्यार्थी भी "अत्युक्ति" नामक अलंकार के नाम से अपरिचित नहीं रहता। अत्युक्ति अलंकार की सीधी सादी परिभाषा यह है कि "किसी साधारण सी भी बात को असम्भाव्य रूप से बहुत बढ़ा चढ़ाकर कहना।"

यहाँ तो हनूमानजी ने श्रीरामजी के प्रताप रूपी बड़वानल द्वारा समुद्र के जल का शोषण करना कहा, यह तो हो सकता है। क्योंकि—

रोंक्यो विन्ध्य सोख्यो सिन्धु घटजहु नाम बल॰।
नाम प्रभाव सही मेरे सोउ शिला सरोरुह जामो।

[विनय पत्रिका]

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई ।

आदि परन्तु जो शत्रु की स्त्री के आँसुओं से समुद्र का भर जाना कहा वह असम्भाव्य है। परन्तु—

महानाटक निपुण कोटि कविकुल तिलक—
गान गुण गर्व गंधर्व जेता।

(वि० प०)

कोटि कविकुल तिलक श्रीहनूमानजी कवि हृदय होने से 'अत्युक्ति' अलंकार का निदर्शन अपनी आलंकारिक भाषा में कर ही बैठे। जिसे सुनकर तुरन्त ही श्रीरामजी ने हँस दिया। कवि ने हँसने का कारण तुरन्त ही बता दिया कि यह हँसना अत्युक्ति के ही कारण है। साहित्य की इतनी सी बात पंडित के मस्तिष्क से बाहर हो जाना तो विचित्र सी बात है।

अत्युक्ति अलंकार का लक्षण साहित्य ग्रंथों में इस तरह दिया है कि—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्य शौर्योदार्यादि वर्णनम् ।

[चन्द्रालोक ५/११६]

योग्य व्यक्ति की योग्यता, अतिकरि वरनी जाय ।
भूषण सो अत्युक्ति है, समुझैं जे मतिराय ।।

[अलंकार मंजूषा १०३]

जहाँ शूरतादिकन की अति अधिकाई होय ।
ताहि कहत अत्युक्ति हैं 'भूषण' जे कवि लोय ।।

(शिवराजभूषण ३३८)

शंका २

सेवक होकर श्रीहनूमानजी ने तो समुद्र उल्लंघन कर लिया परन्तु

सर्व समर्थ स्वामी होकर भी श्रीरामजी के तीन दिन रात समुद्र से मार्ग माँगते हुए सत्याग्रह करके बैठने का कारण क्या है ?

[धर्ममनीषी पुत्तीलाल शुक्ल]

समाधान

जासु बाहुबल गर्वित राम सहित परिवार ।
निशिदिन मम रक्षा करत सोई पवनकुमार ।।

इसका समाधान तो श्रीरामचरितमानस के मनन से ही स्पष्ट हो जाता है । अर्थात्—

(क) रावण मरन मनुज कर जांचा । प्रभु विधि वचन कीन्ह चह साँचा ।।

अतएव यदि श्रीरामजी भी हनुमान जी की तरह ही समुद्र का उल्लंघन कर जाते तो रावण को ब्रह्मा के लेख को मिथ्या कहने का अवसर मिल जाता कि रामजी तो मनुष्य नहीं हैं और मैंने तो अपने जलते हुए ललाट में—

'नर के कर आपन बध बाँची ।'

है, और तप करके भी ब्रह्माशिवादि से बरदान भी ले चुका हूँ कि—

हम काहू के मरहिं न मारे । वानर मनुज जाति दुइ बारे ।।

तथा बानर के कूदने पर तो रावण को कोई आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि बानर तो स्वाभाविक ही कूदने–फाँदने वाली जाति है और बालि, सुग्रीव, जाम्बवान आदि कितने उपदेवों का दृष्टान्त तो रावण के समक्ष ही थे इसी लिए उसने स्वयं ही कहा भी है कि—

नाघहिं खग अनेक वारीशा । शूर न होहि ते सुनु जड़ कीशा।।

परन्तु मनुष्य के लिए तो समुद्र का उल्लंघन कर जाना सर्वथा असंभव ही है । अतः यदि रामजी समुद्र लंघन करके लंका जाते तो रावण की तर्क कसौटी पर सच्चे मनुष्य न ठहरते, तब उस परिस्थिति

में ब्रह्मा के लेख एवं वरदान तथा श्रीरामजी के संकल्प पर चौका लगते कितनी देर रह जाती ? जब कि—

प्रभु बिधि बचन कीन्ह यह साँचा ।

इसी से श्रीरामजी ने समुद्र का उल्लंघन नहीं किया और वाण द्वारा शोषण भी नहीं किया क्योंकि कृपालु श्रीरामजी नीति विशारद हैं तभी तो—

माँगत पंथ कृपा मन माहीं ।

(ख) श्रीरामजी का स्वभाव है कि अपने सच्चे सेवकों की महिमा अपनी महिमा से भी अधिक बढ़ा दिया करते हैं, इसके लिए गोस्वामी जी ने दोहावली में यही उदाहरण दिया है कि—

साहिब ते सेवक बड़ो जो निज धर्म सुजान ।
राम बाँधि उतरे उदधि लाँघि गये हनुमान ।।

कविवर श्रीतत्ववेत्ताजी ने भी लिखा है कि—

अधिक बढ़ावत आपु ते जन महिमा रघुवीर ।
शबरी पद रज परसि भा शुद्ध सरोवर नीर ,।

(तत्ववेत्ता काव्य संग्रह)

(ग) आनन्द रामायणकार ने सेतु बाँधने का कई कारण लिखा है । वे आनन्द रामायण में लिखते हैं कि एक वार सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में चक्रवर्ती महाराज श्रीरामचन्द्रजी के साथ अनेक देश देशान्तर की राजमहिषियों से सेवित महराणी श्री मिथिलेश नन्दिनी भी पधारीं थीं । किसी दिन साम्राज्ञी श्रीजू से भेंट करने के लिए महर्षि अगस्त्यजी की पत्नी महामहिमशाली श्रीलोपामुद्राजी श्री अवधेश्वरी जू के वस्त्रावास (तम्बू) में पधारीं थीं । उस समय जब परस्पर वार्तालाप हो रहा था, बीच में श्रीजी को कुछ लज्जित करने की भावना से लोपामुद्रा जी ने हँसी–हँसी में कहा कि राजाराम ने सब काम तो बहुत

अच्छा किया है परन्तु एक काम बिना विचारे करके व्यर्थ में केवल परिश्रम ही उठाया है। वह क्या? तो सुनो— सेतु बंधन, अरे वह तो हमारे पतिदेव से जाकर प्रार्थना किये होते तो वे एक क्षण भी देर न करते, एक चुल्लू में लेकर सारे समुद्र का पान करके सुखा देते जिससे कि बानरी सैन्य सहर्ष उस पार चली जाती। नहीं तो रामचन्द्र ने इतनी भारी नासमझी किया कि स्वयं भी तीन दिन तक भूखे प्यासे रहकर समुद्र से मचले रहे और बानर भालुओं से पहाड़ ढोवा-ढोवा-कर उनसे भी व्यर्थ में परिश्रम करवाया। देखिये आनन्द रामायण विलासकांड सर्ग नौ—

सर्वं योग्यं कृतं सीते राघवेण महात्मना ।।९।।
एक एव वृथा क्लेशः कृतस्तेनेति वेद्म्यहम् ।
महान् श्रमः सेतुबन्धे किमर्थं हि कृतः पुरा ।।१०।।
कथं न कथितं कुम्भजन्मने राघवेणहिं ।
क्षणात्तं चुलुके कृत्वा पीत्वेयं लवणार्णवम् ।।११।।
शुष्कं कृत्या कपीन्मार्गों भविष्यदत एव हि ।
वृथा हि श्रमिताः सर्वे वानराः सेतुबन्धने ।।१२।।

इस पर श्री महराणी जू ने कैसा सुन्दर उत्तर दिया कि उलटे लोपामुद्रा जी को ही लज्जित होकर मुख नीचे कर लेना पड़ा। श्री जू ने इस प्रकार उत्तर दिया कि—

१- बाणेन शोषणीयश्चेत्सागरो राघवेण हि ।
भविष्यति तदा हत्या वहवश्चेति शंकितम् ।।१५।।
२- उल्लंघनीये जलधिश्चेद्राघवेण विहायसा ।
तदारामं मनुष्यं च कथं ज्ञास्यति रावणः ।।१६।।

३- हनुमत्पृष्ठमारुह्य गन्तव्यं चेत्परे तटे ।
लंकां प्रति तदा रामपौरुषं किं वदन्ति हि ॥१७॥
४- यदि तीर्त्वा प्रगन्तव्यं बाहुभ्यां राघवेण हि ।
नोल्लंघनीयं विप्रस्य मूत्रं चेति विशंकितम् ॥१८॥
५- चेन्मुनिः कुम्भजन्मा वै प्रार्थनीयः पतिस्तव ।
मंत्रितं राघवेणापि तदा हृदि सविस्तरम् ।।१९॥
६- स मुनिर्ममवाक्येन चुलुकं तु करिष्यति ।
न मुनि प्रर्थयामास राघवो धर्म तत्परः ।२४॥
७- एवं सम्मंत्र्य रामेण स्वकीर्त्यै सेतुबन्धनम् ।
कृतं केनापि न कृतं न कोऽप्यग्रे करिष्यति ॥२५॥
येन रामेण जलधौ शिलाः संतारिताः पुरा ।
सोऽयं दाशरथी रामश्चेति ख्यातिं गमिष्यति ॥२६॥
इति सीता वाचोभिः सा लोपामुद्रा जिता तदा ।
तूष्णीमास क्षणं नारी सभायां लज्जिताऽभवत् ॥२७॥

अर्थात्–१– बाण से श्रीरामजी ने समुद्र इसलिए नहीं सुखाया कि अकारण बहुत हत्या होना अनिवार्य होगा।

२– यदि लाँघकर पार चले जाते तो रावण कैसे जानता कि श्रीरामभद्र जू वास्तव में मनुष्य ही हैं।

३– यदि हनुमानजी की पीठ पर आरूढ़ होकर समुद्र पार कर जाते तो लोक में उनका पुरुषार्थ ही क्या रह जाता।

४– मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामभद्र जू सरीखे सत्पुरुषाग्रगण्य भला ब्राह्मण के मूत्रभूत समुद्र को बाहु से तैरकर पार कर जाने को उचित समझने की भोंड़ी गलती कैसे कर सकते थे।

५– आब्रह्म भुवन पर्यन्त सभी जानते है कि श्रीअगस्त्यजी राम-भद्रजू के परमैकान्तिक भक्त हैं अतएव भगवान श्रीरामजी की आज्ञा से वे कार्य अकार्य सबकुछ कर सकते हैं अतः प्रभु की आज्ञा पाते ही वे अपना ही मूत्र पी जाते यह सर्वथा सत्य है। परन्तु क्या सबको विदित नहीं है कि राघव जू श्रौत–स्मार्त धर्म सेतु पालक हैं, तब भला राजर्षि समान श्रीरामजी ऐसा अभूतपूर्व अपराध कब कर सकते थे कि जिसका मूत्र उसी को पिलावैं ? नहीं, कदापि नहीं ! ऐसा घोरातिघोर दण्ड तो किसी को महान गुरुतर अपराध करने पर भी नहीं दिया जाता और परम तपस्वी श्रीराममंत्र जापक श्रीराममंत्रैकनिष्ठ–

श्रीरामाय नमो ह्येतत्तारकं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
एतन्मंत्रमगस्त्यो वै जप्त्वा रुद्रत्वमाप्नुयात् ।।

[हारीत संहिता]

महर्षि अगस्त जी तो सर्वदा एवं सर्वथा शुद्ध निष्पाप अथच भक्त हैं अतएव वे श्रद्धार्ह हैं न कि दण्डार्ह ।

६– इन्हीं सब अनेक कारणों से श्रीरामजी ने पानी में पत्थर–पहाड़ तैराकर अपनी अचला कीर्ति का संस्थापन कर दिया है।

शंका–३

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लंका पर चढ़ाई करने के लिये सेतु निर्माण किये और वहाँ शंकरजी की स्थापना करके विधिवत पूजन करके तब रावण से युद्ध किये।

"लिंग थापि विधिवत करि पूजा । शिव समान प्रिय मोहिं न दूजा ।।"

(मानस ६।२।६)

२– अनेक शिव भक्तों का कथन है कि शिवजी बड़े है–यदि रामजी शिव की स्थापना करके पूजा नहीं किये होते तो न तो सेतु स्थाई होता और न तो लंका पर विजय ही प्राप्त कर पाते ।

इनमें यथार्थ ात क्या है ? कौन सर्वश्रेष्ठ है ? कौन सर्व व्यापी है ? सारा रहस्य समझाने की कृपा करें —

(रमाकान्त मिश्र = रामराघवदास गौरा-बेलवा जौनपुर)

प्रकाशक द्वारा समाधान

वैष्णवकुलभूषण सदा शंकर परम सुजान ।
इष्टदेव रघुनाथ पद कमल नमत मतिमान ।।

यह रामेश्वर स्थापना का पूरा प्रकरण श्रीमद्गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज का नहीं है । यह पूर्णतः प्रक्षिप्त है । आज वर्तमान समय में जहाँ दक्षिण भारतीय समुद्र के पूर्वीय तटपर रामेश्वरम् मन्दिर स्थित है, वहाँ श्रीरामजी ने समुद्र में सेतु निर्माण किया ही नहीं था। क्योंकि आज जो श्रीलंका नामसे ख्यात् द्वीप है वह वस्तुतः रावण की राजधानी लंका से सर्वथा पृथक है । उसका प्राचीन नाम सिंहल है, आज भी वहां की भाषा को सिंहली भाषा कहा जाता है । श्रीराम चरित मानस के अनुसार भी यह सिद्ध है कि समुद्र में सौयोजन विस्तृत सेतु का निर्माण हुआ था क्योंकि जहां प्रभु श्रीराम ने लंका पर चढ़ाई करने के लिये समुद्र पार किया था वहां से लंका की दूरी चार सौ कोश पड़ती थी। जैसा कि सम्पाती ने बताया था—

"जो नाघइ शतयोजन सागर । करइ सो रामकाज मति आगर ।।"

बाल्मीकीय रामायण में भी शतयोजन विस्त्रित लम्बा और दशयोजन चौड़ा सेतु बनाना लिखा है—

दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।
ददृशुर्देव गन्धर्वा नलसेतुं सुदुस्करम् ।।

[वा०रा०६।२२।७६]

अर्थात् नल नील द्वारा निर्मित शतयोजन लम्बे एवं दशयोजन

चौड़े बने सेतु का दर्शन देवों तथा गन्धर्वों ने किया जिसे वनाना कठिन कार्य था ।

विचारणीय बात है जब भारतीय समुद्रतट से लंका की दूरी ४०० कोश थी और उसके बाद कई योजनों में वह लंकापुरी बसी हुई थी । और आज जो सिंहल—सीलोन की वर्तमान दूरी है उसे देखते हुए किसी प्रकार कोई भी रावण की लंका नहीं मान सकता । अतः यह सिद्ध है कि भगवान् श्रीराम ने यहाँ समुद्र पार नहीं किया था और न तो रामेश्वर स्थापन का ही कार्य किया था । प्राचीन काल में लंका द्वीप एवं सिंहल द्वीप दो थे—

लंका कालाजिनश्चैव शैलिका निकरास्तथा ।
ऋषभः सिंहलश्चैव तथा कांची निवासिनः ।।

(मार्कण्डेय पु० ९।५५।२७)

श्रीमद्भागवत में भी जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीपों की गणना काल में सिंहल और लंका को अलग—अलग बताया गया है ।

जम्बूद्वीपस्य राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति । तद् यथा स्वर्णप्रस्थः चन्द्रशुक्लः आवर्तनः रमणकः मन्दर हरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलः लंकाचेति ।।

(भा० ५।१९।२९–३०)

लंका कहाँ थी और भगवान् श्रीरामने कहाँ पर समुद्र में सेतु बाँधकर लंका यात्रा की थी; इन सबका विस्तृत वर्णन "रामचरित के तीन क्षेपक" नामक ग्रन्थ में हुआ है—पाठकों को वही देखना चाहिये । अब श्रीरामचरित मानसान्तर्गत षष्ठ सोपान में जो रामेश्वर स्थापना प्रक्षिप्त अंश जोड़ा गया है इस पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है । किन–किन कारणों से यह प्रसंग क्षेपक है नीचे लिखा जाता है ।

प्रसंगानुरूप प्रथम दोहे के बाद सेतु बन्धन क्रम में एक चौपाई आई है—"सैल विशाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नलनील ते लेहीं॥"

यहाँ यह बताया जा रहा है कि अभी सेतु बन्धन हो रहा है। अभी पूर्ण रूपेण पुल निर्माण का कार्य पूरा नहीं हुआ है। तब तक प्रक्षिप्त चौपाई में—देखि सेतु अति सुन्दर रचना...... श्रीरामोक्ति का वर्णन है और श्री भगवान् की एक कल्पना की कल्पना की गयी है।

परम रम्य सुन्दर यह धरनी, महिमा अमित जात नहिं बरनी।

यहाँ स्पष्ट परम रम्य एवं सुन्दर शब्द पर्याय होते हुए भी एक ही चौपाई में आये हैं जो निष्प्रयोजन हैं।

२–जहां लिंगस्थापन की योजना बन रही है, उस स्थान को उत्तम धरनी एवं उसकी अमित महिमा का वर्णन नहीं हो सकता" ऐसा कहा गया है। जबकि किन्ही भी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में वहाँ की उस भूमि का माहात्म्य वर्णन नहीं किया गया है। यदि कहीं पाया भी जाता है तो मात्र शिवलिंग की महिमा का। उसके पूर्व उस भूमि का क्या माहात्म्य था क्यों था, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

३–"करिहउँ इहाँ....परम कलपना।" यहाँ श्रीरामजी का शिवलिंग स्थापना की कल्पना करना सर्वथा असंगत है। कुछ लोग वे शिर पैर की बातें करते हैं कि रावण को मारने के लिये शिवसे आज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक थी क्योंकि रावण शिवभक्त था। किन्तु वास्तव में यदि रावण शिवजीका प्रिय होता तो कैलाश की देव सभा में शिवजी रावण वधार्थ श्री भगवान् को प्राप्त करने हेतु अपनी सम्मति नहीं दिये होते—

"तिहि समाज गिरिजा मैं रहऊँ। अवसर पाइ वचन इक कहेउँ॥
देश काल दिशि–विदिशहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभुनाहीं॥"

और यदि यह भी मान लिया जाय कि रावण शिवभक्त और शिवप्रिय था, तो हजारों शिवलिंग की स्थापना के पश्चात् भी शिवजी

रावण को मारने में सहयोग–आशीर्वाद दे नहीं सकते थे। अतः रावण वधार्हं शिवपूजन अनर्गल कल्पना है।

४–इसके आगे "सुनि कपीश बहु दूतपठाये..... शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।" के अनुसार सुग्रीवजी ने दूत भेजकर मुनिवरों का झुंड बुलाया। यहाँ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम द्वारा मर्यादा का अतिक्रमण कराया गया है। ऐसा कोई मानसान्तर्गत प्रमाण नहीं है कि जहाँ श्रीराम जी ने ऋषि मुनियों के आने पर प्रणामादि सत्कार नहीं किया हो। अथवा अनन्य श्रीरामभक्त सुतीक्षणजी को प्रणामादि का अवसर नहीं दिया हो। किन्तु मुनिवरों के आने पर कोई चर्चा नहीं। यहाँ तो श्रीरामजी को मुनियों से प्रार्थना पूर्वक शिव स्थापना करने का आग्रह करना चाहिए था तब ऋषियों द्वारा लिंग स्थापन किया जाता। "लिंग थापि विधिवत करि पूजा। शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।।" का अर्थ क्या होगा ? लिंग स्थापन और विधिवत पूजन करके शिव समान मुझे प्रिय दूसरा नहीं है। यहाँ इस चौपाई के अर्थ में तनिक भी तारतम्य नहीं है। गोस्वामीजी की ऐसी कोई भी चौपाई नहीं आई है जिसका इस प्रकार बेतुका वाक्य बने। निश्चित रूपेण यह असम्बद्ध चौपाई भी गोस्वामीजी की नहीं है।

५–इसके आगे शिवद्रोही मम दास कहावा...... घोर नरक महँ वास।। तक दो चौपाई एवं एक दोहे में शिव द्रोहियों को गाली दी गयी है यहाँ अचानक श्रीभगवान् को शिव निन्दा कोई करेगा इसका भय क्यों हो गया। ऐसा तो कोई भी वैष्णव शिव तो क्या, किन्हीं भी देव–देवियों की निन्दा नहीं करते। प्रत्युत शिवजी को तो अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हैं। अतः श्रीभगवान के मुख से यह बेतुकी एवं बे मौके उक्ति भी व्यर्थ है अतः यह भी प्रक्षिप्त है।

६–तत्पश्चात् जो रामेश्वरः श्रीगंगाजल, होइ अकाम, ममकृत सेतु यह सब चौपाइयां भी निष्प्रयोजन हैं क्योंकि जब रामेश्वर स्थापन हुआ

ही नहीं तो उसका गुणगान भी निराधार है ।

७–आगे 'राम वचन सबके मन भाये । मुनिवर निज–निज आश्रम आये ।।' यह कहा गया है । यहाँ भी शिष्टाचार का उल्लंघन कराया गया है । जब मुनि लोग आये तब भी श्री भगवान् ने या अन्य किसी ने भी उनका स्वागत नहीं किया । जब जाने लगे तब भी एक शब्द किसी ने भी नहीं कहा । मुनीश्वरों ने लिंग स्थापन कराया इसकी भी चर्चा नहीं आयी है अतः यह चौपाई भी प्रक्षिप्त ही है ।

८–एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वयं श्रीरामजी के मुख से लिंग एवं सेतु की महिमा का इतना जोरदार गान कराया गया कि उन्हें सायुज्य मुक्ति दाता बता दिया गया, और इसपर भी कमाल की बात तो यह है कि किसी ने भी शिवलिंग या सेतु को शिर तक नहीं झुकाया न तो वाणी से ही अभिवादन किया । यहाँ तक कि मन से भी स्मरण नहीं किया । वास्तविकता यह है कि इन चौपाइयों और एक दोहा 'शंकर प्रिय......वास ।' किसी तथाकथित शकर भक्त ने रचकर रामचरित मानस जैसे शुद्ध धर्मग्रन्थ में इन असम्बद्ध और निरर्थक चौपाइयों को गढ़कर मिला दिया है ।

९–यदि उपर्युक्त चौपाइयां—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि । भक्ति मोरि तेहि शंकर देइहिं ।।" गोस्वामीजी की लिखी होतीं तो आगे इस प्रक्षिप्त प्रकरण के वाद "ते मतिमन्द जे राम तजि. भजहिं जाइ प्रभु आन ।।" यह पुनः गोस्वामीजी उससे विपरीत क्यों लिखते । तात्पर्य इस सैद्धान्तिक दोहे के जो समग्र आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल है: इसके विपरीत पहले क्यों लिखेंगे कि "होई अकाम जो...... शंकर देहहिं ।" अर्थात् कैतव धर्म का उपदेश गोस्वामीजी कभी भी नहीं करेंगे ।

स्पष्टीकरण यह है कि दोहा नं०१ के बाद केवल एक चौपाई–

शैल विशाल आनि कपि देहीं । कंदुक इव नल नील ते लेहीं ।।"

को छोड़कर इसके आगे ७ चौपाइयाँ १ दोहा और पुनः चार चौपाइयां

गोस्वामीजी की बनाई हुई नहीं हैं। इनका प्रसंगानुरूप कोई मेल नहीं बैठता दूसरे दोहे में केवल पाँच चौपाइयाँ ही गोस्वामीजी की मूल रचना हैं।

जहाँ अभी सेतु बँध की क्रिया का वर्णन हो रहा है। तब तक सुग्रीव द्वारा मुनीश्वरों का बुलाया जाना रामेश्वर स्थापना होना और समग्र वानरों द्वारा सेतु निर्माण में योग देना दोनों बाते एक साथ बिल्कुल अस्वाभाविक क्रियायें हैं। क्योंकि मुनीश्वरों के जाने के बाद भी अभी पुल बाँधना बाकी ही है और आगे कहा जा रहा है कि "बाँधा सेतु नील नल नागर।" अतः रामेश्वर स्थापना का कोई तुक नहीं है।

कदाचित यह कोई कहने का दुःशाहस करे कि पहले ही सेतु बन्धन हो चुका था। उसके पश्चात् रामेश्वर स्थापना हुआ। तब तो आगे की चौपाई—"बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा"।। वाली चौपाई पुनरुक्ति दोष से दूषित होकर व्यर्थ हो जायेगी। अतः सर्व प्रकारेण रामेश्वर स्थापन प्रक्षिप्त अंश है।

मूल प्रतिका प्रकरण ऐसा होना चाहिए "सैल विशाल....... नल नील ते लेही। के बाद सीधे "गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनतपर प्रीती।।" से प्रारम्भ होगा।

क्योंकि इससे प्रसंग भी स्वाभाविक मिल जाता है—

ऊपर नल–नील द्वारा विशाल गिरि शिखरों को कंदुकवत अपने हाथ में ले लेना वर्णन है, और उसके बाद शंकरजी द्वारा गिरिजाजी का सम्बोधन है क्योंकि जहाँ श्रोताओं को कोई शंका होता है वहां–वहां वक्ताओं ने उस विषय को समझाया है। यह नियम पूरे ग्रन्थ में है। यहाँ भी गिरिजाजी को सन्देह हुआ कि बड़े–बड़े पर्वतों को सभी वानर वीर लीलापूर्वक उठा लाते है और गेंद के समान नल नील के हाथों में ऊपर से ही उछाल देते है जैसे आज भी मजदूरों द्वारा ऊँचे स्थानों पर ईटें उछाली जाती है और प्रधान मजदूर बेलदार

उसे अपने हाथों रोककर कारीगर को देते हैं ।

यहाँ स्वयं नल नील ही उत्साह में हैं अतः गेंदवत उन विशाल शैल शिखरों को लोक लेते है यही रहस्य शिवजी उमा को बता रहे हैं। वह अगली चौपाई में स्पष्ट है—कि श्रीराम अपने प्रणत भक्तों पर अत्यन्त प्रेम करते हैं तात्पर्य उनका यश सारे संसार में विस्तार करा देते हैं ।

शिवजी का कथन यह है कि यद्यपि बड़े–बड़े पर्वत श्रीराम कृपासे लाये गये उन्हें कंदुकवत नल नील ने लेकर समुद्र में सेतु रचना की तब प्रभु कृपा से ही दूसरों को डुबाने वाले पत्थर पार करने वाले जहाजवत् वन गये । अर्थात् पानी में तैर गये ।

इस प्रकार आगे का प्रकरण धारा प्रवाह है । अतः श्रीरामजी ने रामेश्वर स्थापन किया ही नहीं था। इस विषय पर शंका ही व्यर्थ है।

कुछ लोग गड्डलिका प्रवाह में बहे जाते हुए कुछ प्रक्षिप्त प्रकरणों का उद्धरण दिया करते हैं जो बिल्कुल सार हीन है ।

१–रामेश्वर स्थापना स्वयं रावण ने करायी थी । इसका वर्णन अत्यन्त ही रोचक ढग से कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों में किया गया है। कहीं कहीं कुछ पुराणों में भी कई प्रकार से शिवलिंग स्थापना की चर्चायें जोड़ी हुई है जो अत्यन्त ही अतथ्य पूर्ण एवं व्यर्थ है । किसी ने लका जाते समय किसी ने लका से लौटते समय तथा किसी ने समुद्र के बीच में शिवलिंग की प्रतिष्ठा कराना लिख दिया है । अतः ये सारी कल्पनाये मिथ्या एवं तथ्य विहीन हैं ।

विचारणीय है कि जिस रावण को आचार्य एवं पुरोहित मानकर चरण प्राक्षालन–अर्चन–वन्दन किया जाय उसी को फिर तत्काल जान से मार डाला जाय। अपने हाथों से ही शिव आचार्य की हत्या करें उसका वंश नाशकर दे यह सम्भव नही है ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने उत्तरकांड में मूल रामायण के

कथाओं की सूची दी है उसमें भी रामेश्वर स्थापना का कोई जिक्र नहीं हैं। अन्य कवितावली, दोहावली, गीतावली, विनयावली आदि किसी ग्रन्थों में नहीं लिखा है। अतः सर्व प्रकारेण यह प्रकरण प्रक्षिप्त सिद्ध है। अतः सुविज्ञ मानस पाठकों को इसे त्याग कर शुद्ध मूल प्रति का पाठ करना चाहिए।

कुछ लोग लंका कांड के अन्त में एक जगह मूल दोहा नं० ११८ में एक प्रक्षिप्त दोहा को लेकर शिवस्थापना का भ्रमपूर्ण निर्देश करते हैं। किन्तु विचारणीय है कि जब रामेश्वर स्थापना हुई नहीं तो इस दोहे का क्या अस्तित्व है। कुछ पुरानी प्रतियों में इस दोहे की जगह एक चौपाई मिलती है—

"देखु सेतु यह सुदृढ़ बनावा। इहां मिलेउ सुग्रीव सुहावा।।"

इसके बाद दूसरा दोहा ही है—

जहँ जहँ कृपासिंधु बन कीन्ह वास विश्राम।
सकल दिखाये जानकिहिं कहे सबनि के नाम।।

इससे कथा प्रवाह भी बना रहता है और असम्बद्ध प्रक्षिप्त कथा रामेश्वर स्थापना का गंध भी नहीं रहता। वह प्रक्षिप्त दोहा इस प्रकार है—

इहाँ सेतु बाँध्यो अरु थायेउ शिव सुखधाम।
सीता सहित कृपानिधि शम्भु हि कीन्ह प्रनाम।।

अतः रामेश्वर स्थापना अप्रमाणिक है।

एक और खेद का विषय है कि रामेश्वर स्थापना की सिद्धि के लिये कुछ ऐसे लोग भी हैं जो समाज के जाने-माने प्रतिष्ठित एवं धार्मिक प्रवृत्ति वाले हैं 'रामेश्वर स्थापना रावण के द्वारा करायी गयी इस पर विशेष रूप से जोर देते हैं। ऐसे अनर्थ कारी झूठे कथानक को सत्य एवं प्रमाणिक बनाने के लिए पुस्तकें भी लिखते हैं। श्रीरामजी

द्वारा सेतु निर्माण की तिथि शरदऋतु के अन्त में मान्य है किन्तु रामे- श्वर स्थापना सिद्ध करने के लिए सेतु निर्माण ज्येष्ठ माह में करने को प्रयास करते है। क्योंकि भारतीय पूर्वीय समुद्र के दक्षिण तट पर जो वर्तमान काल में रामेश्वरम् मन्दिर स्थित है। इसके स्थापन काल के सम्बन्ध में हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ निर्णय सिन्धु के द्वितीय परिच्छेद में लिखा है कि ज्येष्ठ मास कृत्यम् में ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को रामेश्वर की स्थापना होना लिखा है—

अस्यां सेतुवन्ध रामेश्वरस्य प्रतिष्ठादिनत्वाद्विशेष पूजा कार्या। जेष्ठमासि सिते पक्षे दशम्यां बुध हस्तयोः

अतः श्रीरामजी को भी समुद्रतट पर जेष्ठ मास में आना कहकर रामेश्वर स्थापना कराने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। केवल व्यक्ति को प्रसन्न करने के लिये ही।

तथ्य पूर्ण बात यह है सर्व मान्यता हैं कि प्रवर्षण गिरिपर श्री रामजी वर्षा ऋतु व्यतीत किये थे—"गत ग्रीषम वर्षा रितु आई रहिहौं निकट सैल पर छाई।।" और आगे चलकर आया है—

वर्षा विगत शरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई

अतः स्पष्ट है श्रीरामजी की प्रिया सीता का पता लगाने का में एक माह का विलम्ब हुआ था तात्पर्य दूसरे अश्विन मास में हनुमानजी लंका पहुँच गये थे तब सीताजी ने कहा था—

अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवनम्।
वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषो प्लवंगम।।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम।। (वा॰रा॰५।३७।७

आगे यहाँ तक कह दिया कि अब मैं केवल एक मास ही प्रतीक्षा करूँगी ऐसा मैं प्रतिज्ञा पूर्वक कहती हूँ—

जीवितं धारमिष्यामि, मासं दशरथात्मज ।
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं, सत्येन हि ब्रवीमिते ।।
(वा०५।३८।६४-६५)

तात्पर्य एक माह के अन्तर्गत ही श्रीरामजी लंका पर चढ़ाई कर दिये। इसी में सेतु बन्धन का भी कार्य सम्पन्न हो चुका था। अब विचारणीय बात यह है कि जेष्ठ मास में श्रीरामजी समुद्र तटपर गये ही नही थे। न तो अब वहाँ किसी प्रकार कलर भेद का ही सहारा है। द्वापरान्त तक तो रामेश्वरम् मन्दिर का कोई पता नहीं था क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर ने भारतीय तीर्थों की यात्रा की थी किन्तु रामेश्वरम् का कोई जिक्र नहीं है। रामेश्वरम् मन्दिर कलियुग की स्थापना है और किसी रामचन्द्र नामी नरेश भक्त ने मन्दिर निर्माण कराया था तथा शिवलिंग की स्थापना भी की थी।

त्रेता में स्वर्णलिंग की स्थापना शास्त्र विहित थी जैसा कि परमशैव ग्रंथ डुमराव से प्रकाशित 'सिद्धान्तरत्नाकर' के द्वितीय पाशुपति खण्ड के तृतीय तरंग का ४८वाँ श्लोक पद्मपुराण का बताकर लिखा है-

कृतेः मणिमयं लिंग त्रेतायां हेमसम्भवम् ।
द्वापरे पारदं श्रेष्ठं पार्थिवन्तु कलौ युगे ।।

स्पष्ट है कि रामेश्वरम् स्वर्णलिंग नहीं है बल्कि पार्थिवलिंग है अतः रामेश्वरम् कलियुग की स्थापना है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र के द्वारा जो कहते हैं कि रामेश्वरम् की स्थापना हुई है निश्चय ही भगवान् श्रीराम की घोर निन्दा करते हैं क्योंकि इसके ऊपर अपने आचार्य रावण की पूजा किया और रामेश्वर स्थापना किया और फिर उसी आचार्य-रावण को मारने सकुलनाश करने का घोर पाप श्रीराम ने किया।

आचार्य-हत्या का अभियोग श्रीराम पर लगाने का श्रेय उन सभी लोगों को है जो यह कहते हैं कि रामेश्वरम् की स्थापना श्रीरामचन्द्रजी

ने किया तथा रावण से करवाया । अतः ऐसा कहना महान् अपराध है ।

२– शिवजी बड़े हैं कि श्रीरामजी बड़े हैं, कौन सर्वश्रेष्ठ है कौन सर्वव्यापी हैं ? यह शिवजी के वचनों से सिद्ध है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रगट होहि मैं जाना ।
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना । परमानन्द परेश पुराना ।।

श्रीरामजी ने कहीं भी शिवजी को अपना स्वामी नहीं कहा है, किन्तु प्रत्यक्ष रूपेण शिवजी ने स्वयं श्रीराम को अपना स्वामी एवं इष्टदेव स्वीकार किया है ।

"रघुकुल मणि मम स्वामि सोइ कहि शिव नायउ माथ ।"
"इष्टदेव मम बालक रामा ।"
"सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा । सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।।"
इत्यादि .... ।

अतः 'कीर्तनीय' सदा हरिः ।"
'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ।'
'शंकर सहस विष्णु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ।।'

बाल्मीकि रामायण में भी आया है—

ब्रह्मास्वयंम्भू श्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा ।
इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न सक्ता युधि राघवस्य ।।
(वा०रा०५।५१।४४)

अतः सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीरामजी हैं । वे ही भजनीय है ।

शंका–४

लंका कांड में प्रभु का विराट स्वरूप वर्णन करते हुए दशानन की परम साध्वी धर्मपत्नी मन्दोदरी ने कहा था कि—

रोम राजि अष्टादश भारा ।

यह १८ भार क्या है ? मानस पीयूष और सिद्धान्त तिलक टीका में एक भार का मान १२३००१६६० दिया है । परन्तु इससे

समाधान नहीं होता। दण्डी स्वामी ने तो इस अर्थ को अशुद्ध कहा है।
(श्री गोविन्द बर्धनसिंह प्रधानाध्यापक शहब्दा इटावा)

समाधान

रामानन्दाय गुरवे ज्ञानवैराग्यमूर्तये ।
रामानन्दरसाम्भोधे रामरूपाय ते नमः ॥

किसी शब्द का अर्थ करने के लिए जो नियम बनाया गया है। कि—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानात्,
कोषाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् बिवृतेर्वदन्ति,
सानिध्यतः सिद्धपदैश्च वृद्धाः ।
(वाचस्पत्यम्)

इस नियम में कोष का भी एक प्रधान स्थान है। प्रस्तुत शका में आये 'भार' शब्द का अर्थ कोषों में इस तरह है—

क—भारः स्यांद् वीवधे विष्णौ० । (मेदिनी कोषं)

ख—विवधो वीबध्रश्चापि पर्याहारेऽध्वभारयोः ।
(विश्व कोष)

ग—स्कंधवाह्य भारः ।
(वाक्यसुधा अमर कोष की व्याख्या)

घ—भारः वृक्षे समूहे च सहस्त्रे द्वितये तथा ।
वीवधे चौपधे सोमे गुरुतायां दिवाकरे ॥
(अनेकार्थ शब्दमाला)

ङ— श्रीमद्भागवत में औषधियों को विराट का रोम कहा है—

रोमाणि यस्यौषधयोऽ म्बुवाहाः—
केशा विरञ्चो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः
स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥

(भागवत १०।६३।३६)

भागवत के "रोमाणियस्यौषधयः" का अनुवाद मानस में है—

रोम राजि अष्टादश भारा ।

सारांश यह कि औषधी काष्ठ भार और वृक्ष आदि शब्द उदभिद मात्र के लिए 'भार' शब्द प्रयुक्त होता है । उद्भिज के मोटे मोटे छः भेद हैं । यथा—

वृक्ष गुल्मलतावल्ल्यस्त्वक् सारास्तृण जातयः ।

(महाभारत भीष्मपर्व ४।१४)

१—वृक्ष— जो शाखा प्रशाखा प्रकाण्ड/काण्ड (विशाल मोटा तना) युक्त पुष्ट एवं दीर्घजीवी और ही एवं जल के सयोग से बीज में अंकुर निकले जैसे—आम, कटहल, नीम, महुवा, इमली आदि ।

२—वनस्पति— होता तो वृक्ष की तरह ही है परन्तु जिसका बीज तब तक नहीं जमता जब तक कि कोई खाकर बीट नहीं कर देता जैसे वट, पीपल, प्लक्ष और गूलर आदि । अथवा जिसकी टहनी डाल अलग काट कर लगाने पर जड़ सोर पैदा करके वृक्ष बनै ।

३— गुल्म—ऐसा पौधा जिसकी जड़ से कई डंठल निकले जैसे अड्सा (बसाका) केतकी, बाँस, ईख केला आदि ।

४—वीरुधं— गुल्म और वृक्ष के बीच की स्थिति वाला जैसे सन्तरा अमरुद, सीताफल (शरीफा) सिहोर आदि ।

५—लता— फैलने वाली बेलि, आश्रय पाकर ऊपर चढ़े अन्यथा जमीन पर ही फैले ।

६–तृण पत्र पुष्प फलोऽजीवी अर्थात् जो एक बार पुष्प या फल लगकर पक जाने पर सूख जाय, दूसरी बार पुष्प या फल न लगै। जैसे धान, गेहूँ तथा कई तरह की घास आदि।

इन छहों के प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं—

१–जिसमें फूल और फल दोनों लगैं।

२–जिसमें केवल फल लगै फूल न लगै।

३–जिसमें फल तो लगै ही नहीं। फूल भी लगै या न लगै।

इस तरह स्थावर के छः का त्रिगुण ६x३ = १८ हुआ। ये अठारह प्रधान भेद हुए। यद्यपि कि चौरासी लाख योनियों में स्थावरं विंशतेर्लक्षम्० । उद्भिद की बीस लाख योनियाँ (जातियाँ) हैं। परन्तु प्रधान भेद अठारह ही हैं और उद्भिद् मात्र की 'भार' संज्ञा है इसी से—

रोम राजि अष्टादश भारा।

कहा गया है। वक्ताओं के द्वारा मानस में प्रतिनायक की रोमराजी को लतामात्र के तुल्य कहा गया है—

रोमावली लता जनु नाना।

कारण कि प्रतिनायक (रावण) एक विशिष्ट जीव है। इसी से उसके साथ उत्प्रेक्षा वाचक जनु शब्द लगा दिया है, परन्तु ईश्वर के विराट शरीर में यथार्थ होने से 'जनु' नहीं लगाया गया।

आपके यहाँ के कथा वाचक दण्डी स्वामी जी ने ठीक ही कहा था कि १२३००६१६० मान (तौल) वाला अर्थ इस प्रकरण में सर्वथा ही अशुद्ध है।

शंका–५

फूलइ फरइ न वेंत जदपिसुधा बरषहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेत जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम ॥

इस सोरठे में 'वेत' शब्द पर शंका है । पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका में 'वेत' शब्द का अर्थ आकाश लिखा है । जिसमें शंका होती है कि आकाश तो शून्य—निराधार को कहते हैं तब शून्य में जब किसी चीज का पेड़ ही नहीं होता तो चाहे जल वरसे, चाहे दूध और चाहे अमृत; जब शून्य में अंकुर ही नहीं तब फल फूल कैसे ? गीता प्रेस की टीका में वेंत लकड़ी लिखा है । परन्तु वेंत तो खूब ही फलता फूलता हैं । मानस पीयूष में पहाड़ी बेंत लिखा है । ठीक अर्थ क्या है जो तर्क की कसौटी पर भी खरा उतरै, और प्रत्यक्ष में भी अविश्वसनीय न हो ?

(श्री रामचन्द्र शम्भूदयाल सामन्त अकबरपुर, फैजावाद)

समाधान

सर्वश्रुतिधरं विज्ञ नानाभाषाविशारदम् ।
दिब्यप्रबन्धकर्तारं हुलसीनन्दनं नमः ॥

कोषों में वेत शब्द के कई पर्याय बताये गये हैं । बाइस दिशम्बर सन् १९२५ (२२।१२।२५) ई० की माधुरी(लखनऊ की पत्रिका) में श्री शत्रुसूदन सिंह जी कचुली ने किसी बघेल खंडी कोश का यह दोहा प्रकाशित कराया था—

बेत कहत आकाश को, वेत कहत पाषान ।
बेत बेत तृण को कहत, कहत बेत को पान ॥

यहाँ "फलै फरै न वेंत" में तो आकाश का ग्रहण नहीं है

है, असम्भव में सम्भव का संघट्टन ही नहीं। अभूतपूर्व को तत्वतः (निश्चित रूपेण) कथन नहीं किया जाता है। असम्भावित बात को कवि उत्प्रेक्षा पूर्वक कहा करते हैं। जैसे इसी जिज्ञासित दोहे में वेत का सिद्ध होना माना जाता है परन्तु जलद के सुधारस बरसने में यद्यपि कि पूँछ लगा दिया है, क्यों कि मेघ से जल बरसने का नियम है, सुधा बरसने का नहीं। इसी तरह—

बरु फूलहिं नभ बहुविधि फूला।

में असम्भवित वात पर ही बरु कहा है। और पाषाण की भी कथा आकाशवत ही है। वेत तृण काष्ठ तो आज भी फूलते फलते देखा जाता है, और पहाड़ी वेत तो पूरी कल्पना ही है। वैद्यक के निरुक्त रत्नाकर ग्रंथ में वेत के बीजों के गुणों का भी उल्लेख है—

बेत्रवीजं तु तुवरं स्वाद्वम्लं रुक्षपित्तलम्।
रक्तदोष कफ चैव नाशयेदिति कीर्तितम्॥

अर्थात् वेत के वीज तुवर—कसैले, स्वादिष्ट, खट्टे, रुखे, पित्त-कारक और रक्तदोष तथा कफ नाशक होते हैं। महाकवि भवभूति ने उत्तर राम चरित नाटक में लिखा है कि—

इह समदशकुन्ता ऽऽ क्रान्ते बानीर वीरुत्।
प्रसव सुरभिशीतस्वच्छतोया बहति॥

इस दण्डकारण्य प्रदेश में जिनवेत की लताओं पर मतवाले पक्षी बैठे हैं उन वेनों के फूलों की सुगन्ध से सुवासित तथा शीतल एवं निर्मल जलवाली नदियाँ बह रही हैं।

बसरा—अरब के महाकवि शेख सादी ने सन् ६५३ हिजरी (स०१२६५ विक्रमी) में तैयार किये हुए अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'गुलि-स्तां' के पहले बाबके चौथे किस्से में जो—

अब्रगर आवे ज़िन्दगी बारद ।
हरगिज़ अज़ शाख बेद बर न खुरी ।।

लिखा है । गुलिस्ताँ की उर्दू टीका में उक्त शेरका अर्थ ऐसा दिया है कि— अगर बादल आवेहयात अमृत बर्साये तो भी बेत की डाल का फल तू नहीं खा सकता ।

अर्थात् वेत का फल खाया नहीं जा सकता जैसे—

नीम न मीठी होय सींच गुड़ घीव सों ।

बनौषधि चन्द्रोदय-वैद्यक निघंटु में इसके फल को फीके, पीले रंग का और बहुत पतले छिलके वाला बतलाया है [परन्तु इसका गूदा एवं छिलका किसी उपयोग में नहीं आता] वेत का पत्ता फूल, बीज और जड़ औषध के काम में आती है । इसी से महात्मा शेख-सादी ने ''बर न खुरी'' फल नहीं खाया जा सकता लिखा है । उक्त शेर में वे यह तो कहते ही नहीं किवेत में फूल फल होता ही नहीं । तब न मालूम स्वयंभू अर्थ करने वाले स्थल वेत की कल्पना कहाँ से कर लेते हैं । पहाड़ी वेत की कल्पना करने वालों को स्मरण रखना चाहिए कि अभी तक वैद्यक निघन्टु–बनस्पति शास्त्र में पहाड़ी वेत की चर्चा तक नहीं की गयी है ।

जिज्ञासित सोरठे में वेत का तात्पर्य पान की लता से ही है क्योंकि उसमें कभी फूल फल नहीं लगता देवी पाटन वाले तुलसीदास (द्वितीय) रचित दो दोहे पान के अर्थ को पुष्ट करते हैं । पान की लता सदैव हरी रहती है उसके थाल्हे (आलवाल केदार, क्यारी) मे बराबर पानी भरा रखा जाता है ऊपर एवं चारों तरफ से टट्टर बन्द जैसा छप्पर रहता है कि सूर्य और चन्द्रमा की किरणें उसे साक्षा स्पर्श नहीं कर सकती हैं और समय–समय पर नीम एवं महुआ की खली खाद रूप में दी जाती है पर इन्हीं सब बातों को एकत्र करके प्रश्न

त्तर किया गया है। "तुलसी वाणी" नामक पुस्तक में बताये जाने वाले वे दोहे निम्नांकित हैं—

प्रश्न—हरी वेल छाया घनी पानी रेला पेल।
कबहूँ नहिं फूलइ फलइ काहे नागर बेल॥
उत्तर--प्रथम खरी ते सींचिये, रवि शशि सों नहिं हेत।
तुलसी खल संगति, वसे फूलइ फरइ न वेंत॥

इस प्रश्नोतर में वेंत शब्द से एक मात्र पान (नागरवेंत, नागवल्ली, ताम्बूल) की लता का ही ग्रहण किया गया है। और इस जिज्ञासित सोरठे का वेंत शब्द सर्वथा पान में ही संघटित होता है, क्यों कि प्रायः लतायें फूलती तो हैं ही और बहुत सी लताएं फलतीं भी हैं परन्तु फूलने फलने वाली वस्तु होकर भी पान की लता कभी भी फूलती या फलती नहीं।

आज भी तमिलभाषा में ताम्बूल (पान) को वेत्तीलाई और मलयालम भाषा में पान को वेतीला कहते हैं।

सुभाषित रत्नभाण्डागार के निम्न श्लोक के चतुर्थ चरण में यही तत्व है—

कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति स तेन लोके,
ख्यातिं प्रयाति नहि सर्वविदस्तु सर्वे।
किं केतकी फलति किं पनसः सुपुष्पः;
किं नागवल्ल्यपि च पुष्पफलैरुपेतः॥

यहाँ पर यह अर्थ बिना खींचातानी के ही परिष्कृत है। और उस सोरठे के वेंत शब्द का अर्थ खींचातानी करके आकाश या पाषाण अर्थ जो लोग करते हैं वे या तो आकाश में ही त्रिशंकुवत लटकते रहते अथवा अपनी बुद्धि को अपने ही अर्थ पाषाण के नीचे दबाकर चूर चूर

कर देते हैं। बेत नामक प्रसिद्ध तृण काष्ठ को बिना फूलने फलने वाली कहना तो सरासर सत्य का गला घोटना है । अतः इस सोरठे में पान अहिवेलि ही वेंत का समीचीन अर्थ है। आज भारत में पान की पैंतीस जातियाँ पाई जाती हैं—१–अम्वादी २–वँगला ३–विलहरी ४–चेन्नूर ५–चिहुकोड़ी ६–देशावरी ७–गांगेरी ८-काकर ९–काली १०–कलासकोड़ी ११–कुमार १२–कपूरी १३–कानेगली १४–कारापाकु १५–कारीबाली १६–करपूराकोडी १७–कुलजेड १८–कुर्चे १९–कुम्बाला वाली २०–मघई या मगही २१–महोविया २२–नाबकर २३–नन्दनकोड़ी २४–नागवाली (इसी कारण पान को नागवल्ली या नागवेलि कहा जाने लगा) २५–पंधारी २६–परुआ २७–पाऔथी २८–पुट्टुकोडी २९–रावेसी ३०–साँवी ३१–चंदन ३२–सथ्यावरम् ३३–सेउनहा ३४–तैलाकु ३५–वटाकोडी। इन पैंतीस जातियों में किसी में भी फूल या फल नहीं होता । ताम्बूल वीटिका–पानबीड़ा के रूप में खाये जाने वाले पान–वेत के सदृश्य जंगल में अन्य अनेक लतायें होती हैं उनमें कइयों में फूल फल होते होंगे पर वे खाये नहीं जाते रंगून (वर्मा) में वर्मी लोग तम्बूल वीरा खाने वाले पान के पत्ते का साग (भाजी) वनाकर भात से खाते है। ऐसा मैंने स्वयं देखा है ।

शंका–६

"रावण मरण मनुज कर यांचा ।" "नर के कर आपन बधवाँची ।"

"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ वारे ।"

इस तरह दो प्रसंग में केवल मनुज के हाथ से रावण की मृत्यु पाई जाती है। परन्तु तपस्या के समय विधाता से रावण का वरदान माँगना 'बन्दर और मनुष्य इन दो जातियों को विर्वजित करके अन्य किसी के हाथ से हम न मरें' ऐसा माँगा। तब केवल नर के कर बध

क्यों बाँचा या केवल मनुज कर क्यों शिवजी ने कहा ? क्या यहाँ बानर–विकल्पित नर, मनुज–मनु दशरथ के पुत्र दुइ–दो वारे–लड़के ठीक नहीं हो सकता । (पोषणदास जी)

समाधान

शिव ध्यानहुँ पावत न जिहि, पद प्रभाव को अन्त ।
सो पद वन रन महँ फिरत, नमो राम भगवंत ॥

हिन्दी वैयाकरणिक नियमानुसार 'हम' शब्द का बहुबचन में प्रयोग होता है । रावण ने—

हम काहू के मरहिं न मारे ।

क्रिया 'मरहुं' एक बचन न कहकर क्रिया भी 'मरहिं' बहुवचनात्मक कहा अतः इस हम शब्द से मालूम होता है कि रावण अपने से सम्बन्धित सारे परिवार–तत्कालीन अपने राक्षस वर्ग के लिए वरदान माँग रहा है, अर्थात् 'हम–सपरिवार हम लोग' बानर और मनुष्यों इन दो जातियों के अतिरिक्त अन्य किसी के हाथ से कोई न मरें । तात्पर्य यह कि कोई नर के हाथ से तथा कोई बानर के हाथ से मरें । (स्मरण रहे कि स्मृतियों के अनुसार रीछ–भालू, गोलांगूल आदि गिलहरी तक भी बानर की जातियाँ हैं ।) उपरोक्त प्रकार से अर्थ समझने पर शंका के लिए स्थान ही नहीं रहता और बानर एवं मनुज की क्लिष्ट कल्पना भी नहीं करनी पड़ती और वैसी क्लिष्ट कल्पना करने पर भी तो अर्थ की संगति नहीं ही बैठती, क्योंकि रावण को तो अकेले श्रीरामजी ने मारा है । दोनों भाई मिलकर एक साथ ही कभी भी रावण पर प्रहार नहीं करते थे ।

शंका–७

'रवि शशि पवन वरुण धन धारी । अगिन काल जम सब अधिकारी ॥"
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दशमुख वशवर्ती नर नारी ॥

ब्रह्म के सृष्टि के अन्तर जितने शरीरधारी थे वे सब रावण के ही आज्ञानुवर्ती थे (जब ऐसा था तो अंगदजी ने) ऐसा क्यों कहा कि—

सो भुजबल राखेहु उरघाली। जितेहु न सहस बाहु बलि बाली।।

क्या ये सब सहस्रबाहु, बलि, बालि आदि ब्रह्म सृष्टि के बाहर थे या तनुधारी नहीं थे ? तो थे कैसे ?

(पं० किशोरीलाल दीक्षित)

समाधान

अमरताधुरतैकरसास्पदं सदसि वाक्पटुता प्रियता हिता।
भवति यस्य प्रसादत ईश्वरं नमत वानरराजहिाद्भुतम्।।

रावण को जीतने वाले सहस्रबाहु (हैहयाधिप अर्जुन) दैत्य सम्राट बलि और बानराधिप बालि ब्रह्मसृष्टि के भीतर ही थे और तनुधारी भी वैसे ही थे जैसे कि दूसरे लोग। परन्तु—

साम दाम अरु दंड विभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा।।

पहले राक्षसराज रावण में राजा की चारों नीतियाँ थीं, इसी से रावण ने जिन्हें बल से न जीत सका, उनके साथ मैत्री कर लिया था। हाँ सहस्त्रार्जुन के साथ मैत्री करने की बात पुराणों में नहीं मिलती परन्तु सहस्रबाहु हैहयाधिप अर्जुन जब भगवान परशुराम जी के हाथों मारा जा चुका उसके बाद की बात है कि—

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दशमुख बशवर्ती नर नारी।।

अतएव विचार करने पर शंका के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता है।

शंका ७

हनूमानजी ने रावण से बालि का मर जाना बताया था—

खर दूषन त्रिशिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलशाली।

तब रावण ने अंगद से क्यों पूँछा कि—

अब कहु कुशल बालि कहँ अहई ।

क्या रावण को हनूमानजी की बात का विश्वास नहीं हुआ था ?

(कृष्ण प्रसाद सिन्हा पलामू)

समाधान

मातु सीय अवधेश्वरी, बत्सलता भरि पूरि ।
अति अज्ञान कुमार शिर, देहु पद कमल धूरि ॥

रावण एक वर्ग (राक्षस वर्ग) का शासक था और सफल शासक था। शासक की सफलता तभी है जब उसकी प्रजा सुखी-सब प्रकार से सुखी रहै। श्रीसीता हरण के पूर्व रावण की सारी प्रजा सब प्रकार सुखी थी—

सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ।

शासक [राजा] के अनन्त गुणों में चार गुणों की प्रधानता रहती है—

साम दान अरु दंड विभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा ॥

ऐसा कहने वाले अंगद जी के मत से भी कीटपात के पूर्व क्षण तक रावण में चारों गुण थे। रावण को बालि की मृत्यु का पूर्ण विश्वास है यह रावण की बात से ही सिद्ध है—

'रहा बालि बानर मैं जाना ।'

"रहा" अर्थात् कभी था अब नहीं है, परन्तु भेद नीति से अंगद को अपनी ओर फोड़ लेना चाहता है इसी से व्यंग पूर्वक कहता है कि—

'अब कहु कुशल बालि कहँ अहई ।'

जैसे व्यंग से रावण ने पूँछा उसी तरह व्यंग पूर्वक अंगदजी ने उत्तर दिया कि—

दिन दशगये बालि पहँ जाई । पूछेंहु कुशल सखा उर लाई ॥
राम विरोध कुशल जस होई । सोसब तुमहिं सुनाइहि सोई ॥

और अन्त में कह भी दिया कि तू जो मेरे हृदय में भेद डालना चाहता है वह तेरी भेद नीति सफल नही हो सकती क्योंकि—

सुनु शठ भेद होइ मन ताके । श्री रघुबीर हृदय नहिं जाके ॥

शंका—८

सत्य नगर कपि जारेऊ बिनु प्रभु आयसु पाइ ।
फिरि न गयउ निज नाथ पहिं तिहि भय रहा लुकाय ॥

अंगदजी लंका दहन की बात जानते थे हनुमानजी छिपे भी नहीं थे सो ऐसा क्यों कहा ?

(लक्ष्मी धर पाठक)

समाधान

प्रति उत्तर प्रति परम पटु प्रेम राम पद पीन ।
जयरण बाँकुर बालि सुत, दास्य भक्तिरस लीन ॥

रावण ने अपने बल के वर्णन और श्रीराम दल की निर्बलता वर्णन प्रसग में कहा था कि—

तुम्हरे कटक माझ सुनु अंगद । मोसन भिरहि कवन जोधा बद ॥

है कपि एक महाबल शीला ॥ "आवा प्रथम नगर जिहि जारा ।"

इसी पर अंगदजी "सत्य नगर.... रहो लुकाइ ।" कह रहें हैं

अर्थात् अंगद को लंका दहन का बृतान्त मालूम था तभी तो 'सत्य नगर कपि जारेउ......रहौ लुकाय। पहले सुनाया था पर उसी कपि के मुख से, अन्य कोई प्रमाण नहीं मिला था किन्तु उसे अपने मुख अपनी अपनी प्रशंसा भी कही जा सकती थी। हाँ अब स्वयं तुम्हारे मुख से तुम्हारे नगर का मेरे बन्दर द्वारा जलाया जाना सुनकर अब उसकी बात को सत्य जाना। अतः अब यह तो निश्चय हो ही गया कि मेरे उस कपि (श्री हनुमान जी) ने तुम्हारा नगर जला दिया परन्तु उन्होंने तुम्हारा नगर अपने मन से या तुम्हारी मूर्खता एवं तुम्हारे अत्याचार के कारण ही जलाया था। प्रभु की आज्ञा नगर जलाने के लिए नहीं थी प्रभु की आज्ञा तो मात्र इतनी ही हुई थी कि—

वहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल विरह वेगि तुम आयहु।

बानर राज श्री सुग्रीव जी ने भी यही आज्ञा दिया था कि—

जनक सुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयहु भाई॥

और समुद्र तट से लंका (इस पार) आते समय हमारे मंत्री प्रवर जाम्बवान ने भी यही कहा था कि—

इतना करहु तात तुम जाई। सीतहि देखि कहौ सुधि भाई॥
तव निज भुजबल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपिसैना॥

कपिसैन संग सँहारि निशिचर राम सीतहिं आनि हैं।
त्रैलोक पावन सुयश सुर मुनि नारदादि बखानि हैं॥

आदि। अतः प्रभु की आज्ञा विना ही उन्होंने तुम्हारा नगर जलाया था [यदि तुम इन्कार कर गये होते तो एक लघुअल्प बानर द्वारा राक्षसेन्द्र रावण के नगर जलाने का केवल उसी की बात को सुनकर किसी को सहसा विश्वास न पड़ जाता—

रावण नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥

नगर जलते समय तो तुम उसके बल को देख ही चुके हो जिस बल की धाक कि अभी भी तुम्हारे हृदय को शाल रही है त

तो तुम निःसंकोच भाव से इस समय भी कह रहे हो कि—

है कपि एक महाबल शीला ।

परन्तु वह बल शील बानर फिर भी आया है कहीं चला नहीं गया है । वह इस समय भी "निज नाथ यहां श्रीरामजी के पास है और श्रीरामजी इस समय तुम्हारे नगर की उत्तरी सीमा दबाये हुए सुवेल पर ठहरे हुए हैं और वहीं वह महावली कपि भी है । अतः अव तुम उस महाबलशीला कपि के भय से "लुकाय रहौ" अर्थात् भाग कर कहीं छिप जाओ नहीं तो वह महाबल शील कपि तुम्हारी क्या दशा करैगा, इसका अनुमान तुम स्वयं कर सकते हो ।

इस तरह पूर्वापर के विचार से समझने पर स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि अंगद ने श्रीहनुमानजी का छिपना नहीं कहा था । आपने "रहौ लुकाय" पाठ रखकर प्रश्न किया है परन्तु आज कल के संशोधक पंडितमानियों ने "रहा लुकाय" पाठ रखा है तो भी अर्थ उपर्युक्त प्रकार से ही होगा क्योंकि अवध के ग्राम्य प्रयोगों में "लोट" का ऐसा ही व्यवहार होता है कि 'तु अमुक काम ऐसे करा, लिखि राखा, जाइ आवा खाइ ल्या, लुकाइ रहा, छिपि रहा' आदि अतः "लुकाय रहा अवधी ग्राम्य गिरात्मक प्रयोग है जिसका अर्थ तुम लुकाइ छिप जावो ही व्यवहृत अर्थ है ।

दोहे के उत्तरार्ध में यदि कहा जाय कि हनूमानजी छिप गये तो वह भी ठीक हो सकता है क्योंकि हनुमान आदि सभी वानर गण श्रीरामजी के पास से विदा होकर सीतान्वेषण में गये थे । अतः लौटकर सीधे वहीं श्रीरामजी के पास ही पहुँच जाना उचित था परन्तु ऐसा न करके पहले सुग्रीव के पास जाना ही "लुकाइ" रहना है । और सुग्रीव की ओट में होकर वहां श्रीरामजी के पास जाने पर भी जामवन्त के द्वारा साधारण रूप से समाचार कहना भी लुकाने की पुष्टि कर देता है । [नवीन संशोधक पुंगवों ने "सुग्रीव पहिं" पाठ

रख दिया है परन्तु प्राचीन पाठ "निज नाथ पहिं" ही है और शंका कार ने (निज नाथ) पाठ मानकर ही शंका किया है। इसी से 'निज नाथ' पाठ के अनुसार समाधान भी किया गया है।]

एक संस्कृत के कवि ने तो अंगद की इस सभा चातुरी को बड़े रोचक ढ़ग से रावण–अंगद के प्रश्नोत्तर रूप में लिखा है कि–

कस्त्वं वानर। रामराज्य भवने लेखार्थ संवाहको।
यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्ध लंका पुरः।
बद्धो राक्षस सुनुनेति बहुशस्संताडितस्तर्जितः।
स व्रीड़ाचास्त पराभवो वनभृगः कुत्रेति न ज्ञायते॥

शंका–९

लंका स्थित अंगदजी ने रावण के चार मुकुट चलाये थे इधर श्री सरकारी सेनाओं में बन्दर भालू देखकर भागने लगे सोचते हैं—

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिन हीं लूक परन विधि लागे॥
की रावण करि कोप चलाये। कुलिश चारि आवत अति धाये॥

बन्दरों ने लूक और कुलिश का अनुमान किया किन्तु श्री सरकार ने उससे भी अधिक प्रभाव सूचक शब्दों में अभय किया—

कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न अशनि केतु नहिं राहू॥

क्या राहु केतु भी आकाश से गिरते हैं या राहु केतु नहीं हैं कहने का कुछ विशेष अभिप्राय है।

(पं० राम रक्षित शुक्ल रामायणी विलासपुर)

समाधान

सीय पदांगुलि जे नख रजित जे नखरा जित मानिक चोरैं।
चिन्तत ही मन चिन्तमणीन मुवैभव आनि सजावत धोरैं॥

माँगन चाह मिटाइ महानिबनिहुँ से जन को मन मोरैं ।
श्रुति शास्त्र अनन्त अनन्त प्रभाव बताव 'कुमार' कुमारग छोरैं ।।

रावण के चारों मुकुट प्रकाशमय हैं क्योंकि मणि जटित हैं । सुविचारित होने पर चारों नीतियाँ प्रकाशमय होती हैं । लूक, अशनि और केतु इन तीनों में तो प्रकाश प्रचुर मात्रा में है परन्तु राहु में प्रकाश नहीं है, राहु प्रसिद्ध ग्रह होते हुए भी घोर तम रूप काला वर्ण वाला है इसी से इसका नाम तम भी है । इसी से राहु दिखाई नहीं पड़ता यद्यपि सदैव आकाश में ही रहता है । परन्तु परम प्रकाशमय ग्रह चन्द्रमा अथवा सूर्य के अति सन्निकट आजाता है तो उसका तमः रूप लोक लोचन लक्षित हो जाता है । इसी से तीन प्रकाशमान लूक, अशनि और केतु के साथ राहु को भी प्रकाश मान कहा गया ।

अभिचरित प्रयोग होने से ग्रहगण धाइ कर गिरते हैं और ग्रह होने से राहु एवं केतु का धाइकर गिरना सम्भव है । इसी से कहा गया कि ये रावण के प्रयोग किये गये लूकादि नहीं हैं । बानरों ने लूक और बज्र समझा कि या तो चार लूक टूट रहे हैं या रावण प्रेरित चार कुलि शास्त्र आ रहे हैं । श्री रामजी ने चारों मुकुटों को चार चीजें कहा कि ये लूक, अशनि, केतु और राहु नहीं हैं अपितु रावण के मुकुट हैं । अंगद जी ने लका से लौटने पर कहा कि वे चारों मुकुट नहीं हैं प्रत्युत साम, दाम, दण्ड और भेद नामक राजाओं के प्रधानतः चार गुण हैं ।

लूक—लूक का रूप पीतिमा लिए हुए सभी देखते हैं । सामनीति और लूक की एकांशिक समता यह मालूम होती है कि एक तारामण्डल चलकर दूसरे तारा से मिलता हुआ मालूम देता है अर्थात् एक प्रकाश मय लम्बी रेखा दो तारागणों से सम्बन्ध करती मालूम देती है और सामनीतिमैत्री = शुद्ध मैत्री दो व्यक्तियों के बीच में एक प्रकाशमान रेखा बनकर दोनों को मिलाती है । जिस मुकुट में पीतमणि पुखराज जड़े

थे उसे शायद लूक कहा गया ।

अशनि–'अशनिः स्त्री पुंसयोः स्याच्चंचलायापवावपि ।'
(मनोरमा कोश)

'अश्नुते व्याप्नोति तेजसा विश्वम् अशू व्याप्तौ ।'

मेघोत्पन्न तेज अर्थात् विद्युत् को विद्युदग्नि

कुलिश–कुलिनः पर्वतान् श्यति विद्युत अथवा बज्र अथवा बज्रास्त्र ।

'स्कंधांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शायत उपपृक पृथिव्याः
(ऋग्बेद मंडल १ सूक्त ३२,मंत्र ५)

अशनि और कुलिश का एक अर्थ है चारों मुकुट मणि जटित होने से प्रकाश सम्पन्न हैं विद्युत प्रकाश से अभिभूत होने से बन्दरों ने चारों को लूक या कुलिश कहा था परन्तु जो हीरक जटित था उसे श्रीरामजी ने अशनि अर्थात् कुलिश कहा क्योंकि हीरक-वज्र-कुलिश और अशनि पर्याय वाची शब्द हैं—

ह्लादिनी बज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः ।
शतकोटिः स्वरुः शम्बो दम्भोलिरशनिर्द्वयोः ।।
"बज्रोऽस्त्री हीरके पवौ ।"

(अमर कोश)

बज्र पहाड़ों को तोड़ फोड़ डालता है । संभवतः इसी मुकुट को अंगदजी ने दण्ड नीति का प्रतीक कहा हो ।

केतु—राहु और केतु आकाश से ही गिरते हैं, इनमें केतु बहुत हैं और कई स्थानों से उत्पन्न होते हैं । बृहत्संहिता के ग्यारहवें अध्याय में वर्णन है कि गर्गादि ज्योतिर्विदों के मत से एक हजार केतु हैं । किन्तु पराशरादि के मत से एक सौ केतु हैं और नारद का कहना है

कि केतु एक ही है अवस्था भेद से नाना देख पड़ता हैं। (विश्व कोश) केतु कई स्थानों से उत्पन्न होता है विश्व कोश में वर्णित है कि चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले केतु का वर्ण चन्द्रकिरण हिम रौप्य कुमुद वा कुन्दकुसुम की भाँति होता हैं इसका गमन उत्तर ओर फल सुमिक्ष हैं स्निग्ध श्वेत मणि जटित मुकुट की उपमा केतु से दी गई होगी और सम्भवतः अंगदजी ने इसी मुकुट की तुलना दाम नामक राजनीति से किया होगा। क्योंकि दाम का फल भी सुभिक्ष है।

राहु—राहु तमोमय है इसी तरह भेद नीति तमोमय अर्थात् तमो गुण प्रधान नीति है तभी तो अंगद जी ने रावण से कहा था कि—

सुनु शठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुवीर हृदय नहिं जाके ।।

जैसे सर्व जगत्प्रकाशक परम प्रकाशमय भगवान् भुवन भास्कर में सभी प्रकाश मय रंगों के साथ काला रंग भी रहते हुए सूर्य को दोषावह नहीं बना सकता उसी तरह एक सर्वगुण सम्पन्न चारित्र्यशील राजा में अन्यान्य गुणों के साथ तम–काला वर्ण रूप भेद नीति दोषाकर न होकर गुणावहत्व का सहकारी ही होता है। जिस मुकुट में काले रंग की ही मणियाँ जटित थीं उसे ही राहु एवं भेद नीति से अभिहित किया जाना ज्ञात होता है।

शंका १०

सभा मांझ प्रण करि पद रोपा।

जो मम चरण सकसि शठ टारी, फिरहि राम सीता मैं हारी।

यह प्रण रावण को लक्ष्य करके ही किया गया था, तब अंगद ने रावण को पैर उठाने क्यों नहीं दिया? रावण के उठते ही अंगद ने पैर क्यों हटा लिया? रावण अंगद का पैर हटा न देता इसका क्या

सबूत ? यदि कहा जाय कि काका होने के नाते रावण को पैर नहीं छूने दिया यह विवेक है। तो रावण को शठ, मूर्ख, अधम, कामी, खल आदि विशेषणों से भरी सभा में उसे सम्बोधित करना, अंगद के लिए कहाँ का विवेक हो सकता है ?

तृणते कुलिश कुलिश तृण करई, तासु दूतपग कहुकिमि टरई

परीक्षा हुए विना, शिव जी का यह फैसला क्या पक्षपात पूर्ण नहीं है।

(महान्त श्री देवदास जी देव डाकोर)

समाधान

रँगो राम रसरंग, वीर बांकुरो बालि सुत।
प्रभु पद पकज भृंग, भक्ति भाव भावित हृदय ।।

अंगद जी ने न तो रावण से यह कहा कि तुम मेरा पद मत उठाओ और न तो अपना पैर हटाया ही उन्होंने तो रावण से ही पैर हटाने के लिए कहा ही था, यह मध्य पुरुष का वोधक "जौ शठ ! 'सकसि' ही बता रहा है। "सकसि" शुद्ध रूप से मध्यम पुरुष के लिए है अन्य पुरुष के लिए नहीं। अन्य पुरुष के लिए कहना होता तो 'जे ….. सकहि टारी।' कहा जाता।

मानस या किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थ का यह कहना नहीं है कि अंगद का रावण काका था, या अंगद और रावण में कोई शारीरिक सम्बन्ध था।

जैसे आप कहते हैं कि रावण अंगद का काका था वैसे ही कुछ बुद्धि के शत्रु कहते हैं कि मारीच रावण का मामा था जब कि दोनों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट परिचय मानस में ही है कि—

"माल्यवान अति जरठ निशाचर। रावण मातु पिता—मंत्रीवर।।"

रावण की माता का पिता माल्यवान् निशाचर था और राक्षस

सुन्दोपसुन्द का पुत्र मारीच था ताड़का भी सुकेतु यक्ष की बेटी थी। अतः रावण को मारीच का मामा कहने वाले दया के पात्र हैं। अस्तु-

सुनत फिरा मन अति सकुचाई ।

और उस समय रावण की दशा—

भयउ तेज हत श्री सब गई ।

यदि अंगद को अपना पद रावण से उठवाना स्वीकार न होता तो वे रावण को प्रचारते ललकारते ही नहीं—

उठा आपु कपि के परचारे ।

मानस में शत्रु को प्रचारने का अर्थ शत्रु को अपने पास जोर आजमाई के लिए बुलाना ललकारना कहा हैं—

बार बार प्रचार हनुमाना, निकट न आव मरम सो जाना ।

अंगदजी के पद उठाने मात्र से सीताजी मिल जाने वाली थीं परन्तु वह न हो सकने से ही—

मानहु सम्पति सकल गमाई ।

की दशा रावण की हुई और यहाँ 'गमाई' शब्द भी बतला रहा है कि रावण पद नहीं उठा सका । तभी तो—

रिपु बल धर्षि हर्षि हिय बालि तनय बलपुंज ।

कहा गया है मेघनाद आदि अन्य राक्षस तो हारकर चले गये अपने अपने आसन पर जाकर बैठ गये परन्तु रावण से अंगद का पग जब नहीं उठा तो भी वह हटा नही पग पकड़े हुये ही सुस्ताने लगा यह 'गहत' वर्तमान कालिक प्रयोग बता रहा है । इसी से अंगद ने कहा कि मेरा पग पकड़े क्यों रुके हो—

'मम पद गहे न तोर उबारा । गहसिन राम चरन शठ जाई ॥'

रावण यदि अंगद का पग न पकड़ता तो मन्दोदरी ऐसा न कहती कि—

समा माझ जिहि तुव बल मथा।

अतएव सिद्ध है कि पूर्ण परीक्षा हो जाने पर ही शिवजी ने-
तृण ते कुलिश तृण करई। तासु दूत पग कहु किमि टरई॥
आदि कहा है। यह फैसला पक्षपात पूर्ण फैसला नहीं है।

शंका-११

जौं मम चरण सकसि शठ टारी। फिरहिं रामसीता मैं हारी॥

अंगद ने सीताके हार जाने का प्रण क्यों किया? क्या कोई भी व्यक्ति [चाहे मुनीम हो या दूत हो या भाई हो या कोई भी हो] किसी की पत्नी को [मालकिन या किसी अन्य स्त्री को] जुये में हार सकता है या उसका कोई अधिकार है? अगर नहीं तो अंगद ने स्वामिनी के हारने का वचन क्यों दिया? अंगद का क्या अधिकार था? किसी व्यक्ति का किसी को अपना सर्वाधिकार देने पर भी अपनी पत्नी पर अधिकार देना तो असम्भव ही है। क्या ऐसा अर्थ हो सकता है कि राम और सीता लौट जायेंगे मैं अपने आपको हार जाऊँगा?

(महान्त देवदासजी देवा डाकोरा)

समाधान

अमरवासमहाद्रितनुद्युति ह्यमरनायकशस्त्रनखसृतिम्।
प्रलयपावकलोलविलोचनं नमत वानरराजमिहाद्भुतम्॥

अंगद का ध्येय रावण को नीचा दिखाने मात्र का था कि जिससे रावण लज्जित होकर भी शायद सुमार्ग पर आ जाये। श्रीरामजी के प्रताप पर तो अंगद को पूर्ण विश्वास था ही साथ ही यह भी जानते थे कि सामान्य प्रलोभन देने से रावण कभी नहीं उठेगा और बिना उठे उसे लज्जित नहीं किया जा सकता इसी से बहुत बड़ा

प्रलोभन दिया कि मेरा चरण अपने स्थान से हटा देने मात्र से श्रीसीताजी तुम्हें मिल जावेंगी, श्रीरामजी चुपचाप लौट जावेंगे । अंगद जी के हृदय में तो विश्वास था ही कि श्री राम जी के प्रताप से मेरा पैर कोई हटा ही नहीं सकता । श्रीगोस्वामीजी ने अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

"राम प्रताप सुमिरि कपि कोपा । सभा मांझ प्रण करि पद रोपा ।।"

'तिहि समाब कियो कठिन प्रण जिहि तौलेउ कैलाश ।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं कि सेवक को विश्वास ।।'
(दो०वा० १६७)

'रोप्यो पाँव पैजकै विचारि रघुवीर बल' (कवि०)

परन्तु जब स्वय रावण ही—

उठा आपु कपि के परचारे ।

और अंगद के पाँव नहीं छोड़ा जोर आजमाई करता ही रहा तब अंगद ने सोचा यदि यह भी कुछ देर के बाद और सबकी तरह जाकर शिर नवाकर बैठ जायेगा तो इस सम्बाद से मेरे प्रभु की बदनामी होगी, अभी तो रावण यह कह सकता है कि मैंने छोड़ ही दिया अन्यथा वानर का पैर हटा ही देता । भला जब कि मैं रावण के मारने में भी अपने प्रभु की बदनामी सेडरता हूँ ।

जैसा कि प्रथम ही कहा था—

जो न राम अपमानहिं डरऊँ । तेहिं लखत अस कौतुक करऊँ ।।

तोहिं पटकि महिसेन हति चौपट करि तुव गाउँ ।
तुव जवतीन समेत शठ जनक सुतहिं लइ जाउँ ।।

रावण से भी मेरा पाँव न हटने पर रावण के निराश होकर अपने से लौट जाने पर मेरे प्रभु की बदनामी होगी कि अरे ओ रावण

एक बन्दर का पाँव न हटा सका उस रावण को यदि श्रीरामजी ने मार ही डाला तो कौन बड़ी बात हो गयी, वह तो एक साधारण निशिचर था। किसी क्षेपककार कवि ने रावण की ही उक्ति का उल्लेख किया है कि—

गिनती कवनि वीर महँ तिनकी। कपि दुर्दशा कीन अति जिनकी।।

अस्तु प्रभु का अपमान सोचकर ही अंगद ने अपनी प्रखुर प्रज्ञा से काम लिया। अपने पाँव के पकड़े रहकर रावण के झुके रहने से कहा कि—

मम पद गहे न तोर उबारा।
गहसि न राम चरण शठ जाई।।

निष्कर्ष यह कि अंगद ने किसी अधिकार पर श्रीसीताजी के हारने की बात नहीं कही थी अपितु श्रीरामजी के विश्वास पर ही वैसी प्रतिज्ञा किया था। यद्यपि कि अंगद को श्रीरांमजी ने पूर्णअधिकार दिया था कि—

काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई।।

और रावण ने भी "प्रतिनिध्रि को सर्वाधिकर होता है।" नियम के अनुसार ही अंगद की बात मानकर आज्ञा दिया था कि—

गहि पद धरणि पछारहु कीशा।

तथा—"**उठा आपु कपि के परचारे।**'

श्रीरामजी का प्रतिनिधि जानकर ही रावण ने अंगद पैजपर विश्वास कर लिया था। प्रतिनिधि के नाते ही रावण ने कहा कि—

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद।

वहाँ राम के कटक माँझ "या" सुग्रीव के कटक माँझ नहीं कहा था। परन्तु अंगद ने तो प्रभु प्रताप पर पूर्ण विश्वास करके ही

इतनी कठिन प्रतिज्ञा किया था और उसी प्रभु प्रताप से ही अंगद सफल भी हुए। यदि अंगद अपने आपको हारने का प्रण करते बाजी लगाते तो रावण का क्या फायदा होता जब सीताजी को लेकर राम जी चले ही जाते और तब हारे हुए अंगद को लेकर रावण का कौन लाभ होता। अंगद अपने आपको हार रहे हैं यह अर्थ तो सर्वथा बालभाषित मात्र है।

शंका—१२

कवित्त रामायण लंका कांड सवैया ३७ के तीसरे चरण में "परे भ्रम बात न भूतल आये" लिखा है। सभी टीकाकारों ने बवंडर लिखा है। बड़ी आशा से सिद्धान्त तिलक मँगाया परन्तु उससे भी आशा पूरी नहीं हुई उसमें ४५ मीलसे ऊपर भ्रम बात का होना कहा जाता है ऐसा लिखा है। ठीक है उसके पहले की किसी टीका में जब नहीं है तो उस सिद्धान्त तिलक में कहाँ से आती। वह 'भ्रम बात' क्या है ?

(राजीवलोचनदास रामायणी)

समाधान

जय जय जय हनुमान, महावीर अंजनि तनय।
रामप्रेम शुचिदान, देइ 'कुमार' कृतार्थ करु॥

मेरे इस समाधान से आपकी आशा पूरी होगी ही ऐसा दावा मैं नहीं कर सकता, फिर भी आत्म संतोषार्थ लिख रहा हूँ। पृथ्वी से ऊपर ब्रह्म लोक तक में सात वायु मंडल हैं प्रवह वायु नामके द्वितीय मंडल का एक उपमंडल भ्रमवात या करह वायु है।

त्रिस्रोतसं वहति यो गगन प्रतिष्ठां,
ज्योतींषि बर्तयति चक्र विभक्त रश्मिः।

तस्य व्यपेतरजसः प्रवहस्य वायोः
मार्गो द्वितीयहरिविक्रमपूत एषः ॥
(अभिज्ञान शाकुन्तलम्)

इस श्लोक की किशोर केलि संस्कृत टीका में बहुत प्रमाण उद्धृत हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

१—भू बायुरावह इति प्रवहस्तदूर्ध्वं,
स्यादुद्वहस्तदनुसंबहसंज्ञकश्च ।
अन्यस्ततोऽपि सुबहः प्रतिपूर्व कोऽस्माद्,
बाह्यापरावह इमे पवनाः प्रसिद्धः ॥
(सिद्धान्त शिरोमणौ)

२—आवहः प्रबहश्चैव तथैवानुबहः परः ।
संबहो बिवहश्चैव तद्ध्वं स्यात् परावहः ॥
तथा परिबहश्चोर्ध्वं वायोर्वै सप्तनेमयः ॥
(इति महाभारते)

३—सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणिग्रहैः सह ।
बातानीकमयैर्बन्धैध्रुवैर्बद्धानि तानि च ॥
(इति बिष्णु पुराणे)

४—भचक्रं ध्रुतयोर्बद्धमाक्षिप्त प्रबहानिलैः ।
पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथा क्रमम् ॥
(इति सूर्य सिद्धान्ते)

५—अदृश्यरूपाः कालस्यमूर्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्रमन्द्रोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥

तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सब्येतर पाणिभिः ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथा सन्न खदिङ् मुखम् ।।
(इति सूर्य सिद्धान्ते)

६–भूमेर्बहिर्द्वादश योजनानि
भू बायुरत्राम्बुद विद्यु‌दाद्यम् ।
तद्दूर्ध्वगोयः प्रवहः स नित्यं
प्रत्यग्गतस्तस्य तु मध्यसंस्था ।।
नक्षत्र कक्षाः खचरैः समेता
यस्मादतस्ते न समागतोऽयम् ।
भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो
भ्रमत्यजस्त्रं प्रबहानिलेन ।।
(इति सिद्धान्त शिरोमणौ)

सारांश यह कि भूवायु (आबह)१, भ्रमबात (प्रवह)२, उद्वह अथवा अनुबह वायु ३, संबह वायु ४, सुबह अथवा विबह वायु ५, पराबह वायु ६ और परिबह वायु ७ । वायु के ये सात मडल हैं । इनमें पृथ्वी से लेकर ऊपर बारह योजन लगभग १०० मील या १५० किलोमीटर के लगभग तक भूबात अर्थात् आबह वायु है इसी में मेघ एवं विधुत आदि रहते हैं । भूबात के ऊपर अर्थात् बारह ऊपर योजन के ध्रुव कक्षा तक प्रवह वायु है । ऐसे ऊपर अन्य वायु मंडल हैं । प्रत्येक वायुमंडल के सात भेद एवं कुल उन्चास उपभेद हैं । प्रबह वायु का एक प्रभेद भ्रम बात या चक्रवात अथवा वात्याचक्र है । प्रत्येक बायु के विस्तार प्रस्तार की एक निश्चित सीमा है । यह भ्रमबात भी अपनी सीमा के नियत स्थान में चक्राकार (बवंडरवत्) बहता रहता है । उस

वायु मंडल में पड़ा पदार्थ वहीं घूमता रहता है जब तक कि उसका अस्तित्व सड़ गल कर नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि वह पदार्थ पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की सीमा से बाहर हो जाता है। श्री हनुमान जी के फेंके राक्षसगण उसी भ्रमबात (करह वायु) के बवंडर में पड़ गये।

महाभारत युद्ध में भीमसेन के द्वारा फेंके गये भगदत्त के कुछ हाथी भी उसी भ्रमबात में पड़कर घूमने लगे थे। जब वैशम्पायन जी ने राजा जन्मेजय से कहा कि वे भीम के फेंके हाथी अभी भी भ्रमबात में पड़े घूमते हैं। इस पर जन्मेजय ने अविश्वास प्रगट किया तब वैशम्पायन जी ने मंत्रबल से कई हाथियों के अस्थि पंजर वहाँ से हस्तिनापुर में उतारकर दिखाया। देखिये महाभारत सार आदि पर्व अध्याय २ श्लोक सात से ९ तक—

जन्मेजय महाराज कुरुक्षेत्रे महाशुभे।
भीमेनोच्चाटताऽद्यापिमातंगा उच्चलन्ति हि। ७।
एवं सम्भाषितो व्यासो राज्ञा जन्मेजयेन च।
शिरः प्रकम्पितं तत्र तद्वचो नैवमानितः। ८।
तदा व्यासेन गगनाद् वायुनाऽऽकृष्य तत्क्षणात्।
पातिताः कटितुंगाश्च हस्तिनापुर मध्यतः। ९।

शंका—१३

मैं एम०ए० फाइनल में तुलसीदासजी की कवितावली को लेकर निबन्ध लिख रहा था उसमें लंका कांड के पचासवें कवित्त में "गूदा सानि सानि खात सतुआ से०" आया है। तो सतुआ क्या है? टीका कारों ने तो सत्तू लिखा है। इधर दक्षिण भारत में सत्तू या सतुआ को क्या कहते हैं?

(शिवनाथ अइयर एम०ए० त्रिपरीपल्ली मद्रास)

समाधान

राम बिजय रावन मरन सीय मिलन बल जासु ।
पवन तनय हरि भक्ति हित शिर कुमार पद तासु ।।

दक्षिण भारत में सत्तू को क्या कहा जाता है मैं नहीं जानता संस्कृत में "सक्तु" कहा जाता है । भारत के जिस प्रदेश में जौ गेहूँ प्रचुर मात्रा में प्रधान रूप से उत्पन्न होता है वहाँ सर्वत्र सत्तू बनाने खाने की प्रथा है। 'पाक प्रकाश और मिठाई" नामक ग्रंथ जो नवल किशोर प्रेस लखनऊ से सं०१९९४ विक्रमी में प्रकाशित हुआ था उसमें आठ प्रकार से सत्तू बनाने की विधि लिखी हैं जौ और जीरा सबमें है। सृष्टि के आरम्भ से ही "सक्तु" (सत्तू–सतुवा) आर्यों का वैदिक खाद्य रहा आया है। कुछ प्रमाण ये हैं—

१–सक्तुमिव तितिउना पुनन्तः ।

(ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ७० मंत्र २)

२–धाना करम्भः सक्तवः ।

(यजुर्वेय काण्व संहिता २१।२१,
यजु० वाजवसनेणी सं० १९।२१)

३–यन्मन्थिनं सक्तुभिः श्रीणाति ।।

(यजु० मैत्रायणी सं० कां०४ प्रपाठक ६ अनु३)

४–आसन्धामासीन्सक्तुभिरुपमथ्य सोम पिवति ।।

(यजु० मैत्र० सं० कांड ४ प्रयाटक ६ अनुवाद३)

५–यथा निद्धूंत सक्तुः ।।

(यजु० शतपथ ब्रा० कां० १ अध्याय६ ब्रा३, मंत्र १६)

६–गर्वेधुका सक्तुभिर्जुहोति ।

(यजु० शत० प० ब्रा० ९।१।१।८)

आयुर्वेद के मत से सत्तू के गुण—

सक्तुकं शीतलं हृद्यं बल्यं दीपनं लघु ।
लवणेन त्रिदोषघ्न शर्करया कफ बात कृत् ॥

सत्तू जव और कलाय = सफेद बड़ी मटर मिलाकर बनता है जव के गुण—

यवो कलायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदु ।
व्रणेषु तिलवत् प्रथ्यो रुक्षो मेधाग्नि वर्द्धनः ॥
(भाव प्रकाश नि०)

सफेद मटर बड़ी (कलाय) के गुण—

कलायो मधुरः स्वादु पाके रुक्षश्च शीतलः ।
रक्तहा कफपित्तघ्नो भिन्नविट्कोति बातलः ॥
(भाव प्रकाश नि०)

सत्तू बनाने की विधि—

तीन सेर जो को साफ (अमनियाँ) करके एक घंटा तक पानी में डुबाकर भीगने दे तब पानी से निकालकर कपड़े या सूखी जमीन पर दस मिनट फैलाकर छाया में हवा लगने दे तब खूब तेज बालू से भूने । मटर दो सेर को चार घंटे तक भिगा फुलाकर तब भुनावै । दोनों अलग अलग ओखली (काँडी) में छाँट पछोरकर बालू एवं भूसी आदि निकालकर दोनों एक में मिलकर खूब महीन (मैदा सरीखे) पिसाले । आधी छँटाक जीरा आग पर तवा रखकर भून ले वह भी जब मटर के साथ पीस ले । स्मरण रहे जाँता में हाथ से पिसा सत्तू ही गुणकारक है बिजली की चक्की से पिसा पूर्ण गुण कारक नहीं है । जहाँ कलाय सफेद बड़ी मटर की अधिकता नहीं रहती वहाँ चना मिलाया करते हैं परन्तु चना भूनने पर बात और पित्त को प्रकुपित

करने वाला हो जाता है । यथा—

शुष्क भ्रष्टोऽतिरुक्षश्च बातपित्तप्रकोपनः ।

जव और मटर के शीतल गुण होने से सत्तू को कहीं कहीं शीतल बुकनी भी कहते हैं और तुरन्ता तो है ही ।

नमक के साथ सत्तू त्रिदोष नाशक है और गुड़ या चीनी के साथ खाने से बात और कफ करता है । सत्तू को ढीला सानकर खाना चाहिए । कड़ासान कर सत्तू खाने से दुर्जर हो जाता है । केवल जौ का ही भूना पिसा चूर्ण यवागू कहा जाता है । मेष संक्रान्ति के दिन सत्तू के दान का विधान है—

मेषादौ सक्तवो देया वारि पूर्णा च गर्गरी ।

(वाचस्पत्यम्)

शंका—१४

अस मैं सुनाश्रवन दश कंधर । पदुम अठारह यूथप बन्दर ।।

यदि एक सेनापति के अन्दर सौ सौ सिपाही ही माने जांय तो सैनिक बानरों की संख्या महाशंख में चली जाती है । दूसरे दिन की लड़ाई में मेघनाद ने सब बानरों को दश दश वाण मारा था—

दश दश शर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर ।

सो कपि भालु न रन महँ देखा । कीन्हेसि जिहि न प्रान अवशेषा ।।

तो महा शंख के भी दस गुने बाण हुए, मेघनाथ ने इतने बाण कैसे किस चीज पर ढोया था ? क्या यहां गोस्वामीजी का अलंकारिक वर्णन तो नहीं है ? (कृष्ण प्रकाश सिनहा पलामू)

समाधान

महासुभट सुरपति जयिहिं बधत म कीन्हे वार ।
सानुकूल सो लखन नित नारायण अवतार ।।

क–लंका के युद्ध में चार मोर्चे थे चारों पर एक साथ ही लड़ाई होती थी इसी से श्रीरामजी के समर मंत्रियों = विभीषण, सुग्रीवादिकों ने सलाह मत्रणा करके चारों मोर्चों पर चार वानर वाहिनी नियत किया था। सेना का एक वृहत् भाग रामजी के पास रहता था।

तब कपीश रिच्छेश विभीषन। सुमिरि हृदय दिनकर कलभूषन ॥
करि विचार तिन मंत्र दृढावा। चारि अनी कपि कटक बनावा ॥

यथा योग सेनापति कीन्हे।

लंका के पश्चिम द्वार पर जो मोर्चा था उस द्वार पर संरक्षक लंका का सबसे बढ़कर शूरमा रावण का जेष्ठ पुत्र एवं लंका का युव-राज इन्द्र विजयी मेघनाद था। इस कारण उस द्वार का टूटना कठिन था अर्थात् मेघनाद को पराजित करने में श्रीहनुमानजी के लिए भी थोड़ी देर के लिए कठिनता का अनुभव होने लगा—

निज दल विचल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना ॥
मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई ॥

मेघनाद जिस द्वार पर लड़ने गया उस मोर्चे पर जितने बानर भालु थे उन सबको दश-दश वाण मारकर प्राणावशेष कर दिया था न कि चारों मोर्चे के समस्त बानर भालुओं को।

ख–मेघनाद ने घोर तप एवं अनुष्ठान करके अपने इष्टदेव से दिव्य रथ एवं अक्षय तरकस प्राप्त किया था जिसे उसने स्वयं रावण से कहा था।

इष्टदेव सन बल रथ पायउँ। सो बल तात न तुमहि सुनायउँ ॥

इसलिए उसके साथ वाण गाड़ियों पर ढोने नहीं पड़ते थे। यह गोस्वामीजी का आलंकारिक वर्णन नहीं है। अपितु नितान्त सत्य है।

शंका–१६

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।...

लागि तृषा अति शय अकुलाने ।......

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सबविनु जलपाना ॥

तात्पर्य यहां सबकी ऐसी दशा हो रही है पर श्रीहनुमानजी को प्यास न लगी क्यों ? परन्तु जब लक्ष्मण शक्ति पर औषध लेने "चला प्रभंजन सुत बल भाषी।" हनुमंत लालजी कितने वेग से जा रहे हैं वह प्रभंजन सुत से ही प्रगट है । इसके पश्चात् "रावण काले नेमि गृह धावा" ....बहुत सी बातें हुई पश्चात् कालनेमि चला और हनुमानजी से पहले कैसे पहुँच गया जो "मारुत सुत देखा शुभ आश्रम।" और इन्हें यहाँ क्यों प्यास लग गई ?

(राम प्रताप शरण श्री वैष्णव फुसरू बाजार हजारी बाग)

समाधान

पवनज गति पावन परम परतम प्रभु पद प्रीति ।
पालत नीति परेश जय जन हित कर नइ रीति ॥

प्यास की वृद्धि (तैजस) अग्नि के प्रभाव से होती है इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता और यह भी सर्व विदित बिषय है कि अग्नि और पवन में मैत्री है । इसी से अग्नि के पुत्र पर पवन और पवन के पुत्र पर अग्नि का पुत्रवत् प्रेम करना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । अतः पवन पुत्र पर अग्निदेव पुत्रवत् स्नेह करते हैं । इसी से हनुमानजी पर उस लंकादहन करते समय अग्नि की तीक्ष्णता का प्रभाव नहीं पड़ा और जो संजीवनी लाने के लिए जाते समय कालनेमि का आश्रम देखकर श्री हनुमानजी को प्यास लग गई थी वह अग्नि की तीक्ष्णता के कारण नहीं और न कालनेमि के माया के ही प्रभाव से प्यास लगी थी प्रत्युत वह प्यास भगवत्प्रदत्त थी । वह इसलिए कि लंका से चलते समय हनुमानजी ने श्रीरामजी के सामने ही अभिमान युक्त वचन कहकर तब प्रस्थान किया था—

चला प्रभंजन सुत बल भाषी ।

पातालतः किमु सुधारसमानयामि,
निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुताहरामि ।।
ब्रह्मण्डतः किं रविं निष्कासयामि लोकं हि मृत्युरहितं-
किमुताचरामि ।। (हनुमद्भवम्)

गीतावली लंकाकांड में इस अभिमान की बात का वर्णन एक पद्य में है। इसी अभिमान के कारण कालनेमि पहिले चला पीछे पहुँचा और उससे आश्रम पर प्यास लगी और इसी अभिमान के कारण ही श्र भरतजी के बाण से मूच्छित होना भी पड़ा था।

शंका-१७

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ।।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता ।।
निज जननी के एक कुमारा। तासु तात तुम प्रान अधारा ।।
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी ।।

इन पंक्तियों में ओहू से क्या तात्पर्य है ? सहोदर भ्राता कैसे कहा गया ? लक्ष्मण जी तो अपनी माता के अकेले नहीं है तब एक कुमार कैसे कहा ? किसने कब सौंपा था ? (लक्ष्मीधर पाठक)

समाधान

श्रीरामचन्द्र करुणालय नित्यभूते,
हे कीशमित्र भरताग्रज जानकीश ।
हे हे अरूप बहुरूपविहारकीर्ते,
मां रक्ष रक्ष सततं खलु पंचवाणात् ।।

महर्षि जैमिनि ने शंका समाधान करने का एक नियम लिखा है कि—

संदिग्धेषु वाक्यशेषात् ।

(पूर्व मीमांसादर्शन १।४।२९)

प्रकरण के अन्तिम वाक्य से सन्देह की निवृत्ति करनी चाहिए।

इसी को स्पष्ट करने के लिए दार्शनिकों ने नियम रखा है कि–

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य निर्णये ।।

(शबर भाष्यम्)

इस प्रकार उपक्रमोपसंहारादि नियमों से विचार करने पर श्री लक्ष्मण मूर्च्छाजन्य श्रीरामजी के प्रलाप सम्बन्धी शंकाओं का समाधान हो जाता है। यह तो मानस प्रेमियों से अविदित नहीं है कि–

नट कृत कपट चरित रघुराया ।
जस काछिय तस चाहिय नाचा ।
कहहु करहु जस प्राकृत राजा ।

इस प्रलाप प्रकरण के उपक्रम आरम्भ) में कहा गया है कि–

इहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुहारी।।

प्रकरण के उपसंहार (अन्त में कहा गया कि–

उमा अखंड एक रघुराई। नर गति भगत कृपालु देखाई।।

प्रकरण की अपूर्वता तो स्पष्ट है ही कि प्रभु परमात्मा होकर भी प्रलाप कर रहे हैं। फल–प्रलाप के परिणाम में देखा गया है कि—

स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ।
प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भयउ बानर निकर ।

अर्थवाद—मृतक से सुनने और उठने के लिए कहना ही प्रभु के लिए अर्थवाद है।

उठहु न सुनि मम वच विकलाई। उठि किन मोहिं सिखावहु भाई ।।

प्रलाप का अर्थ कोषकारों ने निरर्थक शब्द बतलाया हैं—

प्रलापोऽनर्थकं वचः । (अमर कोष)

बिनु समझे कछु बकि उठइ कहिये ताहि प्रलाप ।
देह घटइ मन में बढ़इ बिरह व्याधि सन्ताप ।।
(भूषण चन्द्रिका ४३)

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे न बान्धवः ।
तं देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ।।
(सुभाषित रत्न भाँडागार)

प्रभु यहाँ प्रलाप कर रहे हैं, कारण नरगति का प्रदर्शन करना है। वियोग जन्य या किसी प्रकार के भी दुख में मनुष्य जब विलाप करने लगता है तो शोक वेग बढ़ते बढ़ते वही विलाप-रोदन प्रलाप के रूप में परिणित हो जाता है क्योंकि उस समय—

शोक विवश तनु दशा भुलानी ।

की दशा में मुख से क्या निकलता है इसकी खबर ही नहीं रहती उस समय तो यथार्थ अयथार्थ सब तरह की बातें निकलने लगती हैं वही दशा यहाँ है अतः उपर्युक्त शंकायें अनर्गल हैं क्योंकि वे सब बातें प्रलाप जन्य हैं अतः उनका कोई अर्थ नहीं होता।

इन प्रसिद्ध एवं प्रचलित बातों को पूछते हुए लोग बाल की खाल निकाला करते हैं। परन्तु इसी प्रकरण में जहाँ "ओहू" के लिए सब पूछते हैं वहीं "ताही" को खोज कोई नहीं करता, इसी सहोदर के लिए तो प्रश्न किया जाता है और 'ओहू' 'एक कुमार' 'सहोदर' आदि के उत्तर मे आकाश-पाताल के कुलाबे एक में मिलाये जाते हैं और इन पर अनेक रोचक कहानियाँ गढ़ गढ़कर सुनाई जाती हैं जो सभी कहानियाँ अप्रमाणिक अथच अप्रासंगिक होती हैं।

सहोदर के लिए तो एक साधारण सी नीति भी कही जाती है, जा सकती है कि जगत में सहोदर भाई (बार बार) नहीं मिल

करते । प्राणी प्रथम पुरुष के पेट में जाता है, अतः वैमात्रिक भी सहोदर है । इसी तथ्य को लेकर कच ने देवयानी को सहोदरा कहा था । यहां श्रीराम जी ने यह तो कहा ही नही कि 'तु' मेरे मातृक सहोदर भाई हो ।' या हे सहोदर भ्राता । परन्तु —

सो अपलोक शोक सुत तोरा ।

हे सुत ! तुम्हारा शोक आदि यहां स्पष्ट रूप से सुत सम्बोधन किया है तो क्या लक्ष्मणजी पुत्र थे रामजी के ? नहीं यह शोकजन्य प्रलाप है । इसी तरह दूसरे प्रसंग पर विचार करने से अन्ततः यही निश्चित होता है कि यह सब विलाप प्रलाप नरगति है । प्रलाप में कुछ मिथ्या अतिशयोक्ति, अर्थवादात्मक शब्द आदि सभी तरह की बातें निकला करती ही हैं । कुछ लोग यह भी कह सकते है कि (मर्यादा पुरुषोतम श्रीराम जी भगवान कभी मिथ्या कैसे कह सकते हैं ? जब कि स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं कि —

मृषा न कहौं मोर यह बाना ।

परन्तु ऐसे तर्कबाज लोग यह नहीं विचारते कि मर्यादा पुरुषोत्तमता है क्या चीज? सृष्टयारंभ काल से जगत के लिए लोक वेद के अनुसार बंधे नियम का नाम मर्यादा है । उन सामयिक नियमों का ठीक ठीक पालन करने का नाम मर्यादापुरुषोत्तमता है ।

अनेक नियमो में एक यह भी प्रख्यात नियम है कि—

विवादे विस्मये कोपे हास्ये दैन्य एव च ।
गो ब्राह्मण रक्षायां बृत्यर्थे प्राण संकटे ।।
स्त्रीषुनर्म विवाहेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ।।

(धर्म विवेक माला)

स्त्रीषुनर्म विवाहे च वृत्यर्थे प्राण संकटे ।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ।।

(भागवत ८।१९।४३)

विषादकीदशा में मनुष्य मूर्च्छित तो कम होते हैं परन्तु विक्षिप्त प्रायः हो

जाते हैं और उस दशा में जबकि आधी ही होश हवाश चैतन्यता) रहती है।

मुग्धेऽर्द्ध सम्पत्तिः । (वेदान्तदर्शन ३।२।१०)

में स्पष्ट कहा है। उस शोकाभिभूत मुग्धा (परिक्षिप्ता) अवस्था में, अर्धचेतना अवस्था में मुख से निकला हुआ कोई शब्द मिथ्या मानकर दोषावह नहीं माना जाता, अतः वह प्रमाणीभूत नहीं है। इसलिए यहाँ श्रीरामजी ने विषाद मुग्धावस्था में जो 'ओही' (तेही) 'सहोदर' (सुत) एक कुमार 'सौंपेसि' 'उठहु' 'सिखावहु' 'सुनहु' आदि कहा है वह सब प्रलाप है—

प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भये बानर निकर।

प्रभुने प्रलापित शब्द बोलकर इस दृश्य की मानुषी मर्यादा का पालन करते हुए अपनी मर्यादा पुरुषोतमता ही को चरितार्थ किया है

सहोदर के लिए तो लोग ऐसा भी अर्थ कर सकते है कि हे लक्ष्मण। जैसे गुणज्ञ अथच स्नेह शीलमुग्ध वैमात्रिक भाई के प्रति तुम हो वैसा मातृ पक्ष कासहोदर भाई भी नहीं मिलता ॥

शंका—१८

१—जब कुम्भकर्ण ने वानरों में सबसे बली हनुमानजी को मूर्च्छित कर दिया था तो उन्हें न ले जाकर सुग्रीव को क्यों अपने साथ लंका ले जा रहा था ?

२—वानराधीश सुग्रीव ने कुम्भकर्ण का नासिका कान क्यों काटा ?

(पं० राजीवलोचन दास रामायणी)

समाधान

विपक्षी की ओर से राजा के या राजा के समकक्ष युवराज या राजकुमार के कैद हो जाने पर युद्ध बन्द हो जाता हैं। मूर्च्छित राजा मारा नहीं जाता, कैद किया जाता है और कैद करने वाले की जीत मानी जाती है। इससे मेघनाद और रावण ने मूर्च्छितावस्था में श्रीलक्ष्मणजी को लंका ले जाकर कैद करना चाहा था।

कुम्भकर्ण यद्यपि सर्वदा सोता ही रहता था तो भी राजनीति का पूरा पंडित था। कुम्भकर्ण के पाण्डित्य और शौर्य का संक्षिप्त परिचय जानने के लिये वाल्मीकीय रामायण सुन्दर कांड सर्ग १२श्लोक २८ से४५ तक १८ श्लोकों को देखना चाहिये।

सुग्रीव को पकड़ ले जाने का कारण उक्त राजनैतिक तथ्य ही था कि समस्त वानर-भालु बाहनी के एकमात्र अधिपति सुग्रीव ही हैं राजा सुग्रीव के पकड़े जाने पर समस्त बानर—भालु लड़ने से रोक दिये जायेंगे। और लंका में न लड़ने की शपथ लेने पर ही सुग्रीव को छोड़ा जायेगा। एक बार प्रतिज्ञाबद्ध हो जाने पर सब सेना सुग्रीव को लेकर समुद्रपार लौट जायेगी। तो अकेला मानवराम अपने भाई के साथ पराक्रमी राक्षस कुल का क्या कर लेगा? अन्ततः वह भी रोते-रोते लौट जायेगा। इस प्रकार लंकाधीश महाराज रावण की विजय भी हो जायेगी और शत्रु दल से भी कोई भविष्य में भय न रहेगा। यह तो हुआ सुग्रीव को पकड़ ले जाने का प्रधान कारण। गौण कारण यह भी हो सकता है कि जब कुम्भकर्ण से सभी बानर वीर मूर्च्छित हो गये। तब मैदान खाली देखकर कुम्भकर्ण ने सोचा कि जब बालि बानरराज था उस समय रावण को काँख में दाबकर राक्षस कुल को अपमानित किया था। इस समय उसी बानरराज बालि का भाई सुग्रीव बानराधीश है। अतः इसे काँख में दाबकर राक्षस कुल की कलंक-कालिमा को धो देना चाहिए। ऐसा सोचकर रावण को दिखलाने के लिये कि मैंने आपके अपमान का प्रतिशोध ले लिया—

'काँख दाबि कपिराज कहँ चला अमित बल सींव।'

सुग्रीव का शरीर बज्रवत था और उनमें साठ सहस्र दिग्गजों का पराक्रम था, ऐसा क्षेपक रामायण में लिखा है—

हस्ती साठ सहस्र बल सदा धर्म की सींव।
श्वेत क्षत्र शिर शोभित यह राजा सुग्रीव॥

मानस के अनुसार भी सुग्रीव का शरीर बज्रवत बन चुका था 'कर परसा सुग्रीव शरीरा। तन भा कुलिश गई सब पीरा ।।'

साक्षात् श्रीरामजी ने सुग्रीव की शरीर को बज्रवत् बना दिया था कुम्भकर्ण और सुग्रीव के युद्ध तथा सुग्रीव द्वारा कुम्भकर्ण का नाक कान कर्तन का वर्णन वाल्मीकीय रामायण के युद्ध काण्ड सर्ग ६७ श्लोक ८२ से ८८ तक है।

स कुम्भकर्णोऽथ विवेश लंका स्फुरन्तमादाय महाहरीं तम् ।
विमानचर्यागृह गोपुरस्थैः पुष्पाग्रवर्षैरभिपूज्यमानः ।।८२।।
लाज गन्धोरुवर्षैस्तु सेच्यमानः शनैः शनैः ।
राजवीथ्यास्तु शीतत्वात् सज्ञा प्राप महाबलः ।।८३।।
ततः स संज्ञामुपलभ्य कृच्छाद् बलीयसस्तस्य भुजान्तरस्थः ।
अवेक्षमाणः पुरराज मार्ग विचिन्तयामास मुहुर्महात्मा ।।८४।।
एव गृहीतेन कथं नु नाम शक्यं मया सम्प्रति कर्तुमद्य ।
तथा करिष्यामि यथा हरीणां भविष्यतीष्टं च हितं च कार्यम् ।।८५।।
ततः कराग्रैः सहसा समेत्य राजा हरीणाममरेन्द्रशत्रोः ।
नखैश्चकर्णौ दशनैश्च नाशां ददंश पार्दैविददार पार्श्वौ ।।८६।।
स कुम्भकर्णो हतकर्णनासो विदारितस्तेन नखैर्दशैश्च ।
रोषाभिभूतः क्षतजाद्रगात्रः सुग्रीवमाविध्योपिपेश भूमौ ।।८७।।
स भूतले भीम बलाभिपिष्टः सुरारिभिस्तैरभिमन्यमानः ।
जगाम खं कन्दुकवज्जवेन पुनश्च रामेण समाजगाम ।।८८।।

अर्थात् कुम्भकर्ण हाथ पैर हिलाते हुए सुग्रीव को लिये दिये लंका में घुस गया। उस समय लंका की गलियों में मकान के छतों से स्त्री पुरुष उसके ऊपर फूलों की वर्षा करते हुए स्वागत कर रहे थे।८२।

लावा और गन्धयुक्त जल की वर्षा द्वारा अभिषिक्त हो राज मार्ग की शीतलता के कारण महाबली सुग्रीव को धीरे-धीरे होश आ गया।८३।

तब बड़ी कठिनाई से सचेत हो बलवान कुम्भकर्ण की भुजाओं में दबे हुए महात्मा सुग्रीव नगर और राजमार्ग का ओर देखकर बार-बार बिचार करने लगे ।८४।

इस प्रकार इस राक्षस की पकड़ में आकर अब मैं किस तरह इससे भरपूर बदला ले सकता हूं । मैं वही करूँगा जिससे बानरों का अभीष्ट और हितकर कार्य हो ।८५।

ऐसा निश्चय करके बानरों के राजा सुग्रीव ने सहसा हाथों के तीखे नखों के द्वारा इन्द्रशत्रु कुम्भकर्ण के दोनों कान नोच लिये दातों से उसकी नाक काट ली और अपने पैरों के नखों से उस राक्षस की दोनों पसलियाँ फाड़ डाली ।८६।

सुग्रीव के दाँतों और नखों से दोनों कानों का निम्न भाग और नाक कट जाने तथा पार्श्व भाग के विदिर्ण हो जाने से कुम्भकर्ण का सारा शरीर लहूलुहान हो गया । तब उसे बड़ा रोष हुआ और उसने सुग्रीव को घुमाकर भूमि पर पटक दिया । पटक कर वह उन्हें रगड़ने लगा । ॥८७॥

भयानक बलशाली कुम्भकर्ण जब उन्हें पृथ्वी पर रगड़ रहा था और वे देव द्रोही राक्षस उनपर सब ओर से चोट कर रहे थे, उसी समय सुग्रीव गेंद की भाँति वेगपूर्वक आकाश में उछले और पुनः श्रीरामचन्द्र जी से आ मिले ।८८।

इस प्रकार सुग्रीव ने रावण के भ्राता कुम्भकर्ण का नाक कान काटकर उसे विद्रूप कर दिया था । किन्तु ऐसा क्यों किया इसके लिए समाधान यह है कि श्रीराम जीने सुग्रीवजी को—

"तुम प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ।"

कहकर लक्ष्मण जी से ऊँचा स्थान दिया था । इससे सुग्रीव

ने सोचा कि श्रीलक्ष्मणजी ने रावण की बहिन (स्त्री) का नाक कान काटा था। मैं रावण के मूर्तिमान अभिमान—

अतिबल कुम्भकर्ण अस भ्राता।
कुम्भकर्ण सम बन्धु मम।

रावण के भाई महाबली पुरुष का नाक कान काटूं। तब मेरा स्थान श्रीलक्ष्मणजी से अधिक भरतजी के तुल्य सुरक्षित रहेगा। श्रीलक्ष्मणजी ने राक्षसी के नाक कान काटने का श्रीगणेश कर दिया था, अतः वानरों ने इसे अनुकरणीय मान लिया इसी से—

श्रवन नासिका काटन लागे।

जहँ तहँ फिरत निशाचर पावहिं। घेरि सकल मिलि नाच नचावहिं॥
काटहिं दशन नासिका काना। कहि प्रभु सुजशदेहिं तब जाना॥

कुम्भकर्ण एवं अन्यान्य राक्षसों के नाक कान काटने का कारण वीराग्रगण्य श्री लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण ही है।

❁ शंका १९ ❁

संजीवनी बूटी लाते समय भरत का बाण लगने से श्रीहनूमान जी पृथ्वी पर गिर पड़े थे। उस समय औषधिवाले पर्वत द्रोणाचल की क्या स्थिति थी? (महान्त देवदासजी देव डाकोर)

समाधान

श्रीभरत जी के बाण से जब हनूमानजी भूमि पर गिर पड़े थे तब वायु देव ने द्रोणाचल को ऊपर अधर में रोक रखा था। यथा—

परयोभूमिकहिरामपवन राख्यो गिरि पुरतिहि तेज पियो है।

(गो० तुलसीदासजी कृत गीतावली ६।१०)

शंका २०

जब लक्ष्मण जी को शक्ति लगी थी और हनुमान ने, जो संजीवनी बूटी लेकर लौटते समय अयोध्या में श्रीभरतजी से सारा समाचार बताया था, तो भाई की विपत्ति समाचार जानकर भी भरतजी लंका क्यों नहीं गये ?

(महेशचन्द्र अग्रवाल)

समाधान

भरय भरत सम भाइ भल भायप भक्ति भलाइ ।
प्रभु प्रभाव परितोष पगि पालत पुहुमि प्रजाइ ।।

श्री भरत जी का कहना था कि—

आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा । सो प्रसाद जन पावइ देवा ।।

और श्रीरामजी की आज्ञा है कि—

पालहु अवध अवधि भरि जाई ।।

अवध पालन करने का तात्पर्य था कि—

पालेहु प्रजहिं कर्म मन बानी । सेयेहु सकल मातु सम जानी ।।
तुम मुनि मातु सचिव सिखमानी।पालेहु पुहुमि प्रजारजधानी।।

और यह सभी बेद तत्वज्ञों का सिद्धान्त है कि—

राम रजाइ मेट मनमाहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ।।

श्री भरत जी के लिए श्रीरामजी की आज्ञा अयोध्या में रहकर माताओं की सेवा तथा—

देश काल पुरन परिवारू ।

की सार सँभार करनी थी । यदि एक लक्ष्मण जी के लिए भरत जी अयोध्या से सैन्य लेकर स्वयं चले जाते तो तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार राक्षसों से अयोध्या पर महान संकट की सम्भावना थी इस

लिए स्वयं श्री भरत जी का तो अयोध्या से जाना सर्वथा अनुचित ही था। इस समय की भरत जी की मनोदशा का चित्रण गीतावली में किया गया है कि—

आयसु इतहि स्वामि संकट उत परत न कछुक कियो है।
तुलसिदास बिदर्यो आकाश सो कैसो जात सियो है॥

श्री गोस्वामी जी ने गीतावली में बतलाया है कि माता सुमित्रा तो उसी समय श्री हनुमान जी के साथ ही शत्रुघ्न जी को लंका युद्ध में श्रीरामजी की सेवा करने भेज रही थीं—

कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनन्दन बिनु बन्धु कुअवसर यद्यपि धनु दुसरे हैं॥
तात! जाहु कपि संग रिपुसूदन!

और शत्रुघ्न जी तुरन्त तैयार भी हो गये थे—

प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधि बश सुढर ढरे हैं।

परन्तु श्री हनुमान जी ने समझाकर रोक दिया—

अब अनुज गतिलखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु, तिहि समय सचेत करे हैं॥

सुप्रसिद्ध साकेत महाकाव्य में भरत जी का लंका के लिए सैन्य तैयार करना वर्णित है। सैन्य प्रस्थान के कुछ क्षण पूर्व ब्रह्मर्षि श्रेष्ठ श्री वशिष्ठ जी ने अपनी योग शक्ति से लंका युद्ध क्षेत्र का दृश्य दिखाकर सैन्य जाने से रोक दिया था। साकेत की कुछ स्वर्णिम पंक्तियां ये हैं—

करके ध्वनि-संकेत शूर ने शंख बजाया।
अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया॥
निकल उठा उच्छ्वास वक्ष से उभर उभर के।
हुआ कम्बु कृतकृत्य कंठ को अनुकृत करके॥
उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तरमानों।
एक एक दो हुए जिन्हे एकादश जानों॥

यों ही शंख असंख्य हो गये लगो न देरी ।
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण भेरी ।।
कांप उठा आकाश चौंक कर जगती जागी ।
छिपी छितिज में कहीं समय निद्रा उठ भागी ।।
उठी क्षुब्ध सी अहा ! अयोध्या की नर सत्ता ।
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता ।।

चंचल जल थल बलाध्यक्ष निज दल सजते थे ।
झन झन घन घन समर बाद्य बहुविधि बजते थे ।।

चलो चलो नरवरो न वानर ही यश ले लें ।
वे ले लें भुजबीस शीश ही हम दश ले लें ।।
साधु साधु थी यह ही आशा तुम सबसे ।
नाम शेष रह जांय बाम वैरी बस अबसे ।।

मारा प्रभु ने कुम्भकर्ण सा निर्मम नामी ।
हुआ विभिषण स्वयं शरण मनुकुल अनुगामी ।।
अब क्या है बस बीर बाण से छूटो छूटो ।
सोने की उस शत्रुपुरी लंका को लूटो ।।

"शान्त शान्त" गभीर नाद सुन पड़ा अचानक ।
गूंज उठा हो यथा अवनि पर अंबर आनक ।।
कुलपति बृद्ध वशिष्ठ आ गये तपके निधि से ।
हंस बंश गुरु हंस निष्ठ एकानन विधि से ।।
शान्त शान्त ! सब सुनो कहां जाते हो ठहरो ।
शौर्य बीर्य के सघन घनानन व्यर्थ न घहरो ।।

लंका विजयप्राय तनिक तुम धीरज धारो ।
अच्छा लो, सब इधर क्षितिज की ओर निहारो ॥
मंत्र यष्टि से जहां उन्होंने भुजा उठाई ।
दूर दृष्टि सी एक साथ ही सबने पाई ॥
देखा सम्मुख दृश्य आप ही खिंच आया है ।
अंधकार में उदित स्वप्न की सी माया है ॥

रावण का वह पाप पूर्ण हाटक खट फूटा ।
हुआ सूर्य सा अस्त इन्द्रजित लंकापुर का ॥

साकेत का आधार प्रतिमा नाटक है जो कि गोस्वामीजी से भी हजारों वर्ष पूर्व कविता कानन की अधिष्ठात्री बाग्देवी के हास स्वरूप महाकवि भास की रचना है । देखिये प्रतिमा नाटक अंक छठाँ—

भरतः—... ... ... अद्यैवाहमार्यस्य साहाय्यार्थं कृत्स्नं राजमंडलमुद्योजयामि । अयमिदानीं—

वेलाभिमां मत्तगजान्ध कारां,
करोमि सैन्योघनिवेशनद्धाम् ।
बलैस्तरद्भिश्चनयामि तुल्यं,
ग्लानिं समुद्रं सह रावणेन् ॥
(प्रतिमा ६।१६)

शंका—२१

लंका काण्डीय युद्ध क्षेत्र में जब रावण की ब्रह्मसाँगी से लषन लाल मूर्च्छित हो गये तो कहा है कि—

ब्रह्माण्ड भवन बिराज जाके एक सिर जिमिरज कनी ।
तिहि यहउठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन धनी ॥

विजित शत्रु कौ यदि विजेता अपने घर ले जाकर कैद कर देना चाहता है तो इसमें उसकी कौन सी मूढ़ता है ? यह तो सैनिक नीति (पालिसी) है। तब रावण को मूढ़ क्यों कहा ?

समाधान

यदि कोई अपने पूर्वजों के उत्तम काम का अनुसरण करता है तो वह उत्तम है, परन्तु यदि पुत्र पौत्रादिकों की निकृष्टता का अनुसरण करता है तो वह उनकी मूढ़ता है। वहाँ रावण ने अपने पुत्र मेघनाद की नीचता का अनुसरण किया। अर्थात् युद्ध में मेघनाद में शत्रु पर तेज-पुंज वीरघातिनी साँगी छोड़कर तो कोई अनुचित नहीं किया. होश में रहते हुए शत्रु को बल से पकड़कर बाँध ले जाना भी अनुचित नहीं है अपितु शूरता ही है और युद्ध नीति (पालिसी) है। परन्तु मूर्च्छित शत्रु को उठा ले जाना चाहा यह अनुचित था। ऐसे ही रावण ने जब प्रबल शत्रु पर— छाँड़ेसि ब्रह्म दीन जो साँगी।

तो किसी प्रकार भी अनुचित नहीं किया परन्तु मूर्च्छित शत्रु को उठा ले जाना चाहा—बेटे की नीचता का अनुसरण किया तब उसे मूढ़ कहा गया।

दण्डकारण्य और लंका में धर्मयुद्ध नीति के अनुसार रावण के मूर्च्छित होने पर जटायू और हनुमान जी ने रावण कास्पर्श तक नहीं किया। ऐसे ही अशोक बाटिका में मेघनाद के और युद्धभूमि में कुंभकरण के मूर्च्छित होने पर हनुमान जी चुप एवं शांत ही रहे। परन्तु मेघनाद ने और मेघनाद का अनुसरण करके रावण ने सर्वथा अनुचित किया। इसलिए वहाँ उसके लिये मूढ़ कहा जाना सर्वथा उपर्युक्त है।

एक शिर पर ब्रह्माण्ड को रजः कणिकावत् धारण करने वाले शेष के धनी—मालिक त्रिभुवनाधीश विराट परमेश्वर श्रीमन्नारायण लक्ष्मण जी को यदि रावण ने नहीं जाना तो यह उसकी व्यावहारिक मूढ़ता नहीं, है, क्योंकि उन्हें तो—

सो जानइ जिहि देहु जनाई ।

उन्होंने रावण को अपना ईश्वर स्वरूप नहीं जनाया तब भला रावण कैसे जानता ? अतः यहाँ यही अर्थ होना समीचीन मालूम होता है कि उन शेषाधीश शेषशाई त्रिभुवन धनी नारायण को तो रावण जानता ही नहीं यह तो उसकी पारमार्थिक मूढ़ता है ही, अब धर्मयुद्ध के विपरीत कार्य करके रावण अपनी व्यावहारिक मूर्खता किंवा नीचता का डिंडिम घोषकर रहा है ।

शंका–२२

समरांगण में हनुमन्त लाल जी की मुष्ठि प्रहार से रावण के मूर्च्छित हो जाने के बाद होश में आने पर जब रावण उनके विपुल बल की सराहना करने लगा तब हनुमन्तलाल ने "धिक्धिक् मम पौरुष धिक् मोही" । कहकर अपने पौरुषबल एवं स्वयं अपने को धिक्कार क्यों दिया ? (पं० रामगोपाल शास्त्री आगरा)

समाधान

क–सामर्थ्यवान धर्मात्माओं को चाहिए कि धर्मनाशकों धर्म द्रोहियों का सर्वथा नाश कर दें, यदि न कर सकें तो अपने आपको धिक्कार योग्य समझकर आत्मग्लानि रूप प्रायश्चित करें ।

ख–हनुमानजी को युवराज अंगद के द्वारा मालूम हुआ था कि रावण ने एक वार पीठ पीछे हनुमानजी के बल की प्रशंसा किया था

"है कपि एक महाबल शीला ।"

"आवा प्रथम नगर जिहि जारा ।"

और आज पुनः समक्ष में–

कपिबल विपुल सराहन लागा ।

पर आज की सराहना में व्यंग का पुट भी हो सकता

मेरा छोटा भाई कुंभकर्ण था, उसने तो जब तुम्हें मारा तो तुम काफी देर तक मूर्च्छित पड़े रह गये और मैं तो तुरन्त ही सचेत हो गया, दूसरा यह भी कि महावली के मुष्ठिका प्रहार से भी यदि जीवित उठ गया तो महाबली का बल कैसा ? अतः अपने आपको धिक्कारा ।

शंका–२३

नाथ करै रावन इक जागा । सिद्ध भये नहिं मरिहि अभागा ।।

यहाँ यज्ञ सिद्ध करके न मरने वाले को अभागा भाग्यहीन क्यों कहा गया ?

(पं० उमादत्तोपाध्याय वी० ए० अग्नि कुंड अयोध्या)

समाधान

मूर्च्छित लक्ष्मणजी को एक बार मेघनाद और दूसरी बार रावण ने उठा ले जाना चाहा था । रावण के मूर्च्छित होते ही उसके प्रवीण एवं स्वामिभक्त सारथी ने सोचा कि ऐसा न हो कहीं मूर्च्छित रावण को लक्ष्मण का बदला लेने के लिए रामदल वाले उठा ले जायं इस डर से सारथी मूर्च्छित रावण को दूसरे रथ पर रख लिया और लंका उठा ले गया अतः रावण रणभूमि छोड़कर भागकर नहीं गया था तभी विभीषण ने उसे यहाँ अ-।-भागा = अभागा; न भागा हुआ कहा–

संदिग्धेतु वाक्य शेषात् । (मीमांसादर्शन१।४।२९)

जैमिनि के इस सूत्र से ज्ञात होता है कि रावण ने—

'निज सारथि सन खीझन लागा ।'

'शठ रनभूमि छुड़ायसि मोहीं ।।'

मूर्च्छा टूटते ही सारथी पर विगड़कर कहा था । अतएव यहाँ अभागा शब्द का प्रयोग न भागने के अर्थ में ही समीचीन है यहाँ यह प्रयोग 'भाग्यहीन' अर्थ में हुआ नहीं मालूम पड़ता । परन्तु भगवच्चरण

विमुख और सुरनर मुनि आदि सबसे विरोध करने वाला भाग्यहीन ही कहा जाता है । यथा—

रे कुभाग्य शठ मंद कुबुद्धे । तैं सुर नर मुनि नाग विरुद्धे ।।

इस अर्थ में तो रावण अभागा है ही ।

शंका—२४

नाभिकुंड पियूष बस याके, नाथ जियत रावण बल ताके ।

यह अमृत रावण को कहाँ से अथवा कैसे मिला था वरदान के समय तो उल्लेख है नहीं क्या वह जन्म से ही रावण की नाभिकुंड में था ? अमृत रहते हुए रावण क्यों मरा ? राहु ने तो धोखे से अमृत पी लिया तो वह चक्र से मरा नहीं अपितु राहु केतु दो खंड हो गया । अमृत पड़ते ही मरे बानर भालु जी गये तब भला मर्यादा पुरुषोत्तम के समक्ष अमृत का गुण नष्ट क्यों हो गया ?

(पं०हरिप्रसाद शर्मा उपाध्याय)

समाधान

कलितिमिरदिनेशं तापहृत्तारकेशं धृतनृपवरवेशं दिव्यलीलारसेशम् ।
असितघनसुकेशं शोभनं सन्निवेषं हरिहरहृदयेशं नौमि तं कौशलेशम् ।।

वरदान के समय उसे अमृत नहीं मिला था और जन्म से ही उसकी नाभि में भी अमृत कुण्ड नहीं था अपितु रावण ने अमृत का संग्रह किया था । अथर्ववेद कांड चार सूक्त छ का प्रथम मंत्र कहता है कि—

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं पपौ स चकार रसं विषम् ।।

(अथर्ववेद ४।६।१)

[इस श्रुति का शब्दार्थ अन्यसमाधान में किया जा चुका है]

यहाँ स्पष्ट लिखा है

'स दशशीर्षः सोमम्-अमृतम् पपौ ।'

उस दशानन रावण ने अमृत का पान किया था ।

अध्यात्म रामायण युद्ध कांड सर्ग ११ में बताया गया है कि रावण की नाभि में अमृत कुण्डलाकार रूप से (संग्रहीत होने के कारण) संस्थित था—

नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुंडलाकार संस्थितम् ॥५३॥

महर्षि श्री पतंजलि जी प्रणीत योगदर्शन विभूति पाद के—

नाभिचक्रे काव्यज्ञानम् ॥२९॥
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः ॥३०॥
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३१॥
मूर्द्धा ज्योतींषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥
प्रतिभाति वा सर्वम् ॥३३॥

इन सूत्रों पर भाष्य करते हुए कुछ विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि योग की संजीवनी मुद्रा के द्वारा ब्रह्मरंध्र में जिह्वा से अमृत स्राव होता है और वह अमृत एकतीसवें सूत्र से वर्णित कुण्डलित सर्प की तरह स्थित कूर्म नाड़ी सुपुम्णा से प्रवाहित होकर नाभि कुण्ड में जाता है और जाकर शरीर को परिपुष्ट बनाता रहता है । यदि युक्ति से उस अमृत का संचय किया जाय तो सैकड़ों वर्षों में नाभिकुंड में कुण्डलित सुपुम्णा के चारों ओर कुंडलाकार रूप से संस्थित होकर मृत्यु से रक्षा किया करता है । वैद्यक शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रंथ भाव प्रकाश का कहना है कि—

त्रयः पलं गुग्गुल[illegible] योज्यः पलत्रयं व्योष पलानिपंच ।
पलानि चा[illegible] [illegible] फला रजश्च कर्षेलि देवत्व प्रमरत्वमेव ॥

(भावप्रकाश वैद्यक)

[पांच गुंजा का एक माशा, सोलह माशा का एक कर्ष और चार कर्ष का एक पल] एक पल सुद्ध लौह चूर्ण तीन पल गुग्गुल, पाँच पल ब्यौष त्रिकटु (सम भाग शुंठि-मरीच-पिप्पली) और उसमें से नित्य एक कर्ष सेवन करै तो (सौ वर्ष बराबर सेवन करने से) देवत्व प्राप्त होता है, अर्थात् जिह्वा से अमृत स्राव होने लगता है जिसे योग की संजीवनी मुद्रा कुण्डलित सर्पवत् स्थित कूर्म नाड़ी के रास्ते नाभिकुंड में संग्रहीत किया जा सकता है ।

रावण महान विद्वान परम तपस्वी योगी तो था ही, उपर्युक्त प्रकार से औषधी और योग के द्वारा अपनी नाभि में अमृत का संचय कर रखा था । स्मरण रहे कि उपर्युक्त क्रिया द्वारा संचित अमृत ही मत्रित वाण द्वारा सुखाया जा सकता हैं । समुद्र मंथन से प्राप्त अमृत नहीं । क्यों कि वह नाभि या शरीर के किसी एक देश में संचित नहीं होता अपितु पान करते मात्र ही सारे शरीर में प्रविष्ट होकर अमर बना देता है, पर और औषधि अथवा योग क्रिया द्वारा संग्रहीत अमृत ही नाभि में एकत्रित रहता है ।

एक बार वृन्दाबन में नागा श्रीरामलखन दास जी 'श्रीवैष्णव' से कथा सुना था कि जिस समय श्रीरामजी छ वर्ष मात्र के थे उसी समय रावण का एक चर राक्षस रावण का भेजा कर मागने दशरथ से अयोध्या गया । उस समय दशरथ जी पूजा घर में बैठे नित्य नियम कर रहे थे । रावण का दूत बाहर द्वार पाल के पास बैठा राजा की प्रतीक्षा कर रहा था । उसी समय श्रीरामजी–

छोटियै धनुहियाँ पनहियाँ पगनि छोटी ।
छोटियै कछोटी कटि छोटियै तरकशी दूत (गीतावली)

खेलते हुए भीतर से निकले । दरवाजे यह विकराल आकार वाले राक्षस को देखकर द्वारपाल से पूँछा काका ई वे कौन खेलौना है । द्वार पाल ने कहा बबुआ जी यह खेलौना नहीं है परन्तु लंका से

रावण का दूत कर मांगने आया है। श्रीरामजी ने कहा कह दीजिये यह चला जाय, कर रावण को मिल जायेगा। द्वार पाल ने कहा, तो राक्षस ने कहा इस छोटे लड़के की बात का क्या मूल्य है। द्वार पाल ने कहा यह लड़का अयोध्या का भावी युवराज है इसकी कोई भी बात राजादशरथ जी टालते नहीं और—

शूल कुलिश असि अँगवनि हारे।

महाराज की आज्ञा मेटने की शक्ति इन्द्र और शिव में भी नहीं है। राक्षस के जाते ही रामजी ने एक साधारण तीर धनुही पर रख कर दक्षिण दिशा में चला दिया जिस तीर ने जाकर रावण की छाती फार दिया रावण मर गया। लका में हा हा कार मच गया उसीक्षण ब्रह्मा ने आकर विभीषण से कहा सुखेन से औषधि करावो। सुखेन ने अनेक जड़ी बूटियों का स्वरस निकाल कर कल्क बनाकर रावण की नाभी में रख कर सी दिया कि जब तक यह सुखाया न जायेगा। सोखा न जायेगा स्वयं कभी सूखैगा नहीं और इसके रहते अब फिर रावण किसी तरह मरेंगे नहीं। यहे पूरा कथानक श्रीजानकी कृपा पदावली के पद्यों में लिखा है कि—

१—रघुबर बाहर खेलन आये।

छोटीपनहीं छोटी धनुहीं तरकस छोटि लगाये।
अति घुघुराले काले केशन ललित चौतनी लाये॥
कटि छोटी करवाल लगाये। रघुवर बाहर खेलन आये॥ १॥
जननी काज[illegible]इ नयन मंह भौह डिठौना लाये।
कठुला [illegible] जायठ बांहुन कंकन कर पहिराये॥
जानुलम्ब [illegible]ाये। रघुबर बाहर खेलन आये॥२॥
मणि[illegible] कानन झलकत कामकेतु छबि छाये।
राम[illegible]नथ मुँदरी अँगुरिन देखत चितहि चुराये॥
[illegible]धा अँ[illegible] सजाये। रघुबर बाहर खेलन आये॥ ३॥

तुलसी माल कण्ठ गल कौस्तुभ बैजयन्ति मनभाये।
जरतारी झिगुलीबिच झलकत श्याम अंग छविछाये।।
देखत मार अनन्त लआये। रघुवर बाहेर खेलन आये।।४।।

धोती पीत पुनीत मनोहर क्षौम तन्तु रचवाये।
कस्तूरी केशर कपूर गोरोचन चन्दन लाये।।
ऊर्ध्व पुंड्र लखि जन मनभाये। रघुवर बाहर खेलन आये।।५।।

आगे रामकुमार बढ़े पाछे बहु अनुचर आये।
पूंछत्र द्वारपाल सन काका कहँ सब सखा सुहाये।।
आज न काहे हमहिं बुलाये।। रघुवर बाहर खेलन आये।।६।।

रावन आपन दूत पठायो

तीनि बार हारयो दशरथ सो जब जब बल अजमायो।
सुन्यो चारि सुत नृप जनमायो तब ताके मन आयो।।
अब दशरथ निरबल होइ आयो। रावन आपन दूत पठायो।।१।।

करत नहीं तप तीनि नारि संग रमत पुत्र उपजायो।
ता कारन बल हीन दीन अब भयो हमारो भायो।।
मैं तपकरि नित जुवक रहायो। रावन आपन दूत पठायो।२।।

दूत सुन्यो नृप मन्दिर बइठे इष्टदेव मन लायो।
बाहर बैठि प्रतीक्षा रत रह तबहिं राम तहँ आयो।।
विकृत वदन राक्षस लखि पायो। रावण आपन दूत पठायो।।३।।

समुझेउ कोऊ खेलौना अद्भुत द्वार कोऊ लइ आयो।
पूछंत काका कवन खेलौना क्यों मुख विकट बनायो।।
कवने शिल्पी याहि बनायो। रावन आपन दूत पठायो।४।।

बबुआ नहीं खेलौना कोऊ करमांगन यह आयो।
लंकापति रावन कर राक्षस नृप मिलवे बइठायो।।
नृप आज्ञा से यहि विरमायो। रावन आपन दूत पठायो।।५।।

राम कहेउ यह जाइ लंक निज लखहि तहाँ कर आयो।
सुनत तीर सम चलो निशाचर लंका तुरत सिधायो॥
रघुवर अद्भुत खेल रचायो। रावन आपन दूत पठायो॥६॥
रामकुमार तीर बिनु फर तजि रावन पेट फरायो।
कर भेजन यह अद्भुत लीला दास गाइ मुद पायो॥
लंका हाहा कार मचायो। रावन आपन दूत पठायो॥७॥
३– नृप के चारि पुत्र सुनि पाये। रावन अवधहिं दूत पठाये।
कहहु जाइ बूढ़े दशरथ से मम आज्ञा अनुसारी।
अवधराज कर दशम अंश तुम राखहु भवन सभारी॥
सकल देहु मम करहिं गहाये। रावन अवधहि दूत पठाये॥१॥
अवध आइ दशरथ पुजागृह सुनि चर द्वारहिं बइठो।
रामकढ़े खेलन हित बाहर लघु लघु धनु शर अंइठो॥
द्वारप कवन खेलौना लाये। रावन अवधहि दूत पठाये॥२॥
बबुआ नाहिं खेलौना कोऊ रावन चर निविचारी।
कर माँगन आवा मम नृप सन सुनत कहेउ धनुधारी॥
यह जावें कर देब भेजाये। रावन अबधहि दूत पठाये।३॥
दूत गयो शिशु राम तीर इक दक्षिण दिशहिं पँवारयो।
सो शर प्रथम दूत से पहुँचेउ रावन बक्ष विदारयो॥
रावन मरो शोक पुर छायो। रावण अवधहि दूत पठायो॥४॥
जाइ कह्यो विधि तुम सुखेन रस भस्म लता जड़ि पावन।
सब मथिकल्क करहु नव अमृत जिये तबहिं यह रावन॥
भिषक पुलस्त्य कुमार जिलाये। रावण अवधहि दूत पठाये॥५॥
४– रावन लंक वैठि शिव पूजत अदभुत बात लखायो।
मानहु झंझाबात बवडण्र राक्षस उड़त जनामो।
जबलगि रावन कछु पूंछन चह तीव्र तेज तँह छायो॥
करन चह्यो प्रतिकार ताहि क्षण भरि जम सदन सिधायो॥१॥

हा हा कार भयो दशमुख पुर सब निशिचर गन रोवन लागे ।
पहुँचै दौरि चतुर्मुख तिहिक्षण कहत विभीषण सन अनुरागे ।।
भारी वैद्य सुखेन लंक महँ शिष्य धन्वन्तरि के गुण पागे ।
ताहि लाइ उपचार करावहु जिअइ अबहिं जनु होवत जागे ।।२।।
धाइ सुखेन विबिधि औषधि लैइ कूटि पीसि तिहि कल्क किये ।
पुनि बहुबार फूंकि पुटपाकहिं अमृत रसहिं लिये ।।
रावन नाभि कुंड अमृत सोइ धरि तिहि तुरत सिये ।
यह कैकसीकुमार मरिहि नहि जब लागे अमृत हिये ।।३।।
रावन को जब ज्ञात भयो दशस्यन्दन नन्दन मो उर फारो ।
वैद सुखेन धरो उर अमृत हौं अब तौ मरिहौं नहि मारो ।।
पै यदि मोहिं धरै कबहूँ अति जातन दें उरमाहि विचारो ।
कबहुँ मारि यहि राजकुमारहिं सकल निशाचर संकट टारों ।।४।।

यह प्रसंग विभीषण ने जामबन्त को बताग्रा था, तभी तो लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर जामवन्त ने सुखेन को बुलवायाथा तो—

भवन समेत भिषक कपि लाये ।
करि दंडवत सुखेन पूँछतो कहो मोहिं किहि हेतु मंगायो ।
जामवन्त कह जब रावन उर फाटेउ तुमहिं जियाये ।
अब लछिमन कहँ देहु जिआये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।१।।
कह सुखेन तादिन लंका महँ सकल वस्तु रहभारी ।
बिविधि जड़ी रावन गृह रक्षित रतनन धातु अँटारी ।।
हनुमत सकल जराइ नशाये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।२।।
इतते दूरि तीनिशत जोजन हिमगिरि उत्तर माहीं ।
द्रोण शिखर पर जीवन बूटी अनहु कोउ निशिमाहीं ।।
सूर्य उये नहि बनिहि बनाये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।३।।
फटी स्मृति नलिका उर अन्तर स्रवत रक्त बनि सोते ।
सूर्य उदय होतहि बढ़ि जावै नब कछु बनिहि न मोते ।।

याहित औषधि अबहिं मँगाये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।४।।
विषुवत रेखा दिगे शून्य अक्षांशहि लंक रहावै ।
हिमरितु रातिरक्त कछुगाढ़ो रविलखि धार बहावै ।।
ज्योतिषि वैद्यक तत्व लखाये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।५।।
रावन गुप्त दूत इमि लखि सुनि अति प्रसन्न मन माहीं ।
काज सुखेन बनाइ दियो सब जीहहिं लछिमन नाहीं ।।
रामकुमार निराश रहाये । भवन समेत भिषक कपि लाये ।।६।।

टूटी बाँह पवन सुत मोरी ।

पुरखा सूर्य; गमन पितु सुरपुर; बंधु भरत अति दूरी ।
अश्वमेध विजयी जनकहिं किमि देउँ सबरि मजबूरी ।।
को मिलवै मम बन्धु बहोरी । टूटी बांहु पवन सुत मोरी ।।१।।
कहयो सुखेन लंक दाहत कपि त्रिकट वेश हम देखे ।
तु ीं सकल औषधी जराये तुहीं जाउ यहि लेखे ।।
लावहु गन्धरवन बल तोरी । टूटी बाह पवनसुत मोरी ।।२।।
तड़पि प्रभंजन सुत अकाश कौ उत्तर दिशि द्रुत दौरे ।
अधि देवता सूर्य आंखिन धरि कालनेमि नशि धौरे ।।
लइ द्रुत धवलागिरि बरजोरी । टूटी बाँह पवनसुत मोरी ।।३।।
औषधि वायु लगत कपि रीक्षहु जियत उठे हरषाये ।
घोंटि सुखेन औषधी देतहि लछिमन उठि रनधाये ।।
रावन सुनत बचिहि शिव खोरी । जूटी बाँहु पवन सुत मोरी ।।४।।
रामकुमार दौरि उर लाये हनुमत द्रोणाचल धरि आये ।
दइ वर भवन समेत सुखेनहि जनु उखारि बइठाये ।।
मगन भालु कपि गावत होरी । जूटी बाँहु पवन सुत मोरी ।।५।।

अब मम बाहु पवन सुत जूटी ।

दौरि उठाइ लगाइ हृदय प्रभु दृग सुधार जनु छूटी ।।१।।
गगन फलंकि जीति गन्धरवन लाइ सजीवन बूटी ।

लाइ द्रोण गिरि लखन जिआये भरत संदेश अमृत मय घूंटी । ।।२।।
बानर भालु भरत किलकारी लंक तड़ातड़ बिजुरी टुटी ।
भोर होत लछिमन शर शक्ती गड़ि है मेघनाद उर खूंटी ।।३।।
घर घर लंक करुण क्रन्दन बहु काल अवशि रावन शिर कुटी ।
रावन मरिहि विभीषण के शिर बानर भालु छत्र लइ जुटी ।।४।।
उरिन न होउं सुनहु कपि तुम सन मम तुव प्रीति कबहुं नहि छूटी ।
सीय लखन कपि भालु अवधपुर भरत कुमार संग सुखलूटी ।।५।।
अब मोरि बाँहु पवन सुत जूटी ।।

(श्री जानकी कृपा पदावली से)

संभवतः इसी बाल लीला वाले वाण शक्ति को लक्ष्य करके ही श्री जानकी जी ने रावण से कहा था कि—

खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ।-

शंका—२५

तासु तेज समान प्रभु आनन ।
तासु तेज प्रभु वदन समाना ।

यहाँ जो तेज प्रभु के मुख में प्रवेश कर गया वह क्या था ? वह जीवात्मा ही था या और कुछ था ? क्योंकि अणुरूप जीव दृष्टि-गोचर नहीं हो सकता और यह तेज दिखाई पड़ा था ?

(रामप्रताप शरण जी श्री वैष्णव)

समाधान

श्रीजानकीशं शिवविष्णुसेव्यं कलाधिनाथं करुणानिकेतम् ।
ऐश्वर्यलीलाधिपतिं क्षितीशं वेदैस्सुवेद्यं प्रणमामिनित्यम् ।।

स्वयं साक्षात् श्री हरि ने अपने परम भक्त एवं सखा श्री अर्जुन को समझाते हुए जब किञ्चिन्मात्र अपनी दिव्यविभूति का दिग्दर्शन

मात्र वर्णन किया तो उस गीता के दशवें अध्याय के अंत में कह दिया कि—

एष तूद्देशतः प्रोक्तो दिव्याह्यात्मविभूतयः ।४०।

ऐसा कहने के बाद तत्व बतलाया कि—

यद्यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम् ।४१

अर्थात् लोक में जो कोई भी प्राणी प्रतापी, ऐश्वर्यशाली, लक्ष्मी-कान्तिवान, पराक्रमी अथवा किसी भी प्रकार की विशेषता से सम्पन्न होता है उस प्राणी में वह प्रताप ऐश्वर्य, लक्ष्मी, कान्ति और पराक्रम आदि सारी ही विशेषताएं मेरे ही अंश से उत्पन्न समझो अर्थात् वे सारी विशेषताएं मेरी कलाएं हैं। यहां भगवान के 'विद्धि' कहने का यही तात्पर्य ज्ञात होता है कि जब मैं चाहूँगा तभी तक जीवमें ये विशेष शक्तियाँ रह कर पुनः मेरी वस्तुएं मेरे पास चली आती हैं, आवेंगी। मोक्ष हो जाने पर तो इन (एक पाद्विभूतिस्थ) भोग्य वस्तुओं की जीव को कुछ आवश्यकता ही न रह जायेगी। वहां तो सभी दिव्य ऐश्वर्य स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः ये वस्तुयें तेज प्रताप बल आदि पुनः प्रभु में ही अन्तर्हित हो जाते हैं।

रावण और कुम्भकर्ण में जो कई प्रकार का विशेष तेज था। वह सभी बल, पराक्रम, कान्ति, ऐश्वर्यादि प्रभु के ही अंशलेश से था—

जाके बल लवलेश ते जितेउ चराचर झारि ।

इसी से अन्त में वह सब तेज प्रभु के मुख में समा गया जिसे प्रत्यक्ष रूप से वहाँ उपस्थित देवता और मुनियों ने देखा जो तेज जहाँ से प्रादुर्भूत हुआ था वह वहीं अन्तर्लीन हो गया और रावण तथा कुम्भ-कर्ण के नाम से अभिहित जीवात्मा दिव्य भगवलोक को प्राप्त हुए। ऐसा वहीं पर देवता और मंदोदरी का कथन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—

"अधम शिरोमणि तुव पद पावा। यह हमरे मन अचरज आवा ॥"

तुम्हू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयम् ॥

निष्कर्ष यह कि रावण कुम्भकर्ण नाम से जीव विशेष जो कि प्रथम प्रताप भानु और अरिमर्दन नाम से केकयाधिपति रह चुके थे तो भगवल्लोक—अपुनरावर्तित लोक को प्राप्त किये—मुक्त हो गये—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गीता ॥१५।६

और रावण कुंभकर्ण का भौतिक स्थूल शरीर में रहने वाला—सारा तेज प्रभु के मुख में समा गया।

जो कोई यह अर्थ करते हैं कि "रावण कुम्भकर्ण के तेज के समान एकमात्र प्रभु का ही तेज है आन—न = अन्य का नहीं।" ऐसा अर्थ करना रोचक भले ही हो पर श्रुति स्मृति—अनुकूल एवं प्रसंगा—नुकूल न होने से बाग्विलास मात्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

शंका—२६

निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ प्रन कीन्ह।

"निशिचर वंश जन्म सुरत्राता। नाथ दशानन कर मैं भ्राता ॥"

रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।

विभीषण के रहते निशिचर हीन मही कैसे हुई और रावण कुलहीन कैसे हुआ? (चन्द्रिका प्रसाद गुप्ता पान वाला कवर्धा)

समाधान

अनिश्चरां महीं कृत्वा निष्कुलं च दशानम् ।
विभीषणं च लंकेशं कृतो रामः प्रभुर्मम ॥

बरनि न जाइ अनीति घोर निशाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहि कवन मिति ॥

बाढ़े खल बहुचोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा ॥

मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।।
जिनके यह आचरन भवानी । तेइ जानहु निशिचर सबप्रानी ।।

इन पंक्तियों में कहे गये हिंसक, चोर, जुआरी परधनलम्पट परत्रियलम्पट, माता पिता देवता आदि को न मानने वाला, साधुओं से सेवा कराने वाला आदि में एक दुर्गुण वाला भी निशिचर कहा जाता है । उक्त दुर्गुणों में से एक भी श्री विभीषण जी में नहीं था । यथा—

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षस चेष्टितः ।।
(बा० रा० ३।१७।२४)

विभीषणश्च धर्मात्मा कैकस्याः पश्चिमो सुतः ।
तस्मिञ्जाते महासत्वे पुष्पवर्षं पपात ह ।।
(वा० रा० जु० उ० का० ९।३५)

विभीषणस्तु धर्मात्मा वचनं प्राह संजलिः ।।
(वही १०।२९)

नामविभषण जिहिजग जाना । विष्णु भक्त विज्ञान निधाना ।।

प्रहलाद, नारद, पराशर पुण्डरीक,
व्यासाम्बरीष शुक शौनक भीष्यदाल्भ्यान् ।
रुकमाङ्गदार्जुन वशिष्ठ विभीषणद्या
नेतानहं परम भागवतान्नमामि ।।
(पाण्डव गीता १)

अतः परम भागवत श्री विभीषण जी की गणना अधम निशिचर वर्ग में करना महान पाप का भागी होना है ।

और रावण के मरते ही लंका के बचे बचाये निशिचर गण भी विभीषण के राजा होते ही निश्चरत्व युक्त दुर्गुणों को त्याग कर "यथा राजा तथा प्रजा" न्यायानुसार विभीषण जी की तरह धर्मात्मा

और भगवदभक्त हो गये। अतएव अब वे बधार्द नहीं रहे।

ख— धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर वे तीनों वेद व्यास जी के वीर्यज पुत्र थे। परन्तु व्यास जी के साथ न रहकर जन्म से अपनी माताओं के पास रहे इससे ब्राह्मण न होकर धृतराष्ट्र और पाण्डु क्षत्रिय एवं विदुर शूद्र माने गये थे। इसी तरह युधिष्ठरादि पांडव देववीयज थे। पर जन्म से माता के साथ रहने से क्षत्रिय कहलाते थे—देवता नहीं। ऐसे ही वेद व्यास जी पाराशर जी के वीर्यज पुत्र थे और जन्म से पाराशर के साथ रहने से ब्राह्मण कहलाये, कैवर्त या केवट नहीं। एवं देवव्रत भीष्मपितामह, गंगा गर्भज होते हुए भी कार्तिकेय की तरह देवता न कहला कर क्षत्रिय कहलाये इसलिए कि क्षत्रिय पिता शन्तनु के साथ रहे। निष्कर्ष यह कि पुत्र जिस पक्ष में रहता है वही वर्ग जाति उसकी मानी जाती है तो रावण विभीषणादि ब्रम्हर्षि विश्रवा के वीर्यज पुत्र होकर भी अपनी माता—निशिचर कन्या कैकसी एवं नाना माल्यवान निशाचर के साथ जन्म से रहने के कारण ब्राह्मण न कहाकर निशाचर कहलाये।

ग— श्री विभीषण जी रावण के वैमात्रिक भाई तो थे ही अतः रावण की तरह—

उत्तम कुल पुलस्त्यकर नाती।

तो थे परन्तु रावण के पुत्र पौत्रादि नहीं थे, रावण के पुत्र-पौत्रादि ही रावण के कुल के थे, विभीषण जी नहीं।

शंका—२७

रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।

रावण के भाई विभीषण के रहते हुए मंदोदरी ने ऐसा क्यों कहा था? (रामशरण मिश्र)

समाधान

अनित्यमसुखं ज्ञात्वा व्यक्त्वादारगृहादिषु ।
प्राप्तंश्रीरामशरणं धन्यं विभीषणं नुमः ॥

क— भगवच्छास्त्र में बतलाया गया है कि जैसे एक कन्या जबतक कुमारी रहती है तब तक उसका कुलगोत्र पिता का ही कुल गोत्र रहता है। परन्तु उसका विवाह होते ही उसका कुलगोत्र पति वाला कुलगोत्र हो जाता है। चाहे वह पिता के घर रहे चाहे पति के घर रहे। अथवा काल कर्म गति से अन्यत्र कहीं रहे। इसी तरह कोई व्यक्ति जब भगवत् शरणागति ग्रहण कर लेता है तो उसका अच्युत गोत्र हो जाता है, वह अच्युतकुल का हो जाता है।उसका पूर्व (शरीर एवं जन्म सम्बन्धी) कुल एवं गोत्र नहीं रह जाता है—

कृष्णमंत्रोपदेशेन मायादूरमुपागता ।
कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्मकथ्यते ॥
पित्रगोत्री यथा कन्या स्वामिगोत्रेण गौत्रिका ।
भगच्छरण मात्रेण ह्यच्युतगोत्रेण गोत्रिकः ॥
(नारद पाञ्चरात्रीय कृष्ण चामर संहिता)

ख— जब कोई अपने किसी लड़के भाई आदि किसी अन्य को गोद लेने के लिए दे देता है तो वह (गोद ले लिया गया व्यक्ति) अपने जन्म जात कुल का न होकर उस कुल का हो जाता है। यह इतनी प्रसिद्ध एवं प्रचलित बात है कि इसके लिए किसी शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए कि—

(क) भक्तराज बिभीषण जी भगवच्छरण ग्रहण करते ही अच्युत गोत्रीय हो गये इससे अब रावण के कुल के रहे ही नहीं।

(ख) रावण ने लात मार कर विभीषण जी को निकाल दिया और कहा कि—

शठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ।

और इधर शरण में आते ही श्रीरामचन्द्रजी ने अपना लिया गोद रूप से ले लिया। इसी से विभीषण जी के रहते हुए भी रावण के निधन पर रावण के कुल में कोई रोने वाला न रहा क्योंकि विभीषण तो अब रावण के कुल परिवार के रह ही नहीं गये । यह तो हुआ शास्त्रीय समाधान।

विनोदात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि विभीषण के रहने ही से क्या हुआ वे रावण के मरने पर उसके शोक में रोये तो नहीं ही और मँदोदरी का तो विलाप करते हुए कहना है कि—

रहा न कोउ कुल रोवनहारा ।

तुम्हारे मरने पर तुम्हारे नाम को रोने वाला कुल में कोई न बच रहा

स्मरण रहे कि मंदोदरी पति के मरने पर मानवीय नारियों सरीखे विक्षिप्त होकर प्रलाप नहीं कर रही है । वह उपदेव दानव कन्या एवं उपदेव राक्षस पत्नी होने से होश हवाश से दुरुस्त है, केवल विलाप मात्र करती है। इसी से उसके मुख से तथ्य की बातें निकलती हैं।

शंका २९

मानस में सर्वत्र समतुकान्त पद्य ही है असम या भिन्न तुकान्त पद्य एक मात्र लंका कांड में ही मुझे मालूम पड़ा जिसके पूर्वार्ध में "वेद" है तो उत्तरार्ध में "विनोद" यथा—

मुनि जिहि ध्यान न पावहीं नेति नेति कह वेद ।
कृपा सिंधु सोइ कपिन सन करत अनेक विनोद ।।

जब कि यह कहा जाता है कि भिन्न तुकान्त खड़ी बोली के पद्य में होता

है तब मानस जो खड़ी बोली का काव्य नहींहै तो ऐसा क्यों क्या उन्हें उपयोगित शब्द नहीं मिले ? (पं० राम रक्षित शुक्ल रामायणी)

समाधान

षटत्रिंशकोटि ये दासाः सखा ये रामवल्लभाः ।
तेषां मध्ये कदा रामं पश्यामि सरयूतटे ।

मजाक का मजा तब है जब दोनों की ज्ञातव्यता हो अर्थात् जिसकी हंसी उड़ाई जाय वह भी समझ जाय कि मेरी अमुक गल्ती पर यह हंसी उड़ाई जा रही है । और यह बात मजाक करने वालों को मालूम हो जाय कि हमारी हंसी का कारण—लक्ष्य उसे लक्षित हो गया है, यदि ऐसा नहीं तो वह मजाक-विनोद एकांगी हो जाता है-उभयनिष्ठ नहीं रहता । यहाँ का हास्य भी एकांगी ही है सामान्य बानरों की रत्न सम्बन्धी अज्ञानता पर—

हंसत राम श्री अनुज समेता ।

श्रीरामजी अपने भाई और पत्नी के सहित हंस रहे हैं । पर वे प्राकृत बानर बिचारे उस हास्य तत्व को समझ नहीं पाने के कारण अपने उस व्यापार से विरत नहीं हो रहे हैं, बानरों का वही ढंग—

मणिमुख मेलि डारि कपि देहीं ।

आदि व्यपारशील है । ये कपिगण सुग्रीवांगद हनुमदादिबत् अप्राकृत कपिगण नहीं हैं अपितु प्राकृत कपि हैं । अप्राकृत और प्राकृत कपियों में उतना ही भेद है जितना कि शिक्षा एवं सभ्यता के सम्बन्ध में एक नागरिक वैभव सम्पन्न ग्रेजुएट और नितान्त ग्रामीण मूर्ख चरवाहों में इसी तरह और भी स्थानों पर मानस में असम तुकान्त या शिथिल तुकान्त की पंक्तियां हैं और उनके भी तत्तत्स्थानों पर बिशिष्ट भाव हैं ।

ऐसे ही मानसेतर ग्रंथों में भावबिशेष के ही कारण गोस्वामी जो ने जानबूझकर असम तुकान्त रखा है । शब्द दारिद्रय या कवित्व

दारिद्य के कारण शिथिल तुकान्त नहीं हो गया है ।

शंका ३०

करहु कल्प भरि राज तुम मोहिं सुमिरेहु मनमाहिं ।
पुनि मम धाम जाइहौ जहां सन्त सब जाहिं ।।

यदि समुद्र के किसी भाग में, सीलोन लंका या और कहीं भी विभीषण रहते तो अब तक अग्निबोट द्वारा पता लग जाता । अभी एक कल्प नहीं हुआ ? (डा० राजेन्द्रप्रसाद सिनहा)

समाधान

कीन्ह अमर दै विमलवर भक्त विभीषण भूप ।
निसिदिन मम मंगल करत नमो राम नररूप ।।

अधिक तर कालेजों और यूनिवर्सिटियों के धुरन्धर विद्वान कहने वाले लोग ही अपने थोथे विज्ञान, अधूरे भूगोल और स्वकल्पित तीन चार हजार बी० सी० से अधिक नहीं इतिहास काल के आधार पर ही भारतीय सद्ग्रन्थों, श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणादिकों की तथ्य बातों को मिथ्या सिद्ध करने में अपनी समस्ततर्क शक्ति का अपव्यय करके अपना मस्तिष्क शून्य किया करते हैं । उन्हीं भ्रष्ट मस्तिष्क वालों में एक आप भी हैं । आप का समाधान है कि आज का सीलोन तो रावण की लंका है ही नहीं । रावण के समय तो इस सीलोन का ताम्रद्वीप और सिंहलद्वीप दोनों नाम वैसे ही प्रसिद्ध था जैसे आज के बनारस का काशी और वाराणसी । रावण की लंका तो अन्यत्र थी । ताम्रसिंहल तो वर्तमान कन्याकुमारी अन्तरीप से पूर्व भारतीय सन्निकट तट से केवल सेंतिम ३७ मील की ही दूरी पर है और लँका तो रासकुमारी से कई सौ मील पश्चिम पड़ती थी। सबसे प्रथम ईसवी सोलहवीं शती के आरम्भ में पुर्तगालियों ने भारत का नाम इण्डिया और सिंहल का नाम सीलोन रखा । भारतीय ग्रन्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिए अँग्रेजों ने सीलोन का नाम लंका रखकर बताना

चाहा कि भारतीयों के पुराण एवं रामायणादि मिथ्या है । कहाँ राम और कहाँ विभीषण, लंका पर तो हम अंग्रेजों का राज्य है । जब भारत से अंग्रेजों का राज्य हटा और शासनसूत्र अंग्रेजों के मानसिक बेटों, चेलों अथच मानसिक गुलामों को मिला तो इन्होंने उसका नाम श्री लंका प्रसिद्ध किया । अस्तु; महाभारत काल में सीलोन के दोनों नाम ताम्रद्वीप और सिंहलद्वीप विख्यात थे । देखिये महाभारत —

द्वीपं ताम्राह्वयं नाम पर्वतं रामकं तथा ॥२।३१।६९

सागरानूपकाँश्चैव ये च प्रान्तनिवासिनः ।

सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लंकानिवासिनः ३५१।६

पुराणों में लंका और सिंहल दो विभिन्न प्रदेश बतलाये गये हैं । मार्कण्डेय पुराण—

लंका कालाजिनश्चैव शैलिका निकरारतथा ।

ऋषभः सिंहलश्चैव तथा काँचीनिवासिनः ॥ १।५५।२७

श्रीमद्भागवत में जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीपों में सिंहल और लंका को अलग अलग बतलाया गया है—

जम्बूद्वीपस्य राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशान्ति ।

तद्यथा स्वर्णप्रस्थः चन्द्रशुक्लः, आवर्तनः,

रमणकः, मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलः, लंकाचेति ॥

५।१९।२९,३०

वाल्मीकीय रामायण में भरद्वाज ने श्रीरामजी से बतलाया कि—

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।

चित्रकूट इतिख्यातो गंधमादन सन्निभः ॥ ५ ५४।२८

चित्रकूट यहाँ मेरे आश्रम प्रयाग से दशकोस = ढाई योजन दूर है, परन्तु आज इस शतीमें सीधे जँगली मार्ग से या आकाश मार्गसे—

कौवा उड़ानसे लगभग सत्तरह १७ कोस पड़ता है । अर्थात् उस समय का एक कोस आज के तीन मील या पाँचकिलोमीटर के बराबर रहा है । इस हिसाब से बिश्वामित्र के सिद्धाश्रम व्याघ्रसर बक्सर बिहार से गोकर्णक्षेत्र आकाश मार्ग से सीधे आज के तेरह सौ मील तबके एक-सौयोजन दूर है। मारीच गोकर्णक्षेत्र में रहता था । उसने रावण से बतलाया कि–

मुनि मखराखन गयउ कुमारा ।
बिनुफर शर रघुपति मोहि मारा ।।
शत योजन आयउँ छन माहीं

और आज विश्वामित्राश्रम से रामेश्वरम् लगभग दोसौयोजन दूर पड़ता है श्रीवेदव्यासजी बतलाते हैं कि मारीच गोकर्ण क्षेत्र में रहता था । महाभारत । बनपर्व २७६–

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः कालचोदिताः ।
रामस्य वधमाकांक्षन् मारीचं मनसागमन् ।५५।।
त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
ददर्श मकरावासं गम्भीरोद महोदधिम् ।।५६।।
तमतीत्य तु गोकर्णमभ्यगच्छद् दशाननः ।।५७।।
तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।।५८।।

बम्बई से दक्षिण वर्तमान गोआ के पास गोकर्ण क्षेत्र है । त्रिकूट शिखर पर स्थित अपने महल से चलने पर रावण को प्रथम काल पर्वत मिला उसके बाद समुद्र और समुद्र पार करते ही गोकर्ण क्षेत्र । यह वही काल पर्वत है जिसे समुद्र पार करते ही श्रीहनुमानजीने–

शैल विशाल देखि इक आगे। तापर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे।।

जो रामायणि-बंधु पैदल घूमे नहीं, कभी भूगोल पढ़े नहीं

मानचित्र नक्शा देखना जानते नहीं वे कैसे समझ सकते हैं। हाँ तो समुद्र पार करते ही रावण को गोकर्ण क्षेत्र मिला। यदि रावण वर्तमान रामेश्वरम् के आस पास कही समुद्र पार करता तो उसके कई जनपदों और अरण्यकों को पार करने पर तब गोकर्णक्षेत्र मिलता। अतएव महाभारत के अनुसार भी सीलोन रावण की लंका नहीं होनी और गोकर्णक्षेत्र का पौराणिक आख्यान भी यही सिद्ध करता है। बाल्मीकीय रामायण में सुग्रीव ने बानरों को लंका जाने का मार्ग बतलाते हुए कहा था कि—

युक्तं कवाट्यं पाण्ड्यानां ततो द्रक्ष्यथ वानराः।
ततः समुद्रमासाद्य संप्रधार्याथ निश्चयम्। ४।४१।१९

पाण्ढ्यदेश के कपाट =प्रवेशद्वार को पार करके समुद्र के उसपार सौ योजन की दूरी पर दुरात्मारावण का निवासस्थान लंका है। वह पाण्ड्यदेश वर्तमान महीशूर–मैसूर प्रान्त है। विचारने की दूसरी बात यह है कि सीलोन तो भारतीय तट से सौ क्या दशयोजन भी दूर नहीं है। आजसे दो हजार वर्ष पूर्व सम्राट् विक्रमादित्य की विद्वत् नवरत्न सभा के सभापति महापण्डित बराहमिहिराचार्य ने अपनी बाराही सहिता में लंका और सिहल को अलग–अलग कहा है—

अथ दक्षिणेन लंका, कालाजिनः सौरिकीर्णः तालिकटाः
कांची, भरुचीपट्टन, चेर्यार्यिक, सिंहला ऋषभाः ॥

वारा.सं. १४।१७

नवीं शताब्दीके महाकवि मुरारी ने अपने अनर्घराघव नाटक के सातवें अङ्कमें श्रीरामजीके लंकासे पुष्पक पर बैठकर अयोध्या लौटते समय दाहिनी ओर सिंहल का होना लिखा है—

रामः विलोक्य सीतां प्रति देवि ! दक्षिणेन

सिंहलद्वीपमम्भोधिसमुदभूतमिदमुत्पलम् ।
माणिक्यालयकिंजल्करमणीयमुदीक्ष्यते ॥८७

महाकवि राजशेखर ने अपने बालरामायण नाटकमें लंका और सिंहलको भिन्न-भिन्न बताते हुए तीसरे अङ्कमें लिखा है कि सीतास्वयंबर में आये हुये अनेक राजाओं के बीच में सिंहलाधीश राजशेखर को देखकर लंकापति रावणने डाँटते हुये पूँछा कि–

सिंहलपते! कोन्विदं संदिह्यते न च'संदेह देहो बीरब्रत निर्वाह

और दशवें अंक में है कि लंका से लौटती समय पुष्पकपर से ही अपने दाहिनीओर स्थित धनुषाकार भूखण्ड द्वीपको देखकर जब सीताजीने उसके बारे में पूँछा तो विभीषण ने उसका परिचय सिंहल नामसे दियाथा–

पश्यस्यग्रेजालधिपरिखामडल सिंहलानाम् ॥४६॥

भारत ही नहीं अपितु समस्त विश्व जिनके वेदज्ञानको समादर करता है उन स्व० श्रीमधुसूदन ओझा विद्यावाचस्पति ने अपने सुप्रसिद्ध 'इन्द्र-बिजय.' अर्थ विजयः ग्रन्थ के पंचम प्रसंग लंकाप्रसंगमें सिंहलद्वीप और लंका भिन्न-भिन्न हैं।'' इस तथ्यको सिद्धिमें बारह अकाट्य विप्रत्तिपत्तियाँ दी हैं। जिनका कुछ संक्षेप दे रहा हूँ–

२—भारतवर्षीयार्यग्रन्थेषु लंकेति निरक्षदेशस्य संज्ञा क्रियते। सिंहलद्वीपस्तु उत्तरतश्चत्वारिंशत्कलोपेते सप्तमेऽक्षांशे (७४२) संनिविष्टः।

३—अथ सिहलद्वीपो भवत्युज्जयिन्यपेक्षया पूर्वदिक्स्थ इति लंका तु उज्जयिन्याः साम्येन दक्षिणतः।

४— अपिच एष खलु सिहलद्वीपः पंचत्रिंशदधिक शत १३५ क्रोश दीर्घः सार्धद्वाविंशत्यधिकशत १२२॥ बिस्तीर्ण उपलभ्यते, लंकाद्वीपस्त्वयं चतुः शत ४०. क्रोश दीर्घो विंशत्यधिकशत १२० क्रोशविस्तीर्णो रामायणे स्मर्यते।

७—अपिचेह सिंहले बहवः पर्वता महाबलीनाम्नी गंगा च प्रसि-

द्यन्ति । लँकायांतु त्रिकूट सुवेलो द्वौ पर्वतौ बहुधास्मर्यते । यदि तत्र महाबलि गंगाऽभविष्यत् तर्त्हि नूनं तस्या अपि रामायणे चरित्रप्रसंगे क्वचित् उपयोगो ऽभविष्यत् ।

८—यत्तु-अस्ति खल्वपि सिंहलद्वीपे त्रिकूटाचलो रावणविहारस्थान मशोकवाटिका चेत्येषां तत्र सुप्रसिद्धचैवास्य सिंहलस्य लंकात्वं संभाव्यत इति केचिदालपन्ति, तन्न युक्तं प्रतीमः । प्रमाण विरोधे प्रसिद्धि मात्रस्यार्थोपपादकत्वायोगात् । [बालि-जावादिद्वीपेषु च अयोध्या मिथिला मथुरा आदि सन्ति ।]

११—भवति च बहूनां द्वीपानामपिकालेन समुद्रगर्भेप्रवेशः । उक्तं च स्कान्दे प्रभासखण्डे "अष्टौद्वीपाः समुद्रेण प्लाविताश्च तथा परे। १७।१४" तथा च तद्रीत्या लंकाद्वीपस्यापि सर्वात्मना सम्भाव्यते समुद्रगर्भेप्रवेशाद्विलोपः ।

१२—लक्केदीव इत्यवश्यं लंका द्वीपस्यरक्षो द्वीपस्यवापभ्रंशोम वितुर्महति ।"मालिसंज्ञस्य राक्षसविशेष निवासोपलक्षितं स्थान मालद्वीपः Maldive मालिनः पुत्राणां वा निवासोपलक्षितं स्थानं मालेयद्वीपः ।

तथा चैतस्या लंका नगर्यास्त्रिधाकक्षाविभाग आसीत । तत्र मध्यमे लंकार्धे पौलस्त्यानां रावणकुम्भकर्ण विभीषणप्रमुखानामधिपतीनां राजप्रसादास्त्रिकूटाचले सन्निविष्टा अभूवन् । उत्तरेतु लंकार्धे रावणजातीयाः पौलस्त्यानाम् राक्षसावसन्तिस्म । अथ दक्षिणे लंकार्धे सालंकटंकटा माल्यवेयस्तु मालिसुमालिप्रमुखाराक्षसान्यूषुः । सेयमेकैवलंका त्रिधाविभक्तासीत् । तत्रमध्यमोभागो लंकायाः समुद्रगर्भेनिमग्नः कालेनोच्छिन्नोऽभूदिति नेदानीमुपलभ्यते । उत्तर प्रान्तस्तु भग्नावशिष्टाः कश्चिद् भागो रक्षोद्वीपनामा तदपभ्रंशेन लक्केदीव = Lakkadive-Laccadive इत्युच्यते एवमस्या दक्षिणः कश्चन मालेयाध्युषितोभागो भग्नावशेषो मालिद्वीपस्तदपभ्रंशेन Maldive मालदीवनम्नाभिधीयते ।" अथैतयोस्तु लक्कदीवमालदीपयोरद्यापिमनुष्यमांसभक्षकत्वं बहुषु दृश्यते "अयुक्तं सिंहलस्य लंकाभिधानम् ।

लंका सीलोन से सर्वथा भिन्न है, इस बात को विद्यावाचस्पति जी ने अकाट्य बारह वितुपत्तियों को देकर सिद्ध करने के बाद लंका की स्थिति बताते हुये बता रहे हैं कि—

इस लंका नगरी के तीन कक्षा विभाग थे, अर्थात् लंकापुरी में विभिन्न श्रेणी के लोगों का निवास रावण ने अपने ढंग पर निश्चित किया था❁। नगर के ठीक मध्य में पौलस्त्य वंशीय निशिचर, रावण, कुम्भकरण, विभीषण आदि प्रमुख राज परिवार के लोगों के घर थे। राजप्रासाद त्रिकूटाचल पर बना था। लंका की स्थिति उत्तर दक्षिण लम्बाई चार सौ कोश में थी और पूर्व पश्चिम चौड़ाई एक सौ बीस कोश में थी। दक्षिणार्ध में सालकटंकटा से उत्पन्न पुलह वंशी निशिचर मालवेय अर्थात् माली सुमाली आदि के मकान थे। और लंका के उत्त-रार्ध में रावण के नाना एवं प्रधान मन्त्री माल्यवान के साथ बहुत से पुलहवंशी निशिचर रहते थे। काल प्रभाव से लंका का दक्षिणार्ध सहित मध्य भाग (विभीषणादि सहित) समुद्र के गर्त में डूब गया। उत्तर का मालद्वीप और लक्वद्वीप का कुछ अंश बचा है। जिसमें आज भी आदमखोर निशिचर पाये जाते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाणपुन्ज बत-लाते हैं कि सीलोन किसी तरह भी रावण की लंका नहीं है। सीलोन से सैकड़ों योजन पश्चिम लंका थी। जिसे जरा भी भूगोल समझने की तमीज होगी वह 'यहि सर मम उत्तर तट बासी' के अर्थ में रामे-श्वरम् से उत्तर मरुकान्तार=मारवाड़ का अर्थ कर ही नहीं सकता। हाँ वह गोमन्तकीय तट गोवा से उत्तर अवश्य है।

❁ जिहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे।

राक्षसों का दो कुल था— बहुत विस्तृत निशिचर कुल पुलह वंशी थे, दूसरे पुलस्त्य वंशी थे।

समय-समय पर समुद्र में अनेकों द्वीपोपद्वीप लुप्त प्रगट होते रहते हैं—आज से तीन हजार वर्ष पूर्व ग्रीस=यूनान के सूरदास महाकवि होमरने स्वरचित इलियड महाकाव्य में इजिप्ट समुद्र के किनारे बसे ट्रायनगर का बड़ा विस्तृत बर्णन किया है, और हेलन सुन्दरी के लिये दस वर्ष व्यापी महायुद्ध का वर्णन ट्रोजनों की वीरता और पतन आदि का खूब रोचक वर्णन किया है। इस विश्व प्रसिद्ध महाकाव्य इलियड में वर्णित ट्राययुद्ध को १९२५ ई० से पूर्व तक आज के स्वयंभू ग्रेज्यूएटगण "अन्धे को अन्धेरे में बड़ी दूर की सूझी" कहकर अन्धे-होमर की कल्पनामात्र मानते थे क्योंकि होमर के बताये ट्रायनगर के स्थान पर दर्रेदानियाल-डार्डेनेल्स नामक समुद्र प्रणाली लहर मारती थी। जब ट्रायनगर ही नहीं तो उसका युद्ध कैसा? परन्तु १९२५ ई० में कालेजी वेदों अखबारों ने सूचना दिया कि होमर का ट्रायनगर मिल गया जो ट्रायनगर कि ईसा से ३७३ वर्ष पूर्व भूकम्प से समुद्रके गर्भ में विलीन हो गया था। क्योंकि वहां से ईजियनपार वाला एशिया माइनर का महासमुद्र किसी अज्ञात दैवीकारणसे पीछे हट गया अब वहाँ प्राचीननगरके ध्वंसावशेष दिखाई देने लगे हैं। आजके वैज्ञानिक भी देखते हैं कि कई स्थानोंपर समुद्र के भीतर जीते जागते चलते-फिरते मनुष्यों की बस्तियाँ हैं। वे कभी के डूबेहुए नगर किंवा द्वीप उपद्वीप आदि ही तो हैं। और भी देखिये—लखनऊ की मासिकपत्रिका माधुरी २२ दिसम्बर १९२५ ई० के पृष्ठ ८११ पर एक डूबा हुआ नगर" शीर्षक गवेषणापूर्ण लेख।

२-यूरोपके महान्दार्शनिक महाप्राण प्लेटोने पादरियोंसे सुना कि ईसासे ७००० वर्षपूर्व एक अटलांटिकनामक नगर ईजिप्टसमुद्र पर था जो एक भूकंप में समुद्रमें विलीन हो गया। प्लेटोने उस कहानी को विस्तृत इतिहास के रूप में लेखबद्ध कर दिया, तबसे कईबार गोताखोरोंने अनुसंधान किया असफल रहे। परन्तु १९५० ई०

में चार फ्रांसीसी गोताखोरों को कुछ आभास मिला है, खोज जारी है।

३–जमैकाद्वीपके प्रमुख बन्दरगाह "पोर्टरायल पर १६५२ ई० से बृटेन का कब्जा था। ७ जून १६९२ ई० के भयंकर भूकंप में पोर्ट-रायल समुद्र में डूबगया, स्वानफिग्रोट' नावपर बैठेहुए कुछलोगही चमत्कारिक ढंगसे बचगये थे। लन्दन के प्रसिद्धवास्तुकलाविद् लिंक और उनकी पत्नी मरियमने बड़े परिश्रम एवं द्रव्य व्यय करके अनेक गोताखोरों की मददसे अभी-अभी १९५९ ई० में पोर्टरायलके डूबने के स्थानसे अनेक प्राचीन वस्तुओं को प्राप्तकिया, अभी भी खोज जारी है।

[विस्तारसे देखिये १ जुलाई १९६२ के धर्मयुग में जैनेन्द्रजीका अनुसंधान पूर्वक लेख।]

आजसे पाँचहजारवर्ष पूर्व युधिष्ठिर के कालतक तो लंका और विभीषण का पता लोगोंको था ही। दक्षिणविजयमें माद्रीनन्दन के लिये विभीषणका भेंट भेजना महाभारतमें बहुत स्पष्टशब्दों में है। दोहजारवर्ष पूर्व महापण्डित बराहमिहिर को; ग्यारह सौ वर्ष पूर्व महाकवि राजशेखर को और एक हजार वर्ष पूर्व भास्कराचार्य और ८ नौ सौ वर्षपूर्व राजतरंगिणीकार महाकवि कल्हण (रा० त० सर्ग ३ श्लो० ७३ से ७९ तक और सर्ग ४ श्लोक ५०५ भी) तकको रावण विभीषण की लंका और सिंहल–सीलोनका अलग-अलग पता था। परन्तु आजतो विभीषणकी लंका अवश्य ही समुद्रतलमें निहित है जिसकाकारण अज्ञात है। सुप्रसिद्ध कल्याणपत्र के रामायणांक में प्रकाशित मानचित्र के अनुसार अफ्रीकामहाद्वीप के पूर्व, मेडागास्करके उत्तर और मालद्वीप के दक्षिण आस पास समुद्र में यदि वैज्ञानिक गोताखोरलोग काफीनीचे तक ढूंढ़े तो सम्भवतः कुछ पता लगसके।

अभी अभी १९४६ ई० में लन्दनके 'साउथेम्पटन' बन्दरगाह के पास बीसफुट लम्बी, चारफुट चौड़ी और एकसौ आठ मन वजनकी जो एक जलमनुष्यकी लाश मिली थी उस भयंकर आकृति वालेके निवा-

सस्थान का पता लगाने से लंका या किसी अन्य राक्षसीयद्वीपका पता लगसके । आजसे कईवर्ष पूर्व नैपाल और आसामके पूर्व हिमालय में जो व्यक्ति चलता-फिरता पहाड़सा कई महीनों तक दिखाई देता रहा, जिसकेलिये समाचार पत्रोंने खूब चिल्लपोंमचाईथी कि ऐसा विशालकायमनुष्य जो सैकड़ोंफुट का लम्बाचौड़ा है निर्धारित प्रागैतिहासिक कालसे आजतक नहीं देखागया, जिसके ड़रसे कितनीही बस्तियाँ उजाड होगईं । कितनेलोग घर छोड़कर अन्य जगह बसगये हैं, अभी भी वहाँ जाते डरतेहैं । अन्वेषकोंको पता लगाना चाहिये कि वह किसदेशका आदमी था । विशालकाय हिममानवकी चर्चातो आजभी अखबारों में चर्चा का विषय बनाही है ।

नव भारत टाइम्स ४।१७।५१ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था कि नासिकमें ज्ञानवर्धिनी सभाके तत्वावधान में हुई सभामें डा० गुप्तेने एक नये संशोधनका उल्लेख करते हुए कहाकि रावणकी लंका सिंहल नहीं वल्कि रामायण के आधारसे बम्बई के साष्टींद्वीप या उसके आस पास कही थी । और नय्यर नामक एक विद्वान ने जबलपुरके नजदीक और मेहता नामक एक जजने आष्ट्रेलियाको लंका बतलाया वह सब गलत है । मेहता की ही नकल किन्हीं हरिदासजी नागाने मासिक मानसहसमें की है । लङ्का कहीं वर्तमान अरबसमुद्रमें होनी चाहिये उसका पता समुद्रगर्भमें लगनेसे ही विभीषणका साक्षात्कार होना शक्य है । सीलोनकी दूरी दक्षिणभारतके कन्याकुमारीके पूर्वीयतट धनुषकोटि और रामेश्वरमसे सैंतीसमील मात्रहै और आस्ट्रेलियाकी दूरी ३३०० मील है । अतः दोनोंही लंकानहींहै' और मध्यभारतमें लंकातो जबलपुरके अंग्रेज कमिश्नर कीबेसाहबकी बुद्धिका दीवालियापन है ।

आज सिंहलद्वीप या सीलोनमें न तो कहीं सुबेलपर्वत है और न कहीं सुबेलके रहनेका चिह्नही स्मारकरूपमें बतायाजाता है। इसी तरह रावणका राजमहल या रावणकीराजधानी अमुकजगह सिंहलमें थी

ऐसा कोई भी नहीं मानता। सुना गया है कि अब सिंहली भाषा भाषियों ने सिंहल श्री लंका के नव निर्माण में रावणादि का स्मारक बनाने में संनद्ध हैं।

शंका–३१

जब श्री सरकार लंका विजय करके लौट रहे थे श्री प्रयागराज पहुँचकर—

पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हर्षित मज्जन कीन्ह।
कपिन सहित विप्रन कहँ दान विविध विधि दीन्ह ॥

शंका होती है कि इस अवसर पर सरकार के पास धन कहाँ से आया ! यदि कहा जाय कि विभीषण का दिया हुआ होगा तो विभीषन जी की भेंट को तो "तोर कोश गृह मोर सब" कहकर लौटा दिया था। जिसे

'नभ पर जाइ विभीषन तबहीं।
बरषि दिए मनि अंबर तबहीं ॥'

तो प्रयागराज में दान देने वाला धन श्री सरकार को कहाँ से मिला। (जगदीश नारायण सिंह 'प्रेम' भागलपुर)

समाधान

दीबो लेब न उचित गुनि, धन न लंक कर लीन।
सिन्धुसमर्पित द्विजन दिय, जे हरि परम प्रवीन ॥

यह बात सर्वथा ठीक है कि सरकार ने विभीषण से कुछ भी नहीं लिया था प्रत्युत विभीषण के दिये हुए मणि गण को—

तोर कोश गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु तात।

कहकर लौटा दिया था और आकाश पर जाकर विभीषण द्वारा वर्षाए हुए मणि अम्बरों में भूषणों एवं अम्बरों-वस्त्रों को तो वानरों

ने पहिन लिया था–

भालु कपिन पट भूषन पाये। पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आये।।

और मणियों को—जो मणियाँ कि भूषण वस्त्रों में जड़ी नहीं थी उन्हें बानरों ने निकम्मी समझकर लिया ही नहीं था–

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मणि मुख मेलि डारि कपि देहीं।।

अतः विभीषण के यहाँ की कोई भी वस्तु त्रिवेणी तट पर प्रभु एवं बानरों के द्वारा नहीं दी गई थी क्योंकि पट भूषण नहीं दिये जब गये थे। व्यवहार में लाई ऐसी वस्तुओं का दान होता नहीं तथा मणियाँ आई ही नहीं थी। परन्तु जिस समय श्री राम जी ने तीन दिन सत्याग्रह के पश्चात् समुद्र पर कराल बाण का संधान किया था जलनिधि के जलचर जलने लगे थे तब समुद्र ने स्वर्ण थार में भरकर मणियाँ प्रभु के चरणों में भेंट किया था—

सन्धानेउ प्रभु विशिख कराला। उठो उदधि उर अन्तर ज्वाला।।
मकर उरग झषगन अकुलाने। जरत जन्तु जल निधि जब जाने।।
कनक थार भरि मनि गन नाना। बिप्ररूप आयउ तजि माना।।

जाते समय समुद्र उस कनक थार को मणियों को लिये गया हो ऐसा वर्णन नहीं आता और मर्यादा भी नहीं हैं अतः वे ही मणियाँ सुग्रीवादि के पास सुरक्षित थीं जो अनेकानेक बानरों सहित विधान पूर्वक त्रिवेनी तट पर विप्रों को दी गई।

चरन बन्दि पाथोदि सिधावा ।।

शंका–३२

१–सरकार ने कराल विशिख द्वारा समुद्र को सोखना चाहा परन्तु उसकी प्रार्थना पर समुद्र के उत्तर तट वासी दुष्ट मनुष्यों को तुरन्त ही कैसे मार दिया ?

२–सरकार के भारी बल पौरुष को समुद्र ने कैसे देखा ?

३–वे उत्तर तटवासी खल गण कौन थे और कहां रहते थे ? रावण से क्या कोई पीड़ा नहीं थीं ?

(राम सुपाल भट्ट रामायणी खरमसेड़ा सतना म०प्र०)

समाधान

नमहुँ रामशर छुटत इक, हरति निखर्बन प्रान ।
बढ़त छनहिं छन शक्ति अति, जिमि सत्पात्र सुदान ।।

१–भारत वर्ष के पश्चिम बम्बई से दक्षिण गोमन्तक क्षेत्र (गोवा) से पश्चिम अफ्रीका के पूर्वी तट से पूर्व मेडागास्कर लक्षद्वीप और मालद्वीप आदि से उत्तर जिसे आज अरब सागर कहा जाता है। उस समुद्रीय क्षेत्र से उत्तर स्थल पर द्रुमकुल्य नामक क्षेत्र है जिसे आज मरुकान्तार या मरुधन्वन कहा जाता है। गोमन्तक क्षेत्र [गोआ] के पास समुद्र राम सम्वाद हुआ था वहीं से श्रीरामजी ने वह अमोघ बाण छोड़ा था। एक बाण से सभी दुष्ट कैसे मरे इसपर एक श्लोक उदाहरणार्थ पर्याप्त होगा—

त्रोणैनैक शरः करेण दशधा संधान काले शतम् ।
चापेऽभूत् सहस्र लक्ष गमने कोटिश्च कोटिर्बधे ।।
अन्ते खर्व निखर्व बाण निकरैस्सीता पतिश्शोभते ।
एतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्रदानं यथा ।।

(स्तोत्रावली)

२–श्रीराम जी के बाण अपना काम करके पुनः लौट आते थे, दुष्ट आभीरों को मारकर वह बाण लौट आया—

रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीर मंडलम् ।
हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत् स्थितः ।।

[अध्यात्म रामायण ६।३।८१]

श्रीराम वाणों का लौट आना मानस में कई बार आया है—

अस कौतुक करि रामशर प्रविशेउ आइ निषंग ।
मंदोदरि आगेभुजशीशा । धरि शर चले जहाँ जगदीशा ।।
प्रविशे सब निषंग महँ जाई ।

एक ही वाण से खलों को मार डाला, जब यह देखा तब बल का ज्ञान हुआ और बाण काम करके तुरंत लौट आया इससे (पौरुष) (पराक्रम) देखा ।

३— समुद्र ने बताया था कि (वा०रा० ६।२२।३२,३३,३४)

उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित् पुण्यतरो मम ।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान् ।३२।
उग्र दर्शन कर्माणो बहवः तत्र दस्यवः ।
आभीर प्रमुखाः पापाः पिवन्ति सलिलं मम ।।३३।।
तैर्न तत्स्पर्शनं पापं सहेयं पापकर्मभिः ।
अमोघः क्रियतां राम अयं तत्र शरोत्तमः ।। ३४ ।।

कहा जाता है कि वे पापी आभीर दस्यु साठ हजार थे । वेद्रुमकुल्य क्षेत्र (वर्तमान मारवाड़प्रदेश) में रहते थे । समुद्र को भी रावण से पीड़ा थी परन्तु रावण को मारने के लिए तो श्रीरामजी जा ही रहे थे इससे समुद्रने रावण जन्य अपराध नहीं कहा । उन द्रुमकुल्यों से मारवाड़ निवासी सज्जनो को भी महान कष्ट रहा होगा ।

नोट—

यह शंका समाधान सुन्दर काण्ड में भूल से नहीं छप सका था । अतः यहाँ दिया गया है ।

भ्रम-भञ्जन

कमल पानि कमलासना, कमलकाँति कमनीय ।
शिशु अबोध निजि मोहिं गुनि, छमिहिं दोष सब सीय ॥

रामसीय पदपद्मअलि, खलदल दव बिकराल ।
रोम रोम शत वज्र बल, जयति प्रभञ्जन लाल ।

गोस्वामी श्री तुलसीदासजी महाराज रचित रामचरितमानस की सभी पंक्तियाँ मन्त्रवत् सभी आनुष्ठानिक प्रयोगों में लाई जाती हैं। शिवप्रासादित होने से वे शाबरीमन्त्रवत् सद्यः फलप्रद हैं। शाबरी मन्त्रों में–

"अनमिल आखर अर्थ न जापू । प्रगट प्रभा पाठ-ेश प्रतापू ॥"

होने से प्रायः शुद्धाशुद्ध अर्थानर्थ योगायोग का भेद नहीं रहता। परन्तु गोस्वामीजीकी सभी मूल रचनायें सार्थक हैं। कोई भी निरर्थक या पादपूर्त्यर्थक अक्षर या शब्द भी नहीं हैं। अर्थ विचारने पर बहुत से प्रचलित पाठों के कारण भ्रान्तियाँ व्याप्त हो गयी हैं। उनके निराकरण पूर्वक कुछ उद्धरण ये हैं।

(१) 'श्री हनुमानचालीसा' भी गोस्वामीजीका सैद्धान्तिक स्तोत्र माना जाता है। उसके अनुष्ठान से लोग लाभान्वित होते आये हैं। उसकी एक चौपाई का पाठ अनर्थ मूलक विकृत है–

''शंकर स्वयम् केशरी नन्दन । तेज……॥'

इसका भ्रष्ट पाठ "शंकर सुवन" प्रचलित है। किसी भी प्रामाणिक सात्विक ग्रन्थ में हनूमान जी को शंकर जी का पुत्र नहीं कहा गया है। अन्यत्र कहीं तदर्थक पाठ भी नहीं है। पुत्र चार तरह के माने जाते है। १--औरस, २–क्षेत्रज, ३–दत्तक और ४–क्रीत या पोष्य।

१– औरस—स्त्री में वीर्याधान करने से संतान पैदा होती है।

वह वीर्याधान करता व की औरस अथवा उसकी आत्मज संतान होती है।

२-क्षेत्रज-किसी की पत्नी में दूसरा कोई गर्भाधान (नियोग) करता है। तो वह सन्तान गर्भाधान कर्ता का आत्मज-औरस और पत्नी वाले का क्षेत्रज कहा जाता है।

३- दत्तक--विधि पूर्वक गोद लिया संतान दत्तक कहलाता है।

४- जिसे खरीद लिया हो वह क्रीतक होता है। और जिसे कहीं अनाथालय आदि से लेकर पाला जाता है वह पोष्य है और पोष्य तथा क्रीतक दोनों एक श्रेणी के होते हैं। उपदेव जाति के वानर प्रवर केशरी के क्षेत्रज और पवन देव के औरस आत्मज हनूमानजी है। इसी से केशरी किशोर, केशरी नन्दन आदि तो कहा जाता है। परन्तु केशर्यात्मज नहीं। वे तो पवनात्मज एवं अंजनात्मज ही कहे जाते हैं। और हैं ।

उक्त चार प्रकार में किसी तरह के भी पुत्र हनूमानजी शंकरजी के नहीं हैं। एक तामस महापुराण की कथा कही जाती है, कि मोहिनी रूप दर्शन से भू पतित शिव बीर्य का जो अंश पवन में था वह पवन के शरीर में पैवस्त होकर पवन का वीर्य बन चुका था। वह शिव वीर्य नहीं रह गया था। उससे यदि हनुमानजी हुए भी हों तो पवन वीर्यज हैं। गोस्वामी जी के दोहावली में संग्रहीत दो दोहों में हनूमान जी को शंकर का अवतार कहा है—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुखा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान्॥ दो० १४२॥
जिहि शरीर रति राम सों सोइ आदरहि सुजान।
रुद्र देह तजि नेह वश बानर भे हनुमान्॥दो १४५॥

'रुद्र देह तजि" बता रहा है कि एक पाद विभूति के किसी रुद्रने

तो शरीर त्यागा नहीं, हाँ त्रिपाद विभूति के महाशंभु = महारुद्र ही वहाँ का दिव्य शरीर त्यागकर एक पाद विभूति में आकर साकेत से आये हुए श्रीराम पार्षद श्री हनूमान जी के शरीर में प्रविष्ट होकर एक हो गये । इसी से एक पाद वाले पंचमुखी शंकर हनूमान जी से बल में न्यून हैं । यथा—

पचमुख छ मुख भृगुमुख्य भट,
असुर सुर सर्व सरि समर समरत्थ शूरो

(गोस्वामीजी रचित हनुमान बाहुक)

रामाश्वमेध में तो प्रत्यक्ष हारना कहा भी गया है । अतः हनूमानचालीसा एवं बजरंगवाण का शुद्धपाठ शंकर स्वयम् है । (शंकर सुवन नहीं) श्री अयोध्या जी के प्रसिद्ध सिद्ध संत साकेत वासी परमहंस श्री राममंगलदास जी ने "शंकर स्वयम्" पाठ ही कई आवृत्तियों में छपाया है ।

प्रजापति कश्यप की द्वितीय पत्नी दिति ने सवति के पुत्र इन्द्र को मार डालने वाले पुत्र को उत्पन्न करने के लिए उत्तम विधि से गर्भ धारण किया था । परन्तु एक दिन सायंकाल के समय कुछ खाकर विना मुह धोये, बिना पाव धोये सो गयीं । (भागवत, ६।९।६०) इन्द्र ने सूक्ष्म शरीर से विमाता के उदर में प्रवेश करके गर्भ के सात टुकड़े कर दिए । पुनः प्रत्येक के सात खण्ड कर दिए । ७ × ७ = ४९, उनचास पवन हुए । उनके नाम— १–प्रभंजन, २–आवह, ३–अवह, ४—उद्वह; (करह), ५—सुवह, ६–परिवह, ७–जरीवह, ८–सबह, ९–स्पर्शन, १०–स्वशन, ११–मातरिश्वा, १२–सदागति; १३–शदस्व, १४–गन्धवाह, १५–अनिल, १६–आशुग, १७–समीर, १८–मारुत, १९–मरुत, २०–जगत्प्राण, २१–समीरण, २२–नभस्वान, २३–बात, २४–पवन, २५–पवमान, २६–वाह, २७–धूलिध्वज, २८–वात, २९–वाति,

३०–बास, ३१–नभप्राण, ३२–भोणिकात्त, ३३–स्वकम्पन, ३४–अक्षति, ३५–कम्प लक्ष्मा, ३६-शसीनि, ३७–आवन्ह, ३८–हरि, ३९–सार, ४०–सुरवाश, ४१–मृगवाहन, ४२ चंचल, ४३–विहग, ४४–प्रकम्पन, ४५ नभस्वर, ४६-निस्वासक, ४७-स्तनून, ४८-पृषताम्पति, ४९-सूक ।।

समस्त पवनों में प्रभजन सबसे प्रवल हैं । उनका वेग प्रलयकाल में प्रकट होता है । उस समय मेरु आदि बड़े-बड़े पर्वतों को उखाड़ाकर उन्हें समुद्र में फेंक देते हैं । "जिहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं।" तब समुद्र में एकाएक भयंकर उछाल आजाता है । और संपूर्ण पृथ्वी का प्लावन हो जाता है । उन्ही प्रचण्ड पवन प्रभंजन वायु के औरस आत्मज श्री हनुमान जी है—

"जीति न जाइ प्रभञ्जन जाया ।'

"चला प्रभंजन सुत बल भाखी ।"

"प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय०। [विनय०५८]

२—रामचरित मानस पढ़ने वाले जानते हैं; कि कुटिला मंथरा ने मझिली महारानी श्री कैकेयी जी से महाराज दशरथ जी की निन्दा किया—"मन मलीन मुह मीठ नृप० ।२।१७। बड़ी महारानी श्री कौशिल्या जी की निन्दा किया—

जरि तुम्हारि चह सवति उखारी ।२।१७।८।

'रचि प्रपंच भूपहिं अपनाई ।२।१८।६।।'

सवति सुभाव सकइ नहि देखी ।२।१८।५

साल तुम्हार कौशलहि माई ।२।१८।४

कद्रू विनतहि दीन दुख तुमहि कौशला देव २।१९

श्रीराम और लक्ष्मण की निन्दा किया—

भरत वन्दि गृह सेइहैं राम लखन के नेव ।।२।१९

इन्हीं कारणों से गोस्वामी जी ने लिखा है—

निज निन्दक अघ ओघ नशाये ।
लोक विशोक बनाइ बसाये ।।१।१६।३

किन्तु इस तथ्य के बिना विचारे लोगों ने गड्डलिकाप्रवाह में पड़कर बौद्ध गुणाढ्यकी कल्पना को प्रश्रय देने के लिए अज्ञान से "निज निन्दक के स्थान पर' सियनिन्दक" पाठ कर दिया है । जबकि गोस्वामी जी ने अत्यन्त साफ शब्दों में लिख दिया है कि—

उमा रमा ब्रह्मानि बन्दिता ।
जगदम्बा संततमनिन्दिता ।। (रा.च.मा.७।२४।८)

अर्थात् जगज्जननी जानकी जी की कभी निन्दा नहीं हुई। गोस्वामी जी को यह चौपाई इसलिए लिखनी पड़ी कि गोस्वामी जी के समय में गुणाढ्य की अपकल्पना प्रचार प्रसार पा गयी थी । अतएव—

निज निन्दक अघ ओघ नशाये ।१।१६।३

पाठही सब से उचित है ।

३—इसी प्रकार किसी प्रतिलिपिकार की असावधानता के फलस्वरूप लंका दाह के समय की चौपाई का हाल है—

राहन नगर बसन घृत तेला ।
बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला ।। रा.च.मा.५-२५-८

इसमें 'राह' की जगह पर 'रहा' लिपिकार द्वारा लिख उठा तो "रहा न" पाठ प्रचलित हो गया था । जबकि गोस्वामी जी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ कवितावली में 'संग्रहीत है कि—

बसन बटोरि खोरि-खोरि तेल बोरि-बोरि,
तमीचर धाइ-धाइ बाँधत लंगूर हैं । क. ५।३

इस कथन का मूल आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण है। यथा—

वेष्ठन्ते तस्य लांगूलं जीर्णैःकार्पासकैः पटैः ।।

(वा०रा० ५।५३।६१)

अर्थात् हनूमान जी की पूंछ में सूती पुराने सड़े कपड़ों के चिथड़े लपेटे गये थे। वस्त्रों, घी तेलके समाप्त होने की चर्चा नहीं है। हिन्दी भाषा में "न" बहुवचनात्मक प्रत्यय है। यह जिस सर्वनाम के अन्त में जुड़ जाता है, वह बहुत के अर्थो मे हो जाता है। जैसे— "राम सकल नामनते अधिका ।।" नृप केरि अशानिशि नाशी ।।" "रिषिन गौरि देखी तहँ कैसी ।" "सखिन मध्यसियसोहति कैसी ।।" आदि ।। ज्ञातव्य है, कि हिन्दी के किसी कोश में "न्ह" का स्थान नहीं है। यह "न्ह" तो मानस पीयूष एवं गीता प्रेस की देन है। अतः "राह" शब्द के अन्त में— 'न' प्रत्यय लगा देने से राहन शब्द- गलियों, रास्तों, मार्गों, खोरियो के अर्थ को प्रकट करता है। श्री शहजाद सिंह—रामायणी शाहगंज जौनपुर ने सं० २०१७ वि० में "राहन" पाठ प्रकट किया है। इसके विपरीत यदि 'रहान' पाठ माना जायतो महान अनर्थ हो जायेगा। कई प्रश्न एक ही साथ खड़े हो जाएगे। जिन पर सुन्दर काण्ड की शंका समाधान में विचारपहले किया गया है।

४- जिहिदिन राम जनम श्रुति गावहि ।
तीरथ सकल इहाँ चलि आवहि ।। [१-३४-६]

इस चौपाई में यदि 'तहाँ' पाठ होता तो 'आवहि' और 'आइ करहि' पाठ न होकर जावहि और 'जाइकरहि रघुनायक सेवा' ।। (१।३४।७) पाठ होता। परन्तु दोनों चौपाइयों में क्रमशः 'आवहि' और 'आइकरहिं । पाठ होने से इहाँ पाठ शुद्ध है।

तीरथ सकल इहां चलि आवहि ।'

तहाँ पाठ सर्वथा=असंगत अतएव अशुद्ध है। कारण यह है कि गोस्वामी जी अयोध्या में बैठकर लिख रहे है-।-अवधपुरी यह चरित प्रकाशा ।।१।३४।५।

५—इसी तरह—

माघमकर गत रबि जब होई। तीरथ पतिहि जाइ सब कोई ।।
तहां होइ मुनि रिषय समाजा। जाहि जे मज्जन तीरथ राजा।।
(१।४४।२तथा७)

इस चौपाई में तहाँ और 'जाहि' पाठ होने से 'तीरथ पतिहिं जाइ सब कोई ।। पाठ शुद्ध है "आत इस लिए असंगत एवं अशुद्ध पाठ है। कि गोस्वामी जी अयोध्या में बैठकर लिख रहे है। प्रयाग में नहीं अतः इस चौपाई में "आइ" पाठ संदर्भ दूषि है। अतः जाइ पाठ सर्वथा अविचारित है। ऐसे ही—

६—प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भये बानर निकर।
आइ गये हनुमान जिमि करुना महं बीररस ।।सा०५।६०।।
इस आइ गये के साहचर्य से—

इहां राम लछिमनहिं निहारी। (५।६०।१)

पाठ ठीक है। क्योंकि "उहाँ" के लिए 'चले गये' "पहुचि गये" आदिक पाठ होता "आइ गये नहीं"। अतः इहाँ राम लछिमनहिं निहारी। पाठ है तभी तो "आइ गये" बनता है।

७—इसी तरह

'उहाँ राम रजनी अवशेषा। जागेसीय सपन अस देखा'।।
'सब समाचार किरात कोलन 'जाइ' तिहि अवसर कहे'।
(रा०च०मा० २।२२५।३)और छन्दान्त)

विचारने की बात है कि उहाँ की सगति 'जाइ' से लगती है' 'आइ' से नहीं अतः-

'सब समाचार किरात कोलन 'जाइ' तिहि अवसर कहे ।'

उक्त चौपाई २।२२५।३ में उहाँ का पाठ परिवर्तन इसलिये नहीं किया जा सकता कि आगे २।२३२।४ का सुसंगत पाठ है—

इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये ।।

ब—एक सामान्य नीति है कि—

'रूठे सुजन मनाइये जो रुठइं सौं वार ।' (रहीम)

रूठे हुए को मनाया जाता है । श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या से रूठकर बन नहीं चले गये थे । अपितु प्रसन्न चित्त से मझिली माता की आज्ञा से गये थे । तब श्रीरामजी के लिए मनावन कैसा । अतः जात लिवावन रघुपतिहिं । (२।२।२१) ।। रामहि भरत लिवावन जाहीं ।।२।१६१।६।।

शुद्ध एवं समीचीन पाठ 'लिवावन' है किसी एक ने गलती से "मनावन जाही" लिख दिया तो उसी को—

अन्धेन नीयमाना यथाऽन्धा ।।

न्याय से अविचारितपाठ "मनावन" को परकीय बुद्धि पर चलने वाले लोग मानने और मनवाने लगे । पता नही संशोधक और सम्पादक महानुभाव क्या सम्पादन और संशोधन करते हैं ।

यह तो स्थाली पुलाक न्याय से कुछ प्रचलित भ्रम का भंजन किया गया है । इसी तरह श्री तुलसी साहित्यमें प्रतिलिपि दोष से दर्जनों स्थान विचारणीय है । कई जगह पाठ का व्यत्ययास भी है । परन्तु अभी मेरे पास समय और स्थान दोनों का अभाव है ।

* उत्तर काण *

शंका १

मानस में बामदेव महर्षि का नाम कई बार आया है। परन्तु परिचय नहीं मालूम कि ये बामदेव ऋषि कौन हैं। हमारे इधर इन्हें वशिष्ठ जी का पुत्र कोई कोई कहते हैं, पर कोई प्रमाण नहीं देते अतः प्रमाण पूर्वक जानने की जिज्ञासा है।

(लोचन सिंह पटेल साल्हे, बिलासपुर)

समाधान

बामदेव मुनि पद नमो बामदेव सम बाम।
गिरिजा गुरु अरु भानुकुल मंत्री प्रोहित नाम॥

बामदेव महर्षि को कहीं भी वशिष्ठ का पुत्र नहीं कहा गया, यहाँ तक कि जहाँ कहीं श्री बशिष्ठ जी के पुत्रों का नाम गिनाया गया है वहाँ भी किसी पुत्र का नाम बामदेव नहीं कहा गया है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के मानस पुत्रों में एक गोतम नाम के मानस पुत्र थे। उन्हीं ब्रह्मर्षि गोतम के पुत्र बामदेव थे इसी से ऋग्वेद के चौथे मंडल में इन्हें बामदेव गौतम कहा है। ऋग्वेद के चौथे मंडल में कुल अट्ठावन सूक्त है जिनमें ४२।४३।४४ इन तीन सूक्तों के ऋषि दूसरे हैं बाकी १ से ४१ तक और ४५ से ५८ तक ५५ सूत्रों के ५६५ मंत्रों के ऋषि महर्षि बामदेव ही हैं।

विश्व कोष का कहना है कि हेमाद्रि ने परिशेष खण्ड में इनका उल्लेख गोतम पुत्र करके किया है। वायु पुराण के अनुसार ब्रह्मा के

मानस पुत्र थे गोतम। [स्मरण रहे कि अहिल्या पति गौतम भी गोतम ही गोत्रीय थे। जो दशरथ के उपपुरोहित नहीं थे।]

दशरथ जी के दो प्रधान पुरोहितों में बामदेव जी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। देखिये बाल्मीकीय रामायण बाल कांड सर्ग सात—

ऋत्विजौद्वावभिमतौतस्यास्तामृषिसत्तमौ।
बशिष्ठो बामदेवश्च मंत्रिणश्च तथा परे ।३।

सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घयुस्तथा कात्यायनो द्विजः ।४।
एतै ब्रह्मर्षिभिर्नित्यमृत्विजस्तस्य पौर्वका ।५।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने तो कहीं कहीं देवर्षि नारद और ब्रह्मपुत्र वशिष्ठ जी से भी पहले वामदेव जी का स्मरण किया है-

'बामदेव अरुदेवरिषि बाल्मीकि जाबालि।'
'बामदेव वशिष्ठ मुनि नायक ॥'

श्री पार्वती जी के गुरु यही महर्षि बामदेव ही थे पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में महर्षि वशिष्ठ और महाराज दिलीप का संवाद है वहां अध्याय २५४ में वशिष्ठ जी ने दिलीप को बताया कि स्वयं भगवान रुद्र ने श्री पार्वती जी को भगवन्मंत्र ग्रहण करने योग्य गुरु से दीक्षा लेने को प्रेरित किया था। देखिये—

रुद्र उवाच—

गुरूपदेश मात्रेण पूजयित्वैव केशवम्।
प्राप्नोति बाञ्छितं सर्वं नान्यथा भूधरात्मजे ।७।

वशिष्ठ उवाच—

एवमुक्ता तदादेवी बामदेवान्तिकं नृप ।
जगाम सहसा हृष्टा विष्णुपूजनलालसा ।८।
समेत्य तंगुरुं देवी पूजयित्वा प्रम्णय च ।
विनीता प्राञ्जनिर्भूत्वा उवाच मुनिसत्तमम् ।९।

पार्वत्युवाच—

भगवंस्त्वत्प्रसादेन सम्यगाराधनं हरेः ।
करिष्यामि द्विजश्रेष्ठ त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।१०।

वशिष्ठ उवाच—

इत्युक्तस्तु तदादेव्या बामदेवो महामुनिः ।
तस्यै मंत्रवरं श्रेष्ठं ददौ सविधिना गुरुः ।११।

इत्यादि । महर्षि बामदेव बिरचित "वर्षमंजरी" नामक ज्योतिष का ग्रन्थ और "हठ योगबिवेक" नामक योग शास्त्र का ग्रन्थ पाया जाना बताया जाता है ।

महर्षि बामदेव के सम्बन्ध में पुराणों में बहुत जगह विभिन्न प्रसंगों पर चर्चा आई है पर कहीं भी उन्हें वशिष्ठ पुत्र या वशिष्ठ गोत्रीय नहीं कहा गया है ।

कुछ लोग कृत्तवासरामायण के आधार पर निषादराजगुरु को पूर्वजन्म का वशिष्ठ पुत्र महर्षि बामदेव को कहते हैं । परन्तु—

१ बामदेव आदिक ऋषय पूजे मुदित महीप । बा० कां० ३२०
२ बामदेव अरु देवऋषि बालमीकि जाबालि ।
आये मुनिवर निकर तब कौशिकादि तपसालि । बा०कां०३३०
३ बोले बामदेव सब सांची । बा० कां० ३५९-७
४ बामदेव रघुकुल गुरु ज्ञानी । बा० कां० ३६१-१

५ बामदेव बशिष्ठ तब आये । अयो० १६९-७
६ कौशिक बामदेव जाबाली । अयो० ३२९-६
७ बामदेव वशिष्ठ मुनि नायक । देखे प्रभु ।। उत्त०५-२

सम्पूर्ण मानस भर में उपर्युक्त सातों स्थलों पर जिन महर्षि वामदेव का बर्णन है. जो बामदेव राजा दशरथ एवं राजा रामचन्द्र जी के अष्ट पुरोहितों में एक अन्यतम पुरोहित थे, जो पार्वती जी के दीक्षा गुरु थे और जो ऋग्वेद के पांच सौ ग्यारह मंत्री तथा अथर्ववेद के अट्ठाइस मंत्रों के ऋषि हैं वे वशिष्ठ जी के पुत्र नहीं थे । उन्हें तो ऋग्वेद में सर्वत्र 'गोतमः' अर्थात् गोतमगोत्रीय किंवा गोतम पुत्र करके स्मरण किया गया है ।

कृत्तिवास में वर्णित बशिष्ठ जी के शताधिक पुत्रों में कभी जो कोई बामदेव नाम बशिष्ठ के पुत्र रहे भी होंगे तो वे दशरथ जी एवं रामजी के राज्यकाल में चाण्डाल योनि गत 'गुह' नाम से उपस्थित रहे ।

वशिष्ठ के शताधिक पुत्रों में केवल 'सुयज्ञ' और 'शक्ति' ही महर्षित्व' को प्राप्त हुये थे अन्यों का महर्षि होना नहीं पाया जाता। जीवन्मुक्त को कभी किसी का शाप नहीं लगता—

हर्षाऽऽमर्षभयोन्मुक्तः सजीवन्मुक्त उच्यते ।

(बाराहोपनिषत् ४ २६)

श्रुतिने महर्षि बामदेव को जीवन्मुक्त बतलाया है—

को मुक्तः बामदेवोऽपिमुक्तस्ताभ्याँ बिना मुक्तिभाजोनसन्ति ।

(बारा० ४।३४)

इन्हीं श्रौतस्मार्त अकाट्य प्रमाणों के कारण मैं महर्षि बामदेव को बशिष्ठ पुत्र न होना ही मानने को विवश हूँ ।

❁ शंका २ ❁

उमा मरम यह काहु न जाना । छन महँ सबहि मिले भगवाना ।।
उमा मरम यह काहु न जाना । जोकछु चरित कीन्ह भगवाना ।।

जब भगवान के मर्म को कोई नहीं जान सका तो गोस्वामी जी ने कैसे जान लिया ? (प्रेम)

समाधान

अमितगुणपवित्रं दिव्यलीलाविचित्रं, वनचरकपिमित्रं मित्रकुलसाच्चरित्रम् ।
अगणितनवावित्रं चित्रमायावहित्रं, श्रुतिरचितसुचित्रं नौमि राघवमरित्रम् ।।

गोस्वामी जी ने कैसे जान लिया इसके पहिले तो यह प्रश्न करना ठीक था कि भगवान् शंकर जी ने कैसे जान लिया ? जबकि वे स्वयं ही कह रहे हैं कि—

उमा ! मरम यह काहु न जाना ।

परन्तु इसका समाधान मानस के कथारम्भ में ही है कि—

हरहिय राम चरित सब आये ।

और श्री वाल्मीकि जी ने भी कहा है कि—

सोइ जानइ जिहि देहु जनाई ।

यहां यह प्रश्न ही अविचारित है कि श्री गोस्वामी जी ने कैसे जाना ? क्योंकि—

उमा मरम यह काहु न जाना ।

यह कथन तो भगवान् शंकर जी का है। गोस्वमी जी ने तो भगवान् शंकर जी के कथन का अनुवाद कर दिया है । अतः यह जानना किंवा न जानना तो श्री शिव जी का है और एतद्विषयक समाधान तो ऊपर हो ही चुका है । यदि कोई गोस्वामी जी के ही जानने का दुराग्रह करे तो उसे गोस्वामी जी की ही पंक्तियां पढ़ लेनी चाहिये कि—

गुरु पद मृदु मंजुल रज अंजन ।

तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन ।
सूझहिं रामचरित मणि माणिक । गुप्त प्रगट जहँ जो जिहि खानिक ।

भाव यह है कि श्रीगुरु चरण रज के प्रभाव से श्री रामजी के सभी गुप्त एवं प्रगट चरित्र जो कि वैवस्वत मनु के चौबीसवें त्रेता में हुआ था वह सम्पूर्ण चरित्र आज वैस्वत मनु के अट्ठाईसवें कलियुग में गोस्वामी जी को प्रत्यक्ष के समान दिखाई देता है। इसी से उस समय के उन भगवच्चरित्रों को भी जान लिया जिन्हें कि उस समय में किसी ने नहीं जाना था।

शंका-२

जनु धेनु बालक वत्स तजि गृह चरन वन पर बश गई।

इस उपमा में तो व्यतिक्रम स्पष्ट ही है कि— धेनु मातायें तो घर में थी और वत्स रूपी रामजी ही बन में चरने गये थे। इस व्यतिक्रमता का समन्वय कैसे होगा ?　　　(पं०राधेश्याम शर्मा)

समाधान

महातपस्विनीं देवीं वात्सल्यरसपूरिताम्।
ज्ञानस्वरूपिणीं दिव्यां ववन्दे राममातरम्॥

इसमें तो कोई व्यतिक्रम है ही नहीं। क्योंकि लीला में तो श्रीराम जी लीला विग्रह दशरथ नन्दन रूप से जहाँ रहें वही अयोध्या पुर है—

जहाँ राम तहँ अवध निबासू।

और जहाँ श्रीराम जी न रहें वही भयंकर बन है-

नगर सकल बन गहबर भारी।

मातायें श्रीरामभद्र के पास रूपी अवध से चित्रकूट से अवध नगर रूपी वन में बलात् लाई गई थी। अब वियोग रूपी दिनान्त में श्रीरामजी की स्थित स्थान रूप पुर की ओर "धावत गई।' वैसे साधारणतः व्यतिरेकालंकार की बात भी कही जा सकती है।

शंका ४

कौशल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपा सिंधु रघुबीरहिं॥

हृदय विचारति बारहिं बारा । कवन भाँति लंकापति मारा ॥
अति सुकुमार युगल मम बारे । कवन भाँति लंका पति मारे ॥

जब श्रीरामजी जनक पुर से ब्याह करके लौट आये उस समय सभी मातायें वात्सल्यतिरेक भावना से उस मधुर मूर्ति की सुकुमारता को देखकर चिंतित होते हुये आश्चर्य प्रगट करतीं हैं कि–

देखि श्याम मृदु मंजुल गाता । कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥
मारग जात भयवनि भारी । किहि बिधि तात ताड़का मारी ॥

घोर निशाचर विकट भट, समर गनहिं नहिं काहु ।
मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु ॥

परन्तु जब रावण ऐसे बीर एवं संसार संतप्त कर देने वाले प्रतापी को मार कर चौदह वर्ष के बनवास से लौटे तो सब मातायें नहीं केवल कौशल्या जी ने ही बात्सल्य भावनायुक्त चिंतित होकर अपना उद्‌गार प्रकट किया तो क्या अन्य माताओं के हृदय में पहले वाली बात्सल्य भावना नहीं रह गई जो श्रीरामभद्र जू की मधुर मूर्ति में बात्सल्यता टपकती हुई नहीं दिखाई देती ? (रामरक्षित)

समाधान

बात्सल्य बारिधि के पूरब की वेला जानौ,
महारानी कौशल्या जू पण्डित कहत है ।
दक्षिण के छोर दशस्यन्दन नृपति जानौ,
पश्चिम के छोर श्री विदेहजू लहत है ॥
उत्तर के छोर सीय मातु मुक्त प्रेम क्षीर,
दुहुँ पुर लोग जलचर मोती वत हैं ।
बन्दत 'कुमार' त्रेता पूर्णिमा की रात्रिसम,
राम सीय चन्द्र चन्द्रिका सों महत हैं ॥

श्रीरामभद्र जू के जनकपुर से लौटने के बाद सरकार के शयन कक्ष में जिस समय मातायें एकत्र होकर चर्चा करने लगी थीं उस समय कोई भी बाहरी मनुष्य नहीं था, इसलिये खुलकर परस्पर बात चीत करने लगीं थीं, और अपने सुकुमार कुमार से अपनी शंकायें भी पूंछ लिये थीं और उस समय उन माताओं के प्राणप्रिय दुलारे रामभद्र ने माताओं का कुछ समाधान भी कर ही दिया था। परन्तु लंकासे लौटने पर भेंट करते समय तो सभी पुरजन परिजन एकत्र थे, इसलिये सबके बीच में मातायें न तो परस्पर में खुलकर ही बात चीत कर सकतीं हैं और न तो अपने सुकुमारों बारों से कुछ पूंछ ही सकतीं हैं इसी कारण सब मातायें मन मन में ही विचार करती रही हैं। वक्ताओं ने एक प्रधान की बात कह कर सबकी मनोदशा एक सरीखीही सूचित कर दिया-क्योंकि इस समय—

"कौशल्यादि मातु सब मन अनन्द अस होइ।"

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥
कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥

मानस वक्ताओं की रीति है कि जहां वहुतों की ऐकही भावना होती है वहां एक प्रधान की बात कह कर ही सबकी बात कह दी जाती है। जैसे कि—

'रानिन सहित शोच बश सीय।'

'रानिन कर दारुण दुख दावा।'

और उनके जिस समय जनक के यहां आई

सभी रानियों को दुख था परन्तु सब का नाम न देकर प्रधान रानी की बात कह दिया कि—

सीता मातु सनेह बश वचन कहै बिलखाइ॥

उसी तरह यहां प्रधान माता श्री कौशल्या जी का सोचना कह दिया, उसी में सभी माताओं का ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि सब

की भावना एक थी। जहां कुछ विभेद पड़ता था वहां कह दिया जैसे श्री रामजी के सब माताओं से एक समान मिलने में कोई बात नई नहीं पैदा हुई इससे कहा गया कि–

अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी बचन मृदु बहुबिधि कहे।

परन्तु माता कैकेई को बहुत संकोच पैदा हो गया उसे वहीं कह दिया कि—

रामहिं मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि॥

इसी तरह श्री लक्षमण जी के अन्य सब माताओं से मिलने और आशीर्वाद पाने में एक रूपता थी–

लछिमन सब मातन मिले हर्षे आशिष पाइ।

परन्तु सुमित्रा और कैकेयी अम्बा से लक्षमण जी के मिलने की विशेषता विभेदता बता दी गई कि–

'भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरण रनि जानि।'

कैकेइ करुँ पुनि मिले मनकर छोभ न जाइ।'

अस्तु। हां यह प्रश्न हो सकता है कि जनकपुर से लौटने पर श्रीराम जी को देखते ही माताओं का वैसा विचार क्यों नहीं हुआ जैसा कि लंका से लौटने पर श्रीरामभद्र जू के देखते ही हुआ था ? इसका उत्तर तत्तत्स्थलों का प्रकरण दे रहा है कि जनकपुर से लौटने पर उत्सव का समय था, बर बधुओं का परिछन एवं आवश्यक नेग चार तथा लौकिक वैदिक रीतियाँ करनी परमावश्यक थीं। इससे तुरन्त ही इन बातों पर गौर करने का किसी के हृदय को अवकाश ही नही था और जब अवकाश मिला तब श्रीराम भद्र जू के शयन कक्ष में एकत्र होकर सभी मातायें तत्सम्बन्धी चर्चा करने लगीं थीं। परन्तु श्रीरामभद्र जू के बन से लौटने पर तो आते ही मिलकर आरती उतारने के अतिरिक्त कोई अन्य लौकिक या वैदिक रीति तो करनी

नहीं थी इससे मिल लेने के बाद तुरन्त ही—

सब रघुपति मुख कमल विलोकहिं ।
चितवति कृपा सिन्धु रघुवीरहिं ।

शंका—५

लंका विजय करके श्रीरामजी जब अपने बानर सखाओं के साथ अयोध्या पहुंचे उस समय बानरों ने बशिष्ठ और कौशल्या को तो प्रणाम किया था परन्तु भरत शत्रुघ्न आदि को प्रणाम नहीं किया, क्यों ?

(जगदीश नारायण सिंह 'प्रेम')

समाधान

रामचरण अनुराग दृढ़ राम सखा कपि बीर ।
राम काज मन क्रम बचन सुदृढ़ कुमार सुधीर ।।

ये बानर वीर सभी अपाकृत है नित्यमुक्त हैं ये लोग मोक्ष सुख भगवान् की त्रिपाद्विभूति छोड़कर आये हैं—

सगुणोपासक संग तह रहहिं मोक्ष सुख त्यागि ।
हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुण ब्रह्म अनुरागी ।।

जो प्राकृत बानर थे बद्ध—एवं सामान्य देवांशिक थे वे सव लंका से ही अपने अपने घर लौट गये थे—

प्रभु प्रेरित कपि भालु सब रामरूप उर राखि ।
हर्ष विषाद सहित चले बिनयविबिधि विधिभारी ।

जो नित्यमुक्त दिव्य पार्षद थे वे सभी अयोध्या आये लंका से ही घर नहीं गये—

कपिपति नील सुरीक्ष पति अंगद नल हनुमान ।
सहित विभीषण अपर जे यूथप अति बलवान ।।
अतिशय प्रीति देखि रघुराई । लीन्हे सकल विमान चढ़ाई ।।

बानरों की दो श्रेणी होने के कारण ही बानरों को दोनों वार "कपि भालु सब चले।" और "सकल विमान।" कहा अर्थात् सब प्राकृत कपि चल गये, सकल अपाकृत कपि विमान पर चढ़ाये गये। अयोध्या में आये हुये सब के सब नित्य पार्षद हैं, श्रीरामानन्य हैं, उनका सिद्धान्त है कि—

रामादन्यं नमेच्चयेत् यततु मे शिरसि कालदण्डः प्रचण्डः।
बनै तो रघुवर ते बनै कै बिगरौ भरि पूर।
तुलसी बनै जो और ते ता बनि में धूर॥
रामहिं छांड़ि भजै जो औरहिं जीह जरै तेहि लब्बर की।'

इसलिये भगवद्व्यतिरिक्त अन्य किसी को भी प्रणाम करना प्रपन्न धर्म के विरुद्ध समझते हैं इसी से वे लोग श्रीरामजी से अनिरिक्त किसी अन्य को प्रणाम करनाउचित नहीं समझते थे दूसरी बात अपरचित स्थान में अपरचित व्यक्तियों में किसी से कैसे मिलना चाहिए, यह समस्या सबके लिये हो जाती है। श्रीरामजी ने जब श्रीबशिष्ठ के पग लगने को बानरों को सिखाया तब बानरों ने प्रभु आज्ञा से प्रणाम किया। अयोध्या के सम्पूर्ण ब्राह्मणों में बशिष्ठजी मुख्य हैं इसीलिये इनकी बात कही गई। श्रीरामजी ने सर्वप्रथम वशिष्ठ जी को ही प्रणाम किया था—

धाइ धरे गुरु चरण सरोरुह।

माताओं में कौशिल्या जी ही सर्वप्रधान हैं। श्रीरामजीने जब बानरों को—

मुनिपद लागहु सबहिं सिखाये।

तब बानरों ने प्रणाम किया और समझा कि श्रीरामजी ने जिन्हें जिन्हें प्रणाम किया है उन्हें उन्हें प्रणाम करना ही है। इसमें श्रीराम जी की प्रसन्नता का कारण है। इसीसे बशिष्ठ जी (तथा अन्य ब्राह्मणों

कोभी)और कौशल्या जी(तथा अन्य माताओं)कोभी पग लागकर प्रणाम किया। श्रीराम जी ने विप्रों एवं माताओं के अतिक्ति अन्य किसी को भी प्रणाम किया ही नहीं, इसी से बानरों ने भी अन्य किसी को प्रणाम नहीं किया श्रीरामजी भाइयों और मित्रों आदि से मिले, उनमें से यदि कोई बानरों से मिलने आता तो उनसे मिलते भी, और जो जिससे मिलने आया मिले भी—

रामसराहे भरत उठि मिले राम सम जानि ।
तदपि विभीषणकीशपति तुलसी गरहिं गलानि ।।

केवल सुग्रीव और विभीषण से भरतजी उठ कर मिले अतः वे भी उनसे मिले, अन्य वानरों से कोई नहीं मिला तो नहीं कहा गया । प्रणाम के कारण का स्पष्टीकरण तो ऊपर देखा जा चुका है।

शंका—६

एक नारि व्रत सब नर झारी ।

यह पंक्ति श्रीराम राज्य कालीन अवधवासी पुरुषों की है तो क्या श्रीरामजी एक पत्नी ब्रती नहीं थे। यदि थे तो श्रीरामजी के लिये 'रमापति' क्यों आया है ? जैसे—

जय राम रमा रमणम् ।
रमानाथ जहं राजा ।

(महान्त श्री रघुवरदास जी शिवनाम बाराबंकी)

समाधान

कार्यब्रह्म चतुर्भु ज, अष्टभुज सहस्र भुजादि द्वारा पत्नीत्वेन ग्रहीता पत्नी का नाम लक्ष्मी है। स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्म के किसी भी रूप में तात्विक भेद नहीं है केवल लीलार्थ ही बिग्रह भेद है। अतः समस्त शंका समाधान लीलार्थ विग्रह भेद को लेकर ही होता है अस्तु

यही 'रमण' क्रिया के सम्बन्ध से क्रीड़ार्थक 'रमु' धातु से निष्पन्न 'रमा' नाम दिया गया है। श्रीरामजी के एक पत्नीत्व मर्यादा पुरुषोत्तमता पर पद्मपुराण में एक कथा भी है कि "एक बार सिन्धुजा लक्ष्मी जी ने श्री रामजी के एक पत्नी व्रतकी परीक्षार्थ मोहनी दृष्टि से आप पर अनेक मारोत्तेजक कटाक्ष बाण छोड़ा। परन्तु श्रीराम जी ने अपना शिर नीचा कर लिया और प्रणाम करके वहाँ से चल दिये। यह चरित्र देख कर शिव नारायण आदि सभी प्रशंसा करने लगे।

(पद्म पुराण पाताल खण्ड अध्याय १०५ वकटेश्वर प्रेस १८५२ से)

अतः स्पष्ट है कि "रमण क्रियार्थक रमा" श्रीसीता जी का ही नाम है। 'रमुक्रीड़ायाम्" धातु से ही रमा और राम दोनों निष्पन्न हैं। इसी से श्रुति में—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते, सत्यानन्दे चिदात्मनि
इति रामपदे नासौ, परं ब्रह्माभिधीयते ॥

जैसे यह श्रुति श्रीराम जी के लिए है वैसे ही—

वामांके जानकीदेवी, किशोरी कनकोज्वला।
कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा ॥७९॥
सेयं सीता भगवती, ज्ञानानन्दस्वरूपिणी।
योगिनां रमणे रामं, रमते रामवल्लभा ॥८३॥

(वृहत ब्रह्म संहिता तृतीय पाद प्रथमाध्याय)

दूसरी तरह ऐसे भी समझा जा सकता है कि इसी स्तुति में आगे "श्री रमारमन' भी कहा है। उसका आशय यह हो सकता है कि कार्य ब्रह्म विग्रह से रमारमण हैं और कारण ब्रह्म, पररूप द्विभुज रूप से "श्री रमण है। आद्या आह्लदिनी शक्ति पर स्वरूपा सीता जी का नाम "श्री' है। आनन्द रामायणीय कथा के अनुसार

लक्ष्मीजी ने अपने जप के लिए श्री नाम मांग लिया है उस कथा का सारांश यह है कि रामचरित के शतकोटि श्लोक पहिले तीन लोकों में बंटा, तो दो अक्षर बच रहा जिसे शंकर जी ने जप के लिए ले लिया। मर्त्य लोक के भागमें सप्तद्वीपार्थ सात भाग करने पर चार श्लोक बच रहे जो ब्रह्मा के पास सुरक्षित रहे कालान्तर में वही चार श्लोक ब्रह्माजी ने नारद के द्वारा वेद व्यास जी के पास भेजा जो 'चतुःश्लोकी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पुनः जम्बूदीप के नवों खण्डों के लिए नवभाग करने पर जब एक अक्षर शेष रहा था तो उसे लक्ष्मी जी ने अपने जप के लिये मांग लिया–

शेषमेकाक्षरंच श्रीरिति सर्वत्र विष्णुना (आनन्द रा० यात्रा कांड २।१५)

कदाचित् तभी से वे रमा भी कही जाने लगी। गोस्वामी जी ने तो मानस में सर्वत्र दावे के साथ कहा है 'श्री' एकमात्र श्रीजानकी जी का ही नाम है। उभय बीच सिय सोहति कैसी (२।१२२।२)

उभय बीच श्री सोहति कैसी (३।७।३)

धरि रूप पावकपानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो

(लंका० १०८छ २)

श्रीसमेत बैठे प्रभु तापर (लंका ११८।४)

श्री सहित दिनकर बंश भूषण (उत्तर० १२छ १)

प्राचेतस् महर्षि श्री वाल्मीकि जी ने सीता जी के सम्बन्ध में लिखा है कि–

श्रियः श्रीश्च भवेदग्न्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा।

(वा० रा० अयो० ४४।१५)

और ''श्रियो रमण सामर्थ्यात्॰। कह कर हारीत जी ने सिद्ध कर दिया कि 'राम' शब्द के अतिरिक्त किसी भगवन्नाम की निरुक्ति से श्री रमणत्व का बोध नहीं हो सकता। और--

सहस नाम मुनि भणित सुनि तुलसी बल्लभ नाम ।
सकुचत हिय हंसि हेरि सिय, धर्म धुरन्धर राम ।।

(दोहावली ८८)

कहकर गोस्वामी जी ने श्रीराम जी के एक पत्नी व्रतत्व पर मुहर छाप लगा दिया अतः रमारमण श्री रमण आदि कथनों में एक पत्नीत्व पर आक्षेप नही आ सकता श्री रामजी के लिये तो आप्तजनों में अति प्रसिद्ध है कि—

जनकजायाः परित्यज्य कौशल्या सदृीशतरा ।

शंका ७

नीच टहल गृह की सब करिहौं ।

प्रभु की सभी सेवा तो उच्चकोटि की ही रहती है, प्रभु के गृह की नीच टहल कौन सी है ?

(पं० राधेश्याम जी शर्मा कथा वाचक)

समाधान

दुःखरूपं गृहं ज्ञात्वा राम सानिध्य याचकम् ।
महाभक्तं महावीरं श्री तारेयं नमाम्यहम् ।।

इस चौपाई का अर्थ ठीक ठीक समझे बिना ही तर्क बितर्क किया जाता है ।

गृह कारज नाना जंजाला ।

को तो मानो शंका उठाने वाले कुछ समझते ही नहीं । वैसे तो वेदों ने स्पष्ट शब्दों में गृह कृत्यों को पुरुषों के सार ज्ञान वैराग्य बल पुरुषार्थ बुद्धि विचार आदि सार-धन का हरण करने वाला बताया हैं–

गृह कारज नाना जंजाला ।

मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ।

(भागवत० १०।२३।४२)

बिनाऽच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यम् ।

(भागवत १०।४६।४३)

पुरुष सारहरावसथान्० ।

(भागवत १०।८७।३५ वेद स्तुति)

इसी से अंगद जी ने श्रीरामजी से ही प्रश्न किया कि—

तुम्हहि बिचारि कहहु नर नाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा ।।

इस प्रश्न का उत्तर श्रीराम जी ने नहीं ही दिया, प्रभुके नर-नाहके उत्तर न देने पर स्वयं अंगद जी ने ही कहा कि घर में जाकर तो घर की ही सारी टहल और सब समय करनी ही पड़ेगी और प्रभु से अतिरिक्त गृह की सारी टहल 'पुरुषसारहर' होने से नीच है निन्द्य है अतः घर जाने से तो सदा—

नीच टहल गृह की सब करिहौं ।

और यहाँ रहने से यदि कोई भी कैङ्कर्य न भी मिलैगा तो भी कोई विशेष क्षति न होगी यदि श्री रामपद -पंकजों का दर्शन मिलता रहा तो उस श्री पद-पंकज के दर्शन मात्र से ही भव सिन्धु से अनायास ही पार हो जाऊँगा ।

शंका—८

दिन दशकरि रघुपतिपद सेवा। फिरि तब चरण देखिहौं देवा ।।

सुग्रीव जी से इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके भी श्री हनुमानजी दश दिन के बाद पुनः अयोध्या से सुग्रीव जी के पास क्यों नहीं लौट कर गये ?

(रामचरण पांडे)

समाधान

करिवर कर कल कंज की नित 'कुमार' शिर छाँह।
मातु बानि रह दाहिने रहे बाम विधि काह ॥

यह तो समस्तविद्वद्विश्रुत बातहै कि-

बारांगनेव न नृपनीतिरनेकरूपा ।

उसी अनेक रूप में नृप नीति—राजनीति का ऐसा भी एक प्रभेद है कि दो मित्र राष्ट्रों में से किसी एक राज्य का सम्मानित व्यक्ति दूसरे राज्य में यदि किसी निजी कारण से कुछ या अधिक समय रहना चाहे तो उसे प्रथम अपने राजा से स्वीकृति ले लेना परमावश्यक है बिना स्वीकृति पाये व्यक्ति को यदि मित्र राजा अपने राज्य में रख ले तो संभव है कि दोनों मित्र राजाओं में वैमनस्य भाव का उदय हो जाय, ऐसे ही स्वीकृति प्राप्त के न रखने में ही है। श्रीराम जी के सम्बन्ध में सभी एक स्वर से कहते हैं कि—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउन राम सम जानजथारथ।

इसलिये श्रीरामजी ने कभी भी नीति धर्म का परित्याग किया हो ऐसा कोई नहीं कह सकता—

स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयनस्वयमाचरत् ॥

(भागवत ९।१०।५५)

नीति रक्षणार्थ ही श्रीरामजी ने अंगद जी की बहुत प्रार्थना पर भी ध्यान न देकर—

निज उरमाला बसन मणि, बालि तनय पहिराव।
बिदा कीन्ह भगवान् तब बहु प्रकार समुझाइ ॥

यदि अंगद जी अपने राजा सुग्रीव से अपने अयोध्या रहने की आज्ञा ले लिए होते तो नीतितत्ववित् श्रीराम जी अंगद को किसी भी

तरह नहीं कह सकते थे कि तुम यहाँ से चले जाओ। श्री हनूमान जी तो बुद्धिमताम्बरिष्ठ, ज्ञानिनामग्रगण्य हैं, नीति के सारे रहस्यों को यथार्थ रूप से जानते हैं। इसी से श्रीरामजी से न कहकर अपने राजा बानरराज सुग्रीव जी का चरण पकड़ कर नाना प्रकार की प्रार्थना करके दस दिन की छुट्टी माँगा कि मुझे दस दिन और भी श्रीराम चरण सेवा का सौभाग्य दिया जाय, उस समय वानराधीश सुग्रीव जीने सदैव के लिए आज्ञा दे दिया कि—

पुण्य पुंज तुम पवन कुमारा। सेवहु जाय कृपा आगारा ॥

सुग्रीव जी से सदैव के लिए छुट्टी पेंशिन मिल गई थी इसी से श्रीहनूमान जी के दश दिन बाद जाने का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

सुग्रीव जी सम्पूर्ण वानरों के सम्राट थे और बानर शरीर होने के कारण श्रीहनूमान जी सदैव सुग्रीव को राजा और स्वयं को—

अहं सुग्रीव सचिवः कपिः। (वा० रा० सु० कां०)

सुग्रीव का मन्त्री मानते थे।

शंका—९

श्री भरतलाल जी श्रीरामजी के परम स्नेही हैं जिनके लिए कहा है कि—

भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही

और इससे भी ज्यादा मुख्य वाक्य है कि—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगलभार।
लोक सुयश परलोकसुख सुमिरत नाम तुम्हार ॥

ऐसे श्रीभरत जी से भी अधिक प्रिय वानरगणों को कहा और स्वयं खास गुरूजी से ही—

मम हित लागि जन्म इन हारे। भरतहुते मोहिं अधिक पियारे

और आगे फिर निषादराजगुह को विदाई देते समय कहते हैं कि-

तुम मम सखा भरत सम भ्राता ।।

तो क्या श्रीभरतजी से उन सब कपियों एवं निषाद का प्रेम ज्यादा था?

(बद्री नारायण सोमानी कलकत्ता)

समाधान

माण्डव्या सहितं सुरद्रुम तले बेद्यां महामण्डपे,
नानारत्न विचित्र मण्डित महासिंहासने संस्थितम् ।
सान्द्रानन्दतनुं सुपीतवसनं विधुन्निमां सुन्दरीं,
वामां नीलनिचोलभूषितरुचां ध्याये धरेन्द्रात्मजम् ।।१

नमामि बानरान् सर्वान् रामप्रिय सुहृद्गणान् ।
राममित्रं गुहं वन्दे भरतं च पुन पुनः ।।

संसार की जैसी मर्यादा स्पष्टतयाआरम्भ में परमात्माने नियत कर दिया है स्वयं भी सदैव उसका पालन करते रहना उनकी मर्यादा पुरुषोत्तमता है । अनन्त बातों में एक मर्यादा यह भी है कि जबतक अमुक बात में अमुक व्यक्ति से श्रेष्ठ दूसरा कोई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचन न हो जाय तबतक वही श्रेष्ठ माना जाता है । आगे समय बीतने पर जब दूसरा कोई तत्तदर्थों में प्रथम से बढ़कर मिल जाय तो उसे निःसंकुचित भाव से प्रथम से श्रेष्ठ बतलाना मर्यादित न्याय है। श्रीरामजी ने यही किया अर्थात् वानरों के त्याग एवं स्नेह देखने के पूर्व तक "भरत भरत सम जानि ।" तक प्रेम सीमित रहा, एकमात्र श्रीभरतजी ही ऐसे प्रेमी थे कि उस समय तक उनके जोड़का दूसरा प्रेमी कोई था ही नहीं । इसी से अयोध्या काण्ड में कहा गया कि—

'भरतसरिस को सनेही ।'

'तुम सम रामहि प्रिय कोउ नाहीं ।'

श्री भरत जी तो श्रीरामजी के पितृ जात सगे भाई थे, जन्मकाल ही श्रीरामजी के वात्सल्य स्नेह का अनुभव किया था। स्वयं श्री भरत जी के शब्द हैं—

मोपर कृपा सनेह विशेषी। खेलत खुनिसकवहुँ नहि देखी ॥
शिशु पनतेपरिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोंही ॥

श्री भरत जी के आचरण में व्यवहारिकता न होते हुए भी व्यावहारिकता शून्य नहीं कहा जा सकता परन्तु बानरों के संबंध में उपर्युक्त एक बात भी लागू नहीं हो सकती क्योंकि बानरों ने तो श्रीरामजी का दर्शन सर्व प्रथम किष्किधा में ही किया, पूर्व से कोई परिचय नहीं ही था, इससे उन्हें श्रीरामजी की किसी भी कृपा का अनुभव नहीं नहीं था, फिर भी वे लोग त्रैलोक विजयी रावण ऐसे दुर्घर्ष वीर से लड़े मरे, तब भला वे बानरगण श्रीराम जी को श्रीभरतजी से अधिक प्रिय क्यों न हों, जबकि श्रीरामजी का स्वभाव ही ऐसा है कि—

जननी जनक वन्धुसुतदारा। तन धन धाम सुहृद परिवारा ॥
सबकर ममता ताग वटोरी। ममपद मनहिं बाँध वरि डोरी ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे ॥
"तेहिते कहहिं संत श्रुति टेरे परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥"
'नाते सबहाते करि राखत रामसनेह सगाई ॥'

भागवत ९।४।६५ में महर्षि दुर्बासा जी से भगवान् ने बड़े सुस्पष्ट शब्दों में कहा था कि—

ये दारागार पुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमंपरम् ।
हित्वा मां शरणं याता कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

अतएव श्रीरामजी ने भी बानरों से कहा कि—

तुम अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि विधि करौं बड़ाई ॥
ममहित लागि भवन सुख त्यागे। ताते तुम मोहि अति प्रिय लागे ॥

अनुजराज संपति वैदेही । देहगेह परिवार सनेही ॥
सब ममप्रिय नहिं तुमहिं समाना । मृषान कहौं मोर यह बाना ॥

चित्रकुट में श्रीभरत जीने साथ रहने के लिये जो भी तर्क उपस्थिति किया श्रीरामजी ने सब तर्कों का समुचित उत्तर देकर अयोध्या लौटाल ही दिया पर बानर यूथपों ने कोई भी तर्क नहीं रखा अपितु—

कहि न सकत अति प्रेम बश भरि भरि लोचन बारि ।
संमुख चितवत रामतन नयन निमेष निवारि ॥

अतएव–अतिशय प्रीति देखि रघुराई । लीन्हे सकल विमान चढ़ाई ॥

और फिर सबसे मुख्य बात तो यह है कि—

भरतहु ते मोहि अधिक/पियारे ।

का कारण तो जब प्रथम ही कह दिया जाता है कि–

ममहित लागि जन्म इन हारे ॥

तबतो फिर शंका का अवकाश ही कहां रह जाता है। यही दशा निषादराज गुह की है । गुह ने कहाकि—

देव धरणिधन धाम तुम्हारा । मैं जन नीच सहित परिवारा ॥

पर यदि वह स्वीकार नहीं किया गया तो उसका क्या दोष, और भक्तमाल में बर्णित है कि चित्रकूट से लौटने पर श्री जनक भरत आदि तो अयोध्या गये, तभी घर पहुँचते ही निषाद राज गुह ने अपनी आखों पर पट्टी बाँध लिया कि—

जिन नयनन साँवरो रूप लख्यों उन नैनन से अब देखिय का ॥

यही नहीं निषादराज जी चौदह वर्ष तक बराबर रोते रहे, अहर्निशि रोते-रोते जब आँखों में आँसू नहीं रह गये तब आँखों से खून गिरने लगा । भक्तमाल (भक्ति रसबोधिनी) को पंक्तियाँ देखिये–

भिल्लनि को राजागुह राम अभिराम प्रीति,

भयो वनवास मिल्यो मारग में आइकै ।
करौ यह राज जू विराजि सुख दीजौ मोकों:
बोले चैन साज तज्यों आज्ञापितु पाइ कै ।।
दारुण वियोग अकुलाइ दृग अश्रुपात,
पाछे लोहू बात तब सकै कौन गाइ कै ।
रहे नैना मूँदि रघुनाथ विनु देखैं कहा,
अहा प्रेम रीति रही मेरे मन छाइकै ।।९३।।
चौदह बरस पाछे आये रघुनाथ जबै,
साथ के निषाद कहैं आये प्रभु पेखिये ।
बोल्यो अब पाऊँ कहाँ होति न प्रतीति क्यों हूँ,
प्रीतिकरि मिले राम कही मोको देखिये ।।
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर ।
समाने प्राण पाये मानो भाग भाल लेखिये ।
प्रेम क जू बात क्योंहूँ बाणी में समात नाहिं,
अति अकुलात कही कैसे के विशेषिये ।।

इसका संकेत मानस में इस तरह किया गया है कि जब श्रीरामजी लंकासे लौटकर गंगा पार आये, तो आँखें बन्द होने के कारण निषाद-राज ने आकाश में विमान देखा नहीं अपितु लोगों से कोलाहल सुना—

इहाँ निषाद सुना प्रभु आये ।

और तब सुनते ही अपने कर्मचारियों को नाव ले जाने के लिये बुलाया—

नाव नाव कहँ लोग बुलाये ।।

इसी प्रकार जब श्रीरामजी गँगा जी के इस किनारे शृंगबेरपुर पहुँच गये, विमान पृथ्वी पर उतरा तब भी निषाद राज ने देखा नहीं, प्रत्युत सुना ही—

सुनत गुहा धायेउ प्रेमाकुल। आयेउ निकट परम सुख संकुल

और सन्निकट आने पर जब भगवत्कृपा से नेत्र खुल गये तब—

प्रभुहि सहित विलोकि वैदेही।

श्रीरामजी की आज्ञा से भरतजी श्रीअयोध्याजी लौट आये और यहाँ आकर—

भरत भवन बसितप तन कसहीं।

परन्तु जब निषादराज को श्रीरामजी ने तो जैसे श्रीभरतजी को चरण पादुका दिया था जिससे—

भरत मुदित अवलम्ब लहे ते।

उस तरफ का कोई भी अवलम्ब निषादराज को मिला नहीं। अवलम्ब न मिलने के कारण यद्यपि कि—

बिदा किये सममानि निषादू।

परन्तु कोरे सम्मान पाने से निषादराज को कोई संतोष नहीं हुआ जिससे वे—

चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू।

इसी कारण जब श्रीरामजीने निषादराज को अयोध्याजी से बिदा किया तब चित्रकूट से लौटने पर जो हालत निषादराज की हुई थी, वही दशा पुनः शृंगवेरपुर पहुँचकर न हो जाय इससे—

दीन्हेउ भूषण बसन प्रासादा।

और तब निषादराज के हृदय में 'उपजा सुख भारी।' इन्हीं कारणों से श्रीरामजी ने निषादराज को कहा कि—

तुम मम सखा भरत सम भ्राता ।

नारद पञ्चरात्र के—

वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः ।
शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामसेवार्थमागताः ॥

एवं मानस के—

'अंशन सहित देह धरि ताता ।'
'अंशन सहित मनुज अवतारा ।'
'विश्व भरण पोषण कर जोई ।'

के अनुसार श्रीभरतजीके स्वयं वैकुण्ठाधीश चतुर्भुज श्रीमन्नारायण होने से उनके नाम का स्वतन्त्र महत्व है—

मिटिहहिं पापप्रपंच सब अखिल अमलंभार ।
लोक सुयश परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार ॥

परन्तु निषादराज तथा बानरगण जीव हैं—

जगद्व्यापार वर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।
(वेदान्त दर्शन ४।४।१७)

कहकर व्यासजी ने सुस्पष्ट शब्दों में समझाया है कि जीव कभी–मुक्त दशा में भी–सब तरह से भगवत्तुल्य स्वतन्त्र महत्वशाली नहीं हो सकता, इसी से उनके लिये श्रीरामजी ने कहा कि—

मोहिं सहित शुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं ।
संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥

शंका–१०

श्रीअवधमें चारों राजकुमारों के जन्म के समय जो श्रीगोस्वामीजी ने जन्म में पिता की प्रधानता न देकर माता की ही प्रधानता दिखाया

है, परन्तु श्रीभरतादि के पुत्रों के साथ उनकी माता की प्रधानता न देकर पिता की ही प्रधानता देते हुए कहा है कि—

दुइ दुइ सुत सब भाइन केरे ।

यदि लवकुश का जन्म श्रीवाल्मीकि के आश्रम पर मानकर माता की प्रधानता मानी जाय जैसा कि प्रवाद प्रचचित है तो—'कौशल्या-हितकारी ।" और—

केकय सुता सुमित्रा दोऊ । सुन्दर सुत जन्मत भईं ओऊ ।

से श्रीरामादि चारों भाइयों का जन्म अवध से अन्यत्र कहाँ माना जाना चाहिये ?

(ठाकुर सिंह 'रामायणी' फुसरूबाजार)

❁ समाधान ❁

शत्रुघ्नं चैव भूमानं भरतं जगत्कारणम् ।
उर्मिलावल्लभं विष्णुं क्षीराब्धीशं नमो नमः ।।

अनेक लोगों की शंकायें आया करती हैं कि— 'कौशिल्या हितकारी ।'

कैकेय सुता सुमित्रा दोऊ । सुन्दर सुत जनमत भइँ ओऊ ।।

आदि से तो यह कोई नहीं कहता कि श्रीराम आदि चारों भाइयों का जन्म अयोध्या से बाहर कहीं हुआ था । फिर—

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये ।

चौपाई से लवकुश का जन्म वन में हुआ था, यह कैसे? अन्याय पूर्ण सीता त्याग तो 'यस्यामलं नृपसदसि यशः' भगवान के अमल यश को कलंकित करना है, अतः सीता त्याग कहाँ तक उचित है ? आदि आदि । समाधान में समझना चाहिये कि—

पुत्र का सम्बन्ध अधिकतर जन्म काल से ही माता से ही रहा करता है। इसलिये मातृ सम्बन्ध लेकर ख्यात होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। परन्तु पुराणेतिहास से प्राचीन प्रथा ऐसी ज्ञात होती है कि जिनके माता पिता दोनों ख्यात होते थे वे दोनों के नाम से भी अवगत किये जाते थे जिनके दोनों ही ख्यात नहीं होते थे वे अपने नाम से ही सम्मानित होते थे और जिनके दो में से एक ही माता या पिता ही ख्यात थे वे उन्हीं से विश्रुत होते थे दूसरा पक्ष गौण हो जाता था। जैसे—अत्रि-अनुसूया, वशिष्ठ अरुन्धती, नन्द-यशोदा बसुदेव-देवकी रोहिणी और दशरथ कौशिल्या कैकेयी सुमित्रा आदि दम्पतियों की समान ख्याति होने से उनके अङ्गजों को अपने नाम के अतिरिक्त कहीं मातृ-प्रधान और कहीं पितृ-प्रधान नाम से भी कहा जाता था। दशरथ, सगर, नहुष और ययाति आदि के माता पिता दोनों ही अधिक ख्यात नहीं थे इसी से उनके माता पिता की चर्चा परम्परा बताने के अतिरिक्त नहीं सरीखे ही है। इक्ष्वाकु सगर, ककुत्स्थ, रघु, यदु और भरत आदि अधिक लोक विश्रुत थे उनकी पत्नियाँ ख्यात नहीं थीं अतः उनके अङ्गज-वंशज ऐक्ष्वाकु, सागर, काकुत्स्थ, राघव, यादव और भारत आदि भी कहाते थे पर अलर्ककी विदुर्षा माता मदालसा ही कुवलयाश्व ऋतुध्वज की अपेक्षा अधिक ख्यात थी. और सत्यकाम की जननी जबाला को तो सत्यकाम को पैदा करने वाले का कोई परिचय ही नहीं था इसी से वे सब अपनी माताओं के ही नाम से ख्यात हुये थे।

कहा जाता है कि आदि काव्य श्रीरामायण में सदैव से श्रीजू का ही प्राधान्य रहा है अन्य श्रीरामादि का चरित्र गौण है—

कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्।

उपासकों रहस्यविदों की दृष्टि में सदैव से श्रीजू की ही प्रधानता रही है। कारण कि परब्रह्म के उपाय पूरकत्व गुणों का प्राकट्य श्रीजू के रूप में ही अधिकतर हुआ करता है।

विशेषज्ञप्तये भर्तुरभिगम्यत्व सिद्धये ।
समस्त मंगलावाप्त्यै प्रथमं श्रीरिहोदिता ॥

इसी से भावुकों ने अनुभव करके जाना है कि—

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ।

यही नहीं उनके लीला चरित्रों में से अनेक उदाहरण भी उपस्थित किये गये हैं ।

मातर्मैथिलि ! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता ।
काकं त च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः,
सा नः सान्द्र महागस सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥
(श्रीगुणरत्न कोषः ५०)

वैष्णवागम आदि सच्छास्त्रों की आज्ञा से भावुकों की दृष्टि में श्रीजू का स्थान सदैव भगवान् से विशिष्ट ही रहा करता है, और श्रीराम तथा श्रीसीताजी की समानाख्या होते हुये भी रामायण में श्रीसीताजीकी प्रधानता होने से सीताजीका ही नाम लिया गया है कि—

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये ।

परन्तु मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति की अधिक ख्याति न उस समय ही थी और न इस समय ही है; किन्तु श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की ख्याति उस समय भी खूब थी और इस समय भी खूब है, यही तीन ही श्रीरामजी के भाई हैं । इसी से श्रीभरतादि की पत्नियों का नाम न लेकर—

भ्रातन दुइ सुत सब भ्रातन केरे ।

कहा गया है । जैसे श्रीरामादि चारों भाइयों का जन्म श्रीअवध के राजमहल में ही हुआ था । वैसे ही लव और कुश का जन्म भी श्रीअवध के राजमहलों में ही हुआ था ।

सन् १९३७ ई० में 'तिरुमाली तिरुपति देवस्थान प्रेस तिरुपति, मद्रास से प्रकाशित और श्रीकृष्णमाचार्य लिखित 'हिष्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (History of Classical Sanskrit Lateratur) ग्रन्थ के पृष्ठ ४१७ में गुणाढ्य का काल ४९५ बी० सी० (ईसा पूर्व) दिया गया है। काशी से प्रकाशित "संस्कृत साहित्य का इतिहास" में और 'महाकवि गुणाढ्य' ग्रन्थमें भी राजा सातवाहन और गुणाढ्य का उक्त पाँच सौ बी० सी० काल ही निर्णीत है, अर्थात् अब से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व महाकवि गुणाढ्य ने अर्धमौलिक उपन्यास "वृहत्कथा" लिखा। जिसका अनुवाद बुधस्वामि (पंचम्शती) उद्योतन सूरि (अष्टम्शती) दण्डी (सप्तम्शती) और सुबन्धु (सप्तम्शती) आदि ने किया है। अतः 'विद्वद्वत्तम्' में दिया गया गुणाढ्य का काल गलत है। बुधस्वामी ने 'वृहत्कथा' 'श्लोक संग्रह' संघदासगणिजैन ने 'बासुदेव हुण्डी' और सनातनियों के किये अनुवाद 'वृहत्कथा मञ्जरी' हरचरित चिन्तामणि और कथा 'सरित्सागर' प्राप्य हैं। (उस वृहत्कथा कथासरित्सागर) के लम्बक नव तरंग एक में बड़े चिकने चुपड़े ढंगसे राम को महान् अन्यायी अत्याचारी राजा सिद्ध करने के लिये सर्व-प्रथम सीतानिर्वासन की गर्हित कल्पना किया है कि– किसी धोबी की गुप्तवार्ता अपने गुप्तचरों से सुनकर उस परम अन्यायी राम ने अग्नि-शुद्धा जानकीको घोर कलंकित एवं लज्जित करनेके लिये आसन्न प्रसवा जानते हुए भी कठोर गर्भावस्था में बिना सफाई का अवसर दिये, धोखा देकर चुपचाप बन में छुड़वा दिया' आदि।

गुणाढ्य की इस कल्पना में भावुकता एवं सत्यता मानकर अनेक लोगों ने अनेकों तरह से अतिरंजित करके इस उपन्यास की कल्पना को सत्य सिद्ध करने के लिये एक पूरा पोथा ही रचकर उत्तरकाण्ड के नाम से भविष्य कथा कहकर बाल्मीकि रामायण में जोड़ दिया। जिसमें सीता निर्वासन की गर्हित कल्पनाके साथ साथ राम को मांसा-

हारी मद्यपी-वेश्यागामी आदि सभी कुछ बना दिया गया है । आज भी कितने लोग प्रकारान्तर से राम को महान् अत्याचारी सिद्ध करने के लिये उस कल्पित कहानी को सत्य मानकर सीता, निर्वासन के अनेक भाव लगाया करते हैं । परन्तु गुणाढ्य की कल्पना वैसे ही निर्मूल है जैसे कि बौद्धों की कल्पना है कि राम और सीता एक ही माता के पेट से जन्मे सगे भाई बहिन थे पीछे से पति पत्नी का सम्बन्ध कर लिया । जैनियों की कल्पना कि—राम ने केशलुंचक जैनी साधु होकर ही निर्वाण लाभ किया था, बालि राम के सामने से भाग गया मारा ही नहीं गया; रावण को लक्ष्मण ने मारा; हनुमान ने अपना ब्याह सूर्पणखा की बेटी से किया था । आदि-आदि अनर्गल बातों को अपने धर्म के प्रचार के लिये लिख डाला । उन दिनों सनातन वैदिक धर्मानुयायियों और वेद विरोधी बौद्धों एवं जैनियों से स्वाभाविक विरोध होने के कारण ही सनातन वैदिक धर्मानुयायियों ने राम विषयिक उनकी कल्पनाओं को नहीं अपनाया ।

परन्तु गुणाढ्य तो सनातनी कहे जाते थे परम शैव बनते थे, परन्तु प्रच्छन्न बौद्ध थे । इसलिये गुणाढ्य की कल्पनाप्रसूत कहानी को पुराणों में तो भर ही दिया बहुत से स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बन गये जैसे महाकवि भवभूति का नाटक "उत्तर रामचरितम्" जिसमें श्रीरामानन्दियों के परम पूज्य पूर्वाचार्य महर्षि वसिष्ठ का—ब्राह्मणों मुनियों का गाय मारकर खाना लिखा है देखिये दूसरा अंक चौथा श्लोक—

"हुं वशिष्ठः ...व्याघ्रो वा वृको वा एष इति" "तेन परापतितेनैव सा वराकिका कल्याणिका मड़मड़ायिता"

"वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वापयन्ति गृह मेधिनः"
"येन आगतेषु वशिष्ठामिश्रेषु वत्सतरी विशसिता ॥"

आदि । तीन वर्ष की कलोर गाय को वत्सतरी कहा जाता है। महोक्ष का अर्थ भारी बैल बिजार सांड़ है और 'विशसनं मारणं प्रति-

घातितम्" अमरकोश अस्तु गुणाढच की उसी निकृष्ट एवं निन्द्यकल्पना के ही आधार पर—

'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये'

का भावार्थ सीता त्यागसे कुछ लोग लगाया करते हैं पर जिनकी बुद्धि बुरी तरह पराधीन है वे किसी की कल्पना को सत्य मान लेने में सक्षम हैं। सस्कृत भाषा में लिखे गये श्लोक शब्द मात्र को भी सत्य मान लेने में ही सीमित हैं वे क्या करें वे तो किसी की तथ्य-पूर्ण वात मानने को भी तैयार नहीं अतः—

'ब्रह्मापि तं नरं न रजयति' (भर्तृहरि)

एक मात्र जिस ग्रन्थ में ताम्रध्वज, मोध्वज, सुरथ, सुधन्वा, चन्द्र-हास आदि की भगवद्भक्ति समन्वित ललित कथायें हैं उस जैमिनीया-श्वमेध पर्व में विक्रमार्क के सभापंडित बराह के लग्न संशोधन का हवाला दिया गया है—

गोधूलिकं वराहाद्यैरुदित फलदं नृणाम् ॥५५।८॥

अतः जैमिनीयाश्वमेध का रचयिता मीमांसा दर्शनकार से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार कि चौदहवीशती का "जैमिनीन्याय माला" का लेखक। "जैमिनीयाश्वमेध" और जैमिनीय सूत्र मीमांसादर्शन के सिद्धान्त में जमीन आसमान का फर्क है। जैमिनीयाश्वमेध की रचना काल तक गुणाढय रचित बृहत्कथा का खूब प्रचार हो गया था। परन्तु उस समय तक वाल्मीकीय रामायण के साथ उत्तर काण्ड नहीं लगा था। तभी तो जैमिनीयाश्वमेधकार ने उत्तर काण्डीय (सीता त्याग लवकुश युद्ध आदि) की कथाओं को २६ से ३४ तक ग्यारह अध्याय में लिखकर लिखा है कि—

'नाख्यातवानिदं युद्धं वाल्मीकिः पितृपुत्रयोः ।
यद्याख्यास्यदमज्जिष्यतो लोकोऽयं करुणार्णवे ॥

जैमिनीयाश्वमेध अ० ३६ श्लो० ॥८५॥

'तत्वमार्तण्ड में भी उस उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त ही माना हैं, देखिये त० मा० प्र० सं० २२, २३। 'राम कथा का विकास' के लेखक ने तो बहुत छानबीन के पश्चात् उत्तरकाण्ड की रचना काल तीसरी शती माना है। सुप्रसिद्ध गवेषणापूर्ण लेखक पं० श्रीकिशोरीदास बाजपेयीजी ने ८।४।६२ और ८।७।६२ के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। वेदोपनिषद् भाष्यकार पंडितराज स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी ने पचासों वर्ष पूर्व ही उत्तरकाण्ड विमर्श लिखकर उसे प्रक्षिष्त सिद्ध कर दिया है। तिरहुत में अनेक स्थानों में प्रतिवर्ष वर्षाऋतु के चातुर्मास्य में वाल्मीकीय रामायण का पारायण होता है, पर उत्तरकाण्ड का नहीं होता। उत्तरकाण्ड त्याज्य है।

सन् १९३३–३५ में श्रीमणिरामदासजी की छावनी श्रीअयोध्याजी में पूज्य वेदान्ती श्रीरामपदारथदासजी महाराज ने वाल्मीकीय रामायण की कथा कही थी। युद्धकाण्ड समाप्त होने पर कहा कि "अभी श्रीमिथिलाजी जाता हूँ लौटने पर उत्तरकाण्ड कहूंगा" परन्तु यात्रा से शीघ्र ही लौटकर उत्तरकाण्ड न कहकर "श्रीरामस्तवराज भाष्य" की कथा शुरू कर दिया। उन दिनों मैं श्रीवेदान्तीजी महाराज से न्यायपरिशुद्धि पढ़ रहा था। शायद उन दिनों श्रीवेदान्तीजी महाराज को वह उत्तरकाण्ड अभीष्ट नहीं था।

अनुष्ठानों में वाल्मीकीय रामायण के साथ उत्तरकाण्ड नहीं लिया जाता केवल युद्धकाण्ड तक का ही अनुष्ठान होता है। गीता प्रेस (गोरखपुर) से सं० २०१७ में मूल अलग और भाषा टीका सहित अलग वाल्मीकीय रामायण प्रकाशित है। दोनों प्रतियों में पाठ विधि के साथ नवाह्न के विश्राम स्थल दो दो तरह के हैं, एक में उत्तरकाण्ड लिया है एक में नहीं, परन्तु विनियोग और ऋष्यादिन्यास आदि लंका काण्ड तक का ही है, उत्तरकाण्ड का विनियोग आदि नहीं दिया है। कुछ लोगों की टीका टिप्पणी के डर से उत्तरकाण्ड युक्त नवाह्न पाठ का एक तरह का विश्राम तो छाप दिया है परन्तु विवेकी संपादक

एवं अनुवादक को भी उत्तरकाण्ड का अनुष्ठान अभीष्ट नहीं था इसी से उसका ऋष्यादिन्यास विनियोग आदि नहीं दिया।

इस शताब्दी में वाल्मीकीय रामायण के लगभग सात संक्षिप्त संस्करण हुये हैं उन सब में डा० श्रीशान्तिकुमार नानूराम व्यास के संक्षिप्त संस्करण को विद्वानों ने बहुत उत्तम माना है, उसमें भी उत्तर काण्ड नहीं है।

इनमें सबसे प्रौढ़ प्रमाण जैमिनि महाभारत अश्वमेध पर्व का है कि उनकी रचना काल प्रथम या द्वितीय शती तक उत्तर काण्ड की रचना नहीं हुई थी।

भगवान् श्रीवेदव्यासजी की अद्वितीय कृति श्रीमद्भागवत पुराण है। उसकी अठारह हजार की ख्याति बहुत पुरानी है। परन्तु आज चौदह हजार तीन सौ तीस श्लोक ही प्राप्य है, जिनके पाँच लाख चौबीस हजार चौसठ अक्षर हैं। उनके सोलह हजार तीन सौ सत्तर अनुष्टुप होते हैं। इनमें उवाच और अध्यायोंकी पुष्पिका जोड़नेपर सतहत्तार हजार तक भी पूरे नहीं होते। इससे सिद्ध है कि भागवत से बहुत से श्लोक निकाले गये हैं। कौन कौन श्लोक निकाले गये हैं यह पता लगाकर बताना कठिन है। मेरे बश की बात नहीं है, मुझसे नहीं हो सकता है परन्तु कहाँ कहाँ से निकाले गये हैं उनमें दो चार स्थलों का अनुमान सहज ही में हो सकता है। पुराणों एवं पौराणिक ग्रन्थों में क्षेपक मिलाने की प्रथा कई सौ वर्ष पुरानी है और इससे भागवत पुराण भी अछूता नहीं बचा है। अनेक सम्मिश्रण हुये हैं इसके एक सम्मिश्रण पर विचार करना प्रस्तुत समाधान प्रकरण में आवश्यक है—प्राप्य भागवत के स्कन्ध नव, अध्याय ग्यारह में श्लोक आठ से उन्नीस तक बारह श्लोकों में उत्तारकाण्डीय कथा का सारांश है उनमें पन्द्रहवें श्लोक में राम का आत्मज्योति को प्राप्त होना कह दिया गया है। आगे पच्चीस से चौंतीस तक दस श्लोकों में श्रीराम का भाइयों को दिग्विजय के लिए भेज कर वज्रस्थल से नगर जाने का वर्णन है आगे—"तस्मिन् स भगवान्

राम........अंघ्रिपल्लवः" ३४।३५ श्लोक चौबीस से छत्तीस तक तेरह श्लोक तक होकर तब 'नेदं यशो रघुपते–शरणं प्रपद्ये" श्लोक बीस इक्कीस होता तो प्रसंग का सिलसिला ठीक बैठ जाता और इसके बाद यदि "कदाचिल्लोक जिज्ञासु-से आत्मज्योतिरगात्ततः।" आठ से उन्नीस श्लोक तक होकर तब "स यं स्पृष्ठः···विमुच्यते" फल श्रुति का यह बाइसवाँ और तेइसवाँ श्लोक होता तो शायद शुद्ध दूध में थोड़ा सा रंगीन पानी सरीखे वह "कदाचिल्लोक—से अगात्तत." तक प्रक्षिप्त बारह श्लोक घुलमिल कर छिप जाता परन्तु सीता त्याग की गर्हित कल्पना को सत्य मानने वालों के दुर्भाग्य से वैसा हुआ नहीं।

भारतेत्तर देशों में भी रामायणें हैं परन्तु जहाँ–जहाँ बौद्धों के साथ पारवर्ती साहित्य नहीं गये वहाँ–वहाँ गुणाढ्य की कल्पना का प्रवेश न होने से उनमें उत्तार काण्डीय सीता त्याग आदि नहीं है जैसे कम्बोडिया की रामायण 'रेयामकेर' में जावा द्वीप की रामायण 'सेरत-राम' में बाली द्वीप की रामायणों वहाँ की भित्तिप्रतिमाओं आदि में उत्तारकाण्डीय कथाओं की चर्चा तक नहीं है। सीता त्याग की गर्हित अथ च काल्पनिक कथाओं में युद्ध काल में सीता पुत्रों की आयु पाँच वर्ष की एवं पुष्करादि भरतादि के पुत्रों की आयु सोलह वर्षों के लगभग बनाई है। मालूम होता है मानस रचनाकाल तक श्रीगोस्वामीजी को वे काल्पनिक कथायें अभीष्ट नहीं थीं तभी तो—'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये' के बाद लिखा है कि—'दुइ–दुइ सुत सब भाइन केरे'। यदि काल्पनिक क्रम अभीष्ट होता तो—'दुइ–दुइ सुत सब भाइन केरे' लिखकर तब लिखते हैं कि—'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये'। यह भगवान्‌की कृपा ही है कि इस प्रसंगकी केवल एक चौपाईके पाठके अतिरिक्त और शब्द मानस में नहीं मिलाई गई। वह शब्द है—

निज निन्दक अघओघ नसाये। लोक विशोक बनाइ बसाये॥

इसका शुद्ध पाठ 'निज निन्दक' है इसका विस्तृत बिवेचन इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २०८ पर देखिये ।

आज हजार-डेढ़ हजार वर्ष से भी पूर्व की लिखी पुस्तकें मिलती हैं पर जिन्हें चार सौ वर्ष के ही लगभग हुआ । इन श्रीगोस्वामीजी से हाथ की बाल्मीकीय रामायण एवं पचनामा तो मिलता है परन्तु उनके रचित किसीभी ग्रन्थकी कोई भी पंक्ति, एक भी शब्द उनके हाथ का लिखा नहीं मिलता क्यों ?

सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

'हेरि हिये तुलसी लिखौ'—(वि० प० २७६)

आदि लिखने वाले गोस्वामीजी ने अपने सभी ग्रन्थों की एक-एक प्रति तो अवश्य ही अपने हाथ से लिखी ही थी। अनुमान से तो यही मालूम होता है कि गर्हित काल्पनिक कथाओं के मिलाने के लिये और शब्दों के शुद्ध रूप को विकृत कर देने के लिये ही दुष्टों ने श्रीगोस्वामीजी के हाथ के लिखे उनके सब ग्रन्थों को नष्ट कर दिया है । टोडरमल के वंश की अमूल्यनिधि होने से पंचनामा सुरक्षित रहा और पंचनामा पर श्रीगोस्वामीजी के हाथ की लिखी सही है उस पर दोहा में शुद्ध शब्द 'दशरथ' लिखा है पर अब लोग 'दशरथ, आदि' लिखते हैं । श्रीराम और अयोध्या दोनों सत्य हैं । श्रीरामजी का आविर्भाव अयोध्या में ही हुआ था ।

इसी से आज दो या चार राम की अयोध्या और दो या चार सीता की मिथिला आदि भारत भर में नही है, परन्तु सीता त्याग की कहानी कल्पित होने से ही आज सीता त्याग स्थल लवकुश जन्मस्थल एवं युद्धस्थल कई जगह उपस्थित किया जा चुका है जैसे—

(१) कानपुर के पास विठूर (ब्रह्मावर्त) ।

(२) इलाहाबाद—बनारस लाइन में भीटी स्टेशन के पास 'सयावर' ग्राम ।

(३) नैनीताल की तराई में काशीपुर स्टेशन के पास 'सीताबनी'।

(४) कोटा जिला (राजस्थान) में बाराँ स्टेशन से छब्बीस मील उत्तर बाराँ से शाहाबाद जाने वाली सड़क पर से एक मील हटकर 'सीता-बाड़ी' नामक स्थान।

(५) चित्तौड़ और रतलाम के बीच में मन्दसौर स्टेशन से बस द्वारा देवरिया प्रतापगढ़ स्टेट से कुछ दूर जंगल में 'सीताबनी' 'सीताकुंड' वाल्मीकि मन्दिर आदि हैं।

(६) अमृतसर से सात मील दूर 'रामतीर्थ' नामक वाल्मीकि स्थान है। सीता की देहरी, सीता नहानी, कसूर (कुश मा जन्मस्थान) आदि कई स्थल हैं. प्रतिकार्तिक पूर्णिमा को बड़ा भारी मेला लगता है।

(७) नर्मदा तट पर मंडला जिले में (हृदयशाह की राजधानी) से छः मील आगे जहाँ सुरपन नदी मिली है वहाँ वाल्मीकि आश्रम सीता रपटन आगे घोड़ाघाट एवं मधुपुरी है। कार्तिक पूर्णिमा को मेला लगता है।

(८) उन्नाव जिले में कुसुम्भी स्टेशन का मूल नाम कुशहरी बताया जाकर उसे सीता त्यागस्थल एवं लवकुश का जन्मस्थल आदि बताया जाता है।

(९) प्रयाग मेले में मानस महारथीने बताया कि पौंड़ी (गढ़वाल) से लगभग ५-६ मील पर सीता त्याग स्थल है।

(१०) राँची [बिहार] के पास।

(११) अमृतसर [खास] में।

(१२) नैपाल प्रदेश [राज्य] में।

(१३) हमीरपुर जिले में धनोखर के पास भुइयाँ रानी [सीता-पाताल प्रवेश] स्थान है।

(१४) बिहार राज्यान्तरगत गण्डक और तमसा के संगम पर 'भैसालोटन को' वर्तमान भारत सरकारने अपने कागजोंमें 'वाल्मीकिनगर'

कर दिया है। सं० १३ और १४ पर तुलसीदल [भोपाल] वर्ष ७ अंक ३ में विस्तार से है।

इनके अतिरिक्त और भी ऐसे स्थान नियत किये गये हों तो मुझे ज्ञात नहीं।

उपर्युक्त सभी स्थान श्रीरामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में वर्णित वाल्मीकि आश्रम के और वाल्मीकीय रामायण में लगे उपोद्-घातमें वर्णित वाल्मीकिआश्रमके विरुद्ध हैं। मानस में वर्णित वाल्मीकि आश्रम करवी चित्रकूट के पास में है उससे सीता त्याग का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जाता और वाल्मीकीयरामायण में जुड़े उपोद्घात में वर्णित वाल्मीकि आश्रम तमसा जाह्नवी सगम के नजदीक ही तमसा तट पर था वहां आज सीता त्याग सम्बन्धी कोई स्मारक नहीं बताया जाता। स्मरण रहे कि अयोध्या के पास वाली टौंस तमसा से भिन्न बखेल-खड से आकर प्रयाग के पास गंगा में मिलने वाली तमसा दोनों तमसा आज भी प्रवाहित हैं। मानस में वर्णित सत्ता-इस कल्प पूर्व एक उज्जैन नगर था आज भी एक ही है सत्ताइस उज्जैनपुरी नहीं है। अतः कल्पभेद का पीछा पकड़कर पीछा छुड़ाना हास्यास्पद ही है। पुराणानुसार कल्पान्त में पृथ्वी की काया पलट जाती है और नई पृथ्वी पर यदि सीता त्याग स्थान की भौगोलिक स्थिति बदल जाती है तो श्रीसीतारामजीके जन्म–लीला स्थान मिथिला, अयोध्या, चित्रकूट आदि की भौगोलिक स्थिति क्यों नहीं बदलती ? चार छः जगह अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट आदि क्यों नहीं ? सत्ता-इस उज्जैन क्यों नहीं है ? इसका एक ही और सुस्पष्ट उत्तर है कि राम, सीता, अयोध्या, मिथिला, चित्रकूट आदि कल्पित नहीं है और सीता त्याग की कहानी एवं तत्सम्बन्धी स्थान कल्पित है। निश्चित है कि लवकुश का जन्म भी अवध के राजमहल में ही हुआ था।

कुछ बेसिर पैर की दन्त कथाओं को प्रामाणिक मानकर अनेक बावदूक लोग कह दिया करते हैं कि त्रेता में मनुष्यों की आयु दस

हजार वर्ष की होती थी, न एक दिन कम न एक दिन बेशी, परन्तु दशरथ की अकालमृत्यु नौ हजार वर्ष में ही हो गई थी उनका एक हजार वर्ष आयु भोग बाकी रह गया था उसे भोग करने के लिये श्रीरामजी ने ग्यारह हजार वर्ष राज्य किया था, अर्थात् दस हजार वर्ष अपना और एक हजार वर्ष पिता की आयु शेष का। अतः पिता कि आयु भोगकाल में पुत्रवधू सीता का त्याग परमावश्यक था। एतदर्थ सीता निष्कासन सर्वथा विहित है इत्यादि, और इसी आशय के पद बनाकर गीतावली में भी क्षेपक लगा दिया गया है।

तो क्या मैं उन अक्षरश्रेतों से पूँछ सकता हूँ कि आपके मतसे भला बेचारे रामचन्द्र को तो पिता की शेष आयु के कारण एकहजार वर्ष और भी जीने का लाभ मिल सका था, परन्तु कौशल्यादि मातायें किसकी आयु का बचा शेष भाग लेकर प्रायः श्रीरामजी के राज्यकाल तक उनके साथ रहीं। क्या आपके मतसे त्रेता में पुरुषों की आयु दस हजार वर्ष और स्त्रियों की आयु बीस–इक्कीस हजार वर्ष की होती थी ? माना कि वशिष्ठ विश्वामित्र आदि तो तपोनिष्ठ थे अतः वे कालविजयी हो सकते थे, परन्तु सिद्धार्थ अकोप धर्मपाल और सुमन्त्र आदि मन्त्रीगण तो स्त्री नहीं थे तब वे क्यों उतने दिन तक जीवित रहे कि दशरथजी का भी प्रारम्भ से ही मन्त्रित्व किये। जब माताओं मन्त्रियों श्रीभरतादि भाइयों आदि के आयु का कोई नियम नहीं था तो भगवान् श्रीरामजी के ऊपर ही आयु का नियमित प्रतिबन्ध क्यों लगा दिया गया। वे ही नियमित आयु के कटघरे में क्यों बन्द कर दिये गये। अस्तु—

वस्तुतः आयु का नियम न कभी संख्याबद्ध रहा और न आज ही है। बात यह है कि जिस काल में धार्मिक व्यवस्था जितनी ही उन्नत दशा पर रहती है उस समय के आहार, जल स्थान और वायु के उतने अधिक स्वच्छ एवं शुद्ध होने से उस कालमें आयु की अधि-

कता तथा मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों की प्रौढ़ता रहती थी, और धर्म के ह्रासत्व कालमें आयु का ह्रास होना अनिवार्य है। यही तात्पर्य मनु के इस वाक्य—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

का है, परन्तु यह आयु तथा शक्तियों की व्यवस्था बद्धजीवों के लिये है। नित्जीवों तथा ईश्वर के लिये नहीं और श्रीभरत, लक्ष्मण, तथा शत्रुघ्न किसी प्रकार के जीव नहीं थे। वे तीनों भाई तो साक्षात् नारायण थे। ईश्वर कालकर्माधीन नहीं है, वह तो स्वेच्छाधीन है—

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावे मनहिं करहु तुम सोई॥

वह चाहे किसी रूप में कुछेक क्षण रहे चाहे अनेकों युग। तीनों भाइयों श्रीभरतादि के नारायण अवतार होनेका वैदिक एवं आर्षप्रमाण मेरे लिखे 'मानस सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है।

शुक्लयजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में तथा अन्य श्रुतियों में भी कई बार—

जिजीविषेच्छत समाः। शतायुर्वै पुरुषः।
जीवेम शरदःशतात्। भूयश्च शरदःशतात्॥

आदि कई जगह मनुष्य की आयु के लिये शतम् ही आता है। यदि कोई शतम् का केवल एक सौ वर्ष मानले तो क्या उसे वेद की मर्यादा की रक्षा करने के लिये, उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये एक सौ वर्ष से अधिक जीवित रहने वालों को विष देकर या शूली, फाँसी गोली आदि किसी उपाय से मार डालना चाहिये? वेद क्या किसी एक युग के लिये है या सब युगों के लिये, यदि वेद सभी युग वालों के लिये है तो फिर त्रेता वाले मनुष्यों की आयु शतम् का अतिक्रमण करके दस हजार वर्ष कैसी? भला त्रेता में तो मनुष्यों की आयु दस

सहस्र वर्ष निर्धारित कर दी गई परन्तु अन्य तीन युगों की मनुष्यायु बताने का कष्ट करेंगे । सतयुगमें तो बहुतों की आयु का लाखों वर्षों से भी अधिक होना महाभारत एवं पुराणों में उल्लेख है । त्रेता में हैहयाधिपति सहस्रबाहु कीर्तवीर्य अर्जुन का सत्तासी हजाह वर्ष तक राज्य करना लिखा है । द्वापर में मृत्युविजयी भीष्म का एक हजार वर्ष भी जीवित रहना नहीं पाया जाता । भगवान श्रीकृष्ण तो अपने उसी चिन्मय विग्रह से धराधाम पर दो-डेढ़ सौ वर्ष भी नहीं रहे । द्रोणाचार्य के लिये तो महाभारत युद्ध के समय की उनकी आयु प्रसिद्ध है कि—

युवावद्विचरद्द्रोणो शतपंचाशीति वार्षिकः ।

बस केवल एक सौ पचासी वर्ष तक ही द्रोणाचार्य जीवित रहे । दुर्योधनादि तो सौ वर्ष के भीतर ही की आयु में करालकाल के गाल में गमन कर गये और राजा भगदत्त तो कई युगों तक जीवित रहा । आजकल कलियुग में भी देखा जाता है कि जन्मते ही मर जाने वाले भी उत्पन्न होते हैं और सौ डेढ़ सौ वर्ष की आयु से अधिक आयु वाले भी इसी भारत वर्ष में ही मौजूद हैं । तब कोई कैसे कह सकता है कि किसी युग में भी वेद के 'शरदःशतम्' का एक सौ वर्ष अर्थ मान कर वैदिकीय नियम का पालन हुआ था या आज होता है । वास्तव में वेदों की आज्ञा 'शतं समाः, शरदः शतम्' आदि से केवल एक सौ वर्ष ही नहीं है, किन्तु अनेक सौ वर्ष अर्थ है । क्योंकि नियम ऐसा है कि—

शतं सहस्रमयुतं सर्वमानन्तवाचकम् ।

अर्थात् शत-सहस्र-अयुत आदि शब्द अनन्तत्वके द्योतक हैं—इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर ये शब्द आयें वहीं शतसे एक सौ, सहस्र से एक हजार, अयुत से एक अयुत—दस हजार और प्रयुत या लक्ष से एक लाख ही न मान लें प्रत्युत कई सौ कई हजार, कई लाख आदि समझना चाहिये । जहाँ एक की ही अवधि कराना होता है वहाँ एक

शत, एकसहस्र, एकअयुत आदि रहता है । जैसे—बीतेमनहु कल्पशतएका!

इसका कोई लिखित पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि त्रेता में सभी मनुष्यों की आयु पूरे दस हजार वर्ष की ही होती थी । कम या अधिक की नहीं और न यही प्रमाण है कि दशरथजी नव हजार वर्ष तक जीवित रहे, उनकी शेष एक हजार वर्ष की आयु लेकर रामजी ने अपनी आयु का ग्यारह हजार वर्ष पूरा किया । पद्मपुराण पाताल खण्ड अध्याय ११६ श्लोक १९०–१९१ में लिखा है कि तारा ने श्रीरामजी के पूँछने पर कहा कि—

षष्टिसहस्रवर्षादर्वाक् अशीततमे वर्षे

रक्षौ युद्धे सुग्रीवेण राज्यमपहृतम् ॥१९०॥

पुनश्च वर्षान्तरे प्राहितः बालिना सुग्रीवः पलायितः

अपहृता तस्य च भार्या राज्यं च अपहृतम् ।

तस्मिन्नेव दिने भवतः पितुर्दशरथस्याभिषेकः ॥

अर्थात् वालि ने अपनी मृत्यु—आज से साठ हजार अस्सी वर्ष पहिले मायावी दुन्दुभी दानव को मारा था तथा उसी साल सुग्रीव को देश निकाला हुआ था । उसी साल आपके पिता महाराज दशरथजी का राज्याभिषेक हुआ था । वा० रा० में श्रीदशरथजी ने अपने मुख से ही साठ हजार वर्ष से ऊपर तक अपना जीवित रहना विश्वामित्र-जीसे कहा था—

षष्ठिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ।

दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ॥१।२०।१०॥

इन प्रमाणों से श्रीदशरथजी का जीवित रहना साठ हजार वर्ष से कम किसी तरह सिद्ध नहीं होता । तब श्रीरामजी दस हजार वर्ष अपनी आयु का तथा एक हजार वर्ष पिता की अवशिष्ठ आयु का उपभोग करके कुल ग्यारह हजार वर्ष इस तरह जीवित रहे । यह

कहना सरासर शास्त्रानभिज्ञता का द्योतक है । श्रीभागवत के क्षेपक में लवकुशके विद्याध्ययन पूर्ण हो जाने के बाद श्रीरामजी का तेरह हजार वर्ष और राज्य करना लिखा गया है ।

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयेन्नजुहोत्प्रभु ।
त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥ १८ ॥

अब जो कोई दस हजार वर्ष के बाद लव–कुश का जन्म मानते हों उनके हिसाबसे तो १०+१३=२३ तेइसहजार वर्ष तक श्रीरामजी राज करते रहे, ऐसा सिद्ध होता है न कि ग्यारह हजार वर्ष तक ही । वा० रा० के उपोद्घात में जो आया है कि—

दशवर्षसहस्राजि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥

इसकी टीका करते हुपे शिरोमणि टीका में तैंतीसहजार वर्ष तक रामराज्य का काल सिद्ध किया है—

"दशेति—दशवर्षसहस्राणि दशसंख्यागुणितानि वर्षसहस्राणि त्रिसहस्रसंख्यातवर्षाणि त्रिशत्सहस्रवर्षाणीत्यर्थः । दशवर्षशतानि च दश-संख्यागुणितानि वर्षशतानि शतत्रयवर्षाणि सहस्रत्रयवर्षाणीत्यर्थः । एवं च त्रयस्त्रिशतसहस्रवर्षाणि राज्यं रामो नित्यं रमणशीलः उपासित्वा कृत्वे-त्यर्थ ।……बहुवचनान्तसहस्रशब्देन बहुवचनान्तशतशब्देन च सहस्रत्रय शतत्रय लाभः कपिजलाधिकरणन्यायेनावगन्तव्यः । एकसहस्रैकशतार्थकत्वं तु तत्र नोपपद्यते, तयोर्बहुवचनान्तत्वात् विंशत्याद्याः सदैकत्वे इत्यनुशा-सनेनैकशेषमन्तरा बहुवचनान्तत्वस्य दुर्लभत्वात् । अतएव त्रयोदशाब्द-साहस्रं ब्रह्मचर्यमखण्डितम् । इति भागवतं साऽनुकूलम् ।……शतानि सहस्राणीत्यादौ द्वितीया "कालाध्वनो" ॥ इति सूत्र विहिता ।……त्रय-स्त्रिंशतसहस्रवर्षाणीत्यर्थः । उपलक्षणमेतत् दशवर्षशतानिचेत्यस्येति वा ; यागकालातिरिक्तकालबोधकत्वे तु न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् । अतो न विरोधः ।"

व्याख्या का भाव ऊपर आ गया है। श्रीरामजीके पिता श्रीदशरथजी साठ हजार वर्ष से भी अधिक राज्य भोग करके पुत्रवान् हुये थे, और उन्हीं के पुत्र चारों भाई श्रीरामजी यदि तैंतीस हजार वर्ष आपके मंतव्यानुसार ग्यारहहजारवर्ष तक जीवित रहे तो इसमें आश्चर्य या शंका करने का क्या कारण है। यह मेरी अल्पमानवीबुद्धि के समझ के बाहर की बात है।

एक तो आर्षप्रमाणाभावसे दूसरे सत्तर्कानुमोदित न होने से दशरथजी की आयु शेषादि की कल्पना सर्वथा अनुपयुक्त है। सर्प, सिंह आदि हिंसक जन्तुओं द्वारा वध किया जाना, अकस्मात् आग में जलकर मर जाना, पानीमें डूबकर मर जाना, वृक्षादिसे गिरकर मर जाना दीवाल आदि से नीचे दबकर मर जाना अकालमृत्यु कही जाती है। वैसा कुछ दशरथजी को नहीं हुआ था। मनुस्मृति में अकालमृत्यु की बात बताते हुए कहा गया है कि—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ५।४ ॥

जो वेदाभ्यास नहीं करते, सदाचार त्यागकर असदाचारी हो जाते हैं, जो कर्तव्य कार्य में आलस्य करते और दूषित अन्न खाते हैं, उन्हीं द्विजातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों की अकालमृत्यु होती है विश्वकोष (कलकत्ता) में किसी स्मृति का प्रमाण देकर अकालमृत्युके तीन कारण कहा है।

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥

विहित का त्याग, निन्दित का ग्रहण और इन्द्रियों का अनिग्रह इन्हीं तीन कारणों से मनुष्य की अकालमृत्यु होती है। परम प्रसिद्ध वैद्यकग्रन्थ सुश्रुत में एक सौ प्रकार की अकालमृत्यु कही गई है। किसी

प्रकार की अकालमृत्यु दशरथजी की नहीं हुई थी तब आयुशेष की बात कैसी ? और—

जौं बिनु अवसर अथव दिनेशू ।

की उत्प्रेक्षा वाली जो बात है वह तो केवल इतने ही अंशों में ग्राह्य है कि दशरथजी बिना किसी को बिधिवत् राज्याभिषेक किये ही मर गये जबकि राजधानी में राजबंश का कोई भी पुरुष उपस्थित नहीं था । इससे प्रजाविप्लव होने का डर राजनीति विशारदों के हृदय में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था । इसी से कहा है कि—

तौ किहि कहहु न होइ कलेशू ।।

अतः दशरथजी की आयुशेष की कल्पना अनर्गल एवं महान् दोषावह है । इसी सिलसिले में दशरथजीके कुछ पूर्वजोंकी आयु का लेखा-जोखा भी देख लीजिये—

१—राजा सगर तो कुल तीस हजार वर्ष ही राज्य करके बिना बन गये स्वर्ग चले गये । देखिये वा० रा० बालकाण्ड ।

त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ।।४१।२९।।

२—राजा अंशुमान बत्तीसहजार वर्ष राज्य करके वन गये और कुछ दिन तप करके तब स्वर्ग गये—

द्वात्रिंशच्छतसाहस्रं वर्षाणि सुमहायशः ।
तपोवनगतं राम! लेभे स्वर्गं तपोधनः ।।८२।४।।

३—राजा दिलीप प्रथम ने भी बत्तीस हजार वर्ष राज्य करके विना वन गये ही अयोध्या में राज्य करते हुये ही रोग से पीड़ित होकर शरीर छोड़ा—

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान् ।
द्वात्रिंशद्वर्षसाहस्रं राजा राज्यमकारयेत् ।।४२।८।।

व्याधिना नृपशार्दूलः कालधर्ममुपेयिवान् ।। ९ ।।

४—भविष्य पुराण प्रतिसर्गपर्व अध्याय एक में इक्ष्वाकु का छत्तीस हजार वर्ष राज्य करना लिखा है ।

तच्छिक्ववातोऽभवत् पुत्र इक्ष्वाकुः स महीपतिः ।। ४ ।।
षट्त्रिंशच्च सहस्राणामब्दं राज्यं तदाऽकरोत् ।। ६ ।।

५—हरिश्चन्द्र ने बीस हजार वर्ष राज्य किया ।

राज्यं विंशतिसहस्रं च रोहितोनाम तत्सुतः १।१।२४

६—सगरपौत्र अंशुमान द्वितीय ने ३० हजार वर्ष राज्य किया ।

त्रिंशतसहस्रवर्षं तद्राज्यं वै मुनिभिःस्मृतम् ।।३०।।

७—अम्बरीष पुत्र शतहीन ने अट्ठारह हजार वर्ष राज्य किया ।

अम्बरीषेण भूपेन शतहीनं कृतम् पदम् ।
चतुर्थे चरणे तस्य चाष्टादशसहस्रकम् ।।
अब्दे राज्यंशुभं ज्ञातं कर्मभूम्यां च भारते ।। ३६ ।।

८,९—हरिवर्माने तथा दशरथप्रथमने २९७०० वर्ष राज्य किया ।

ऊन त्रिंशत्सहस्राणि तथा सप्तशतानि च ।
हरिवर्माऽकरोद्राज्यं तस्माद्दशरथोऽभवत् ।।
पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं...................... ।। ४४ ।।

१०—खट्वांग ने तीस हजार वर्ष राज्य किया ।।४७.४८।।

११—दीर्घवाहु ने बीस हजार वर्ष राज्य किया ।।४९।।

१२—सुदर्शन ने पन्द्रह हजार वर्ष राज्य किया ।।५२।१-२-३।।

इत्यादि उपर्युक्त दशरथ के पूर्वज राजाओं ने जो तीस बत्तीस हजार वर्ष ही राज्य करके मृत्यु का आलिंगन किया था। उनमें किसी

के लिये कहीं भी उनकी आयुशेष की कल्पना नहीं की गई है । तब जिस पुरुषपुंगव ने अपने मुख से ही स्वीकार किया है कि—

षष्ठिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक: ।१८।१०।

मेरी साठ हजार वर्ष की आयु हो जाने के बाद मेरे पुत्र पैदा हुये हैं । पद्मपुराण का प्रमाण तो आप इसी समाधानमें अभी-२ पढ़ते आ रहे हैं । अत: वाल्मीकि, व्यास आदि मन्त्रद्रष्टाऋषि महाकवि ने जब महाराज दशरथ का जीवित रहना साठ हजार वर्ष से अधिक बतलाया है तब उनके लिये आयुशेष की कल्पना इतनी अनुपयुक्त है कि उससे कल्पना भी लज्जित हो जाती होगी, पिता की आयुशेष को भोगने के लिये श्रीराम द्वारा सीतात्याग की कल्पना करने वाले बुद्धिमानों ने क्या कभी इस बात की भी कल्पना किया है कि जब दशरथजी की आयु भोगने के लिये सीताजी से पत्नी सम्बन्ध रखना गर्हित समझकर सीतात्याग करना समुचित जान पड़ा तो क्या दशरथकी आयु भोगकाल में कौशिल्या, कैकेई सुमित्रा आदि के साथ भी मातृत्व सम्बन्ध के त्याग दिये जाने और उनके साथ दशरथ के समान सम्बन्ध एवं तदनुकूल व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती? और इस कल्पना के बिना पिता की आयु भोगार्थ सीतात्याग की कल्पना अधूरी ही रह जाती है । अस्तु—

आदि कवि श्रीवाल्मीकजी ने पुराणकार द्वैपायन वेदव्यासजी नें एवं अन्य श्रीरामयश गायक प्रामाणिक महर्षियों ने तो यह कहीं नहीं लिखा कि दशरथजी की आयुशेष रह गई थी और उसको भोगने के लिये श्रीरामजी ने एक हजार वर्ष के वास्ते सीता त्याग किया था । रामचरितमानस में तो इसकी कहीं चर्चा ही नहीं है ।

अत: स्पष्ट है कि जिन महानुभावोंने गंगाअवतरण, श्रवणोपाख्यान रामेश्वर-लिंग स्थापना, सुलोचना सती, अहिरावण बध, नरान्तक बध एवं मणिमालभंजन आदि अनेक कथायें व्यास समास रूप से मानस में

मिला दिया है । सूर के कई पद सूर के स्थान पर तुलसी रघुवर के स्थान पर यदुवर श्याम के स्थान पर राम रखकर गीतावली एवं कृष्णगीतावली में मिला दिया है । भृङ्ग कवि के कई पद कहीं भृङ्ग के श्लेष से ही और कहीं–२ तुलसी रखकर कवितावली में संग्रहीत कर दिया गया है । बहुत से दोहे मिलाकर तुलसीसतसई रच दी गई है । दोहावली में भी अनेक दोहे मिलाये गये हैं । नहछू में कई पद मिलाये गये और कई पद निकाले गये हैं । जिन महानुभावों ने ऐसा किया उन्हीं सज्जनों की सृष्टि गीतावली उत्तरकाण्डके पच्चीसवें पद से सत्तीसवें पदों तक की है एतदर्थ उसका कोई मूल्य नहीं और गीतावली में वर्णित कथाओं का सूत्र गीतावली के अन्तिम पद में कवि ने स्वयं दिया है । उसमें सीताहरण का संकेत भी न होने से भी पच्चीस से छत्तीस तक बारह पद स्वतः क्षेपक सिद्ध हो जाते हैं ।

साथ ही एक और लम्बी चौड़ी गप्पवाजी की बात सुनलूँ = कुछ लोग कह देते हैं कि ब्रह्मगायत्री चौबीस अक्षर की है, उसी के एक एक अक्षर से आरम्भ करके वाल्मीकि ने चौबीस हजार श्लोक लिखा है, जो उत्तरकाण्ड मिलाकर ही पूरा होता, अन्यथा नहीं, परन्तु विचारने की बात है कि वाल्मीकीय रामायण के किसी भी प्रामाणिक संस्करण के मूल में यह गायत्री वाली बात नहीं है आरम्भ में चार सर्ग उपोद्घात रूप से हैं वे तो वाल्मीकिकृत हैं ही नहीं । प्रथम सर्ग तो जन्म से लेकर राजगद्दी तक कथा का सूत्र एवं रामराज्य की प्रशंसा है उसमें कहीं सीता त्याग की गन्ध भी नहीं है । अतः उस प्रथमसर्ग के लिये तो शंका उठ ही नहीं सकती कि यह सर्ग वाल्मीकि रचित है या नहीं । दूसरे सर्ग में वाल्मीकि के लिये इतने विशेषण आये हैं कि सर्वपंथ–प्रदर्शक वाल्मीक तो क्या कोई भी सभ्यपुरुष अपने लिये नहीं ही लिख सकता है । जैसे—'वाक्यविशारदः' 'धर्मात्मा' श्लोक १ तथा ३८ । 'भगवान्' ९ तथा ३८ । 'महात्मा' ७ । 'महाप्राज्ञ' मुनि-

पुंगव' १७ 'मुनिप्रणीत' ४३ (मत्प्रणीत अथवा अस्मत्प्रणीत नहीं) इसी तरह तीसरे सर्ग में 'धीमान्' १। 'भगवान' ३९। और चौथे सर्ग में 'भगवान्' १। 'भावितात्मा' ४ आदि विशेषण हैं।

वाल्मीकीय रामायण की जो सबसे प्राचीन टीका मिलती है वह लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की भूषणटीका श्रीगोविन्दराज रचित है वे इस दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग के लिये लिखते हैं कि ये तीन सर्ग वाल्मीकि के किसी अनुयायी ने उनका वैभव प्रकट करने के लिये रचकर रामायणके आरम्भमें लगा दिया है। भूषणाकार के शब्द देखिये—

"सर्गत्रयमिदं केनचिद् वाल्मीकिशिष्येण रामायण— निवृत्त्यनन्तरं निर्माय वैभवप्रकटनाय संगमितं, यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ तथैव तत्रविज्ञानेश्वरेण व्याकृतम्।"

(वा० रा० १।५।१ पर भूषणटीका)

आज सत्यान्वेषक समाज में वाल्मीकीय रामायण के पेरिस की छपी प्रति 'गौणीय पाठ' लाहौर की छपी 'पश्चिमोत्तरीय पाठ' और 'दाक्षिणात्य पाठ' तीन पाठ की विशेष चर्चा है। केवल दाक्षिणात्य पाठ में ही चौबीस हजार सात सौ अठहत्तर श्लोक हैं, जिसमें कुछ जो बड़े बड़े छन्द=श्लोक हैं उनके और सर्गान्त पुष्पिका के ग्रन्थ गणना प्रथा के अनुसार अनुष्टुप् बनाने से वा० रा० की ग्रन्थ संख्या लगभग साढ़े पचीस हजार हो जाती है और उसका उत्तरकाण्ड हटा देने से तेईस हजार कुछ सौ अनुष्टुप् ग्रन्थ संख्या होती है। जिससे दक्षिणात्यों की चौबीस हजार की कल्पना लगभग ठीक हो जाती है, परन्तु अन्य दोनों पाठों की समस्त ग्रन्थ संख्या लगभग बाइस हजार की होती है ऐसी दशा में वह तेईस अक्षर वाली ब्रह्मगायत्री के अक्षर अक्षर प्रति एक एक हजार श्लोक की रचना से चौबीस हजार श्लोक की थोथी कल्पना का कोई स्थान ही नहीं रहता। ब्रह्मगायत्री मात्र तेईस अक्षर की है चौबीस अक्षर की नहीं। गिन लीजिये—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
तत् स वि तु र्व रे ण्यं भ र्गो दे व स्य
१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३
धी म हि धि यो यो नः प्र चो द यात्

अज्ञीन—आधे अक्षरों की गणना नहीं होती और ॐ भूर्भुवः स्वः इन चारों व्याहृतियों को मिलाकर गणना करने का नियम नहीं, अतः ब्रह्मगायत्री तेईस अक्षर की ही है, हाँ पिंगल शास्त्रानुसार गायत्री जाति का छन्द चौबीस अक्षर का होता है।

निश्चय है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी जैमिनीयाश्वमेध की रचनाकाल तक वाल्मीकीय रामायण में उत्तरकाण्ड नहीं जुड़ा था। अतएव सिद्ध है कि लवकुश का जन्म श्रीरामादि की तरह अयोध्या के राजमहल में ही हुआ था।

केवल सीतात्यागमात्र ही नहीं अपितु राजर्षि शुचिव्रत श्रीरामजी को बदनाम करने के लिये उन्हें उत्तरकाण्ड में मद्यपी ४२।१८ मांसाहारी ४२।१९ और वेश्यागामी ४२।२२ बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है। बालकाण्ड में युद्धकांड तक छः काण्डों में 'श्रीसीतालक्ष्मीः, श्रियः श्रीश्च' आदि जिन्हें कहा गया है उन आद्या आह्लादिनी शक्ति 'गिरा-अर्थजलबीचिसम' श्रीरामाभिन्ना सीताजी को उत्तरकाण्ड में वद्धजीव कहा गया है। (उ० का० सर्ग १७ वेदवती प्रकरण में)

शंका ११

गोस्वामीजी ने मानस के प्रत्येक पद में 'र' और 'म' रखा है। केवल छः चौपाइयों में ही 'र' और 'म' अक्षर नहीं मिलता—

१—भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा।
२—जे जल चलहिं थलहिं की नाईं। टाप न बूड़ वेग अधिकाई।
३—देखि निषाद नाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ टोलू।
४—तनय जजातिहिं जौबन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजश न भयऊ।

५—जात पवन सुत देवन देखा। जानइ कहँ बल बुद्धि बिशेषा।
६—झूँठइ लेना झूँठइ देना। झूँठइ भोजन झूँठ चबेना।

तो क्या ये चौपाइयाँ क्षेपक हैं या गोस्वामीजी ने इन पर ध्यान ही नहीं दिया ?

(पं० रामकुमार उपाध्याय 'कुश' और पं० शालिग्राम पाठक)

समाधान

सीताराम सुवर्ण चहुँ, ब्रह्म भाव भरि पूर।
गहु 'कुमार' तिहि शरण नित, होंहि बिघ्न सब चूर॥

उपासना पद्धति प्रतिपादक शास्त्रों का कहना है कि—

राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः।

और श्रीगोस्वामीजी ने लिखा है—

गिरा अर्थ जल बीचि सन, कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दउँ सीताराम पद, जिनहि परम प्रिय खिन्न॥

कहकर युगलनाम और युगलरूप में अभेद बतलाया है। अत—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।

लिखने वाले गोस्वामीजी अपनी प्रत्येक पंक्तिमें 'स त र म' इन चार ब्रह्म वर्णों में से कोई न कोई अक्षर अवश्य रखा है। आपकी उद्धृत चौपाइयों में से दो चौपाइयों में 'स' और 'रू' वर्ण है। नारदजी महाभागवत होकर भी भगवान् को बदला देने की बात कह रहे हैं और श्रीराम सखा निषादराज रामबन्धु श्रीभरतजी से लड़ने के लिये निशान बजाने को कह रहे हैं। नारदजी ने भगवदपराध किया और निषादराज भागवतापराध करने जा रहे हैं। इसी से दोनों महाभागवतों के बचनों में 'स त र म' वर्ण नहीं है। उत्तरकांडीय खल वर्णन प्रसंग में जहाँ सबकुछ झूँठ का ही व्यवहार है, वहाँ सर्वथा सत्य, स त र म वर्ण कैसे रह सकता है।

उच्चैश्रवा अश्व और ऐरावत गज दोनों समुद्र मन्थन से निकले हैं स्वर्ग में रहते हैं। इनके वंशजों की जल, स्थल एवं गगन में अबाध गति है। जो घोड़े उच्चैश्रवा के वंशज हैं वे श्याम कर्ण अश्व हैं। श्यामकर्ण की गति सर्वत्र अबाध रूपसे हैं। इसीसे वहाँ जनु मनु आदि उत्प्रेक्षा बाचक शब्द न देकर निश्चित रूप से उनकी गति कहा, परन्तु प्राकृतिक नियम विरुद्ध होने से ही शायद इस चौपाई में ब्रह्माक्षर नहीं दिया। इस शंका का उपर्युक्त सभी समाधान केवल सज्जनतोष न्याय से किया गया। अन्यथा 'अकारः ब्रह्म' 'अकारो वासुदेवः स्यात्' तो बहुत प्रसिद्ध है। और ऐसा कोई भी व्यंजन नहीं है जो बिना "अ" स्वर के उच्चारित होता हो। अतः उक्त छः चौपाइयों में सबसे अकार की आवृत्ति है।

वेदानुयायियों में बहुत प्रसिद्ध अथच बहुत प्रचलित श्रुति पाठ है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ब्रह्म एक साथ चाहे जितने रूप बना ले वे सब रूप पूर्ण ब्रह्म' ही हैं। उपनिषत् महाकोष में महोपनिषत् ५।४६ का पाठ है—

पूर्णात् पूर्ण सुखात्मकम्॰ महो॰ ५।४६

ब्रह्म का सभी रूप पूर्ण एवं सुखात्मक (सच्चिदानन्द) है।

प्रपञ्चसार तन्त्र में कहा गया है—

अ, क, च, ट, त, प, याद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः,
विरचति मुख बाहा पाद मध्याख्यवृहत्का।
सकल जगदधीशा, शाश्वता विश्व-योनिः,
वितरतु परिशुद्धिं चेतसा शारदी नः ॥

अनुष्ठान क्रम में ९, ११, १८, २७, ३४, ५४, ७२, १०८, ५००, १००० मणिकाओं की मालायें विभिन्न देवता के विभिन्न अनुष्ठानों में व्यवहृत होती हैं ।

मोक्ष प्राप्ति के १०८ मणिकाओं की माला इसलिये उपयुक्त हैं कि तांत्रिक नियमों से ब्रह्म शब्द १०८ स्वर वर्णों का द्योतक है । यथा—ब २३, र २७, ह ३३, म २५ कुल योग १०८ । अतः 'ब्रह्म' का जप १०८ मणिकाओं की माला पर करें ।

जो ब्रह्मात्मक नाम है उनका भी जप १०८ मणिकाओं की माला पर हो जैसे—सीताराम स ३२, ई ४, त १६, आ २, र २७, आ २, म २१, योग १०८ यह तान्त्रिक प्रणाली से अक्षरों का योग है । सीता वाच्य आद्या आह्लादिनी शक्ति और राम वाच्य पर ब्रह्म का जोड़ १०८ नहीं है । ऊपर दिये गये श्रौत प्रमाण से सीता भी पूर्ण ब्रह्म है और राम भी पूर्ण ब्रह्म हैं । इसी तरह आद्य आह्लादिनी शक्ति राधा भी पूर्णब्रह्म है और कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म हैं आध्यात्मिक राधा कृष्ण वर्ण में तान्त्रिक प्रणाली से १०८ नहीं पड़ता, ऐसे नारायणादि रूप सभी ब्रह्म हैं । साम्प्रदायिकता, साम्प्रदायिक मान्यतायें अन्य बात है । अतः विचार करने पर कोई भी चौपाई ब्रह्माक्षर रहित ही नहीं है ।

शंका–१२

किसी भी प्रसंग को जब दो बार मूल रामायण में नहीं कहा गया तब—

पुनि शिशु चरित कहेसि मनलाई ।
बालचरित कहि बिबिध बिधि० ।।

"शिशुचरित और बालचरित" क्यों कहा ? क्या यह पुनरुक्ति नहीं है ? (पं० मन्नालाल त्रिपाठी रामायणी, कानपुर)

समाधान

सुपंचखाद्य क्षीरपक्व संस्कृतासितादिभिः,
प्रपंक्ति मण्डली कृते मनोज्ञ पद्मनीदलैः ।
परस्परं सकौतुकं शरच्चलशांक निर्मले,
समानभाव बालकैरदन्भजे रघूत्तमम् ।।

मानसोक्त मूल रामायण में श्रीकाकभुशुण्डिजी का कहा हुआ—

रामचरित सर कहेसि बखानी ।

से आरम्भ करके—

पुर वर्णन नृप नीति अनेका ।

तक बान्नवे प्रकरणों का सूत्र है। आजकल लोग प्रायः एक भाव सिद्ध करने के लिये काट-छाँटकर चौरासी ही प्रकरण मानते हैं। उस ९२ को ८४ मानने से किसी का कुछ प्रयोजन अर्थात् कोई हानि-लाभ नहीं है। आपका प्रश्न तो पाचवें और छठवें प्रकरण के संकेत को एक मानकर ही है, परन्तु दोनों दो प्रकरण हैं, एक नहीं। शारीरिक अवस्था का नाम आयुर्वेद से आर्ष ग्रन्थों में देखा जा सकता है कि—

"शिशुत्वं पंचवर्षाणि द्वादशाब्दान्त बाल्यता ।
अष्टादशान्त कैशोरम् श्वेततत्वं च यौवनम् ।।"
(शरीर तत्व संग्रह)

अतः जन्म से पाँच वर्ष तक शिशुत्व है और तभी तक का श्रीराम-रूप कार्काष श्रीभुशुण्डिजी का इष्ट है—

'वर्ष पाँच तहँ रहौं लोभाई ।'
'दम्पति परम प्रेमवश कर शिशुचरित पुनीत ।'
'शिशु लीला विलोकि हर्षाऊँ ।'

'यहि बिधि शिशु विनोद प्रभु कीन्हा ।

बालक श्रीरामजी की पाँच वर्ष तक की क्रीड़ा का नाम शिशु-चरित्र है, इसके आगे छः से बारह वर्ष तक की कुमार पौगण्ड वयस् की क्रीडा का नाम बालचरित दिया गया है । यद्यपि बाल एवं शिशु पर्याय है तो भी आर्ष–वयः निर्णयानुसार–तदनुरोध एवं प्रकरण संकेतानुरोध से दो मानना अनिवार्य है । कुमार या पौगण्डाख्य बाल-चरित में ही है—

भये कुमार जबहिं सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता

से लेकर दोहा २०४—

जिन विथिन विहरहिं सब भाई । चकित होहिं सबलोग लुगाई

कौशल पुर वासी नर नारि वृद्ध अरु वाल ।
प्राणहु ते प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल ।।

तक बालचरित है । इसके बाद का सम्पूर्ण बालकांड का चरित्र किशोरावस्था का है ।

रामचरितसर, नारदमोह, रावण अवतार (भानुप्रताप चरित्रादि) श्रीरामावतार (मनुचरित्र, दशरथ यज्ञ आदि) शिशु चरित्र (पाँच बर्ष तक) बालचरित्र (पौगण्ड कुमार की लीला–उपनयन विद्याध्ययन शिकार दिनचर्या आदि) विश्वामित्र प्रकरण (अहिल्योद्धार) और विवाह जनकपुर प्रकरण वैवाहिक कृत्यानुसार लीला (पूरा बालकांड) इन आठ प्रकरणों के बाद अयोध्याकाण्ड से उत्तरकाण्ड के 'वर्णन नृप नीति अनेका ।' तक वानवे प्रकरण युवावस्था का चरित्र है । इस प्रकार पूरे सन्दर्भ पर विचार करने से किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं ठहरती ।

शंका–१३

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना

वह कौन सी रामायण है जिसके आदि मध्य और अन्तमें 'राम-भगवान' ही प्रतिपादित हैं। यदि प्रसंगानुकूल मानस को ही माना जाये तो इसके आदि में वर्णानाम्' और अन्त में 'मानवाः' शब्द आया है। अतएंव यह किस प्रकार माना जावे कि किस रामायण की कथा भुशुण्डीजी नित्य नियम पूर्वक कहा करते थे ?

(श्री रमेश त्यागी, संपादक धर्मगुरु)

समाधान

बरदा शुचि तिय साथ, वरदा बाहन बरद सुत।
भव भंजन गुण गाथ, भाग्य भीख ही भवहिं भइ।।

यह समझ रखना चाहिये कि 'वर्णानाम्' से 'मानवाः' तक श्रीराम-चरितमानस की कथा ही नहीं है, प्रत्युत बालकांड दोहा १२०।१—

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये।

से लेकर उत्तरकांड दोहा ५१—

प्रेमसहित मुनि नारद वरणि रामगुण गाथ।

तक ही प्रस्ताविक राम कथा है। उत्तरकाण्ड दोहा ५१ के बाद श्रीशंकरजी ने श्रीराम कथा सम्बन्धी अपने वक्तव्य की—

गिरिजा सुनहु विशद यह कथा। मैं सब कही मोरिमति यथा

उत्तरकाण्ड दोहा ५२।१ से लेकर सात चौपाई—

कछुक रामगुण कहेउँ बखानी। अब का कहउँ सो कहहु भवानी

तक इति लगाया है और 'वर्णानाम्' से लेकर 'हियहर्षेकामा-रितब०।' बालकाण्ड दोहा १२० तक श्रीरामचरित्रमानस के भाषान्तर-कार श्रीमद्गोस्वामीजी कृत मानस–महाकाव्य की भूमिका एवं उपक्रम है। 'हियहर्षेकामारि०' इस दोहे से आगे तीन सोरठे और एक चौपाई में श्रीशिवजी का उपक्रम या श्रीगोस्वामीजी की भूमिका का परिशिष्ट

है । उसके आगे उत्तरकाण्ड दोहा ५१ तक श्रीरामचरित्र वर्णन करके पर उसके आगे जब पार्वतीजी ने काकभुशुण्डी सम्बन्धी प्रश्न किया तब शिवजी ने उत्तरकाण्ड दोहा १२७ तक उसी का उत्तर देकर—

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। यद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी

श्रीभुशुण्डि-गरुड़ सम्वाद के सम्बन्ध में कहकर पुनः—

हरि अवतार हेतु जेहि होई ।

बा० का० दो० १२१।२ से लेकर उ० का० दो० ५१ तक कहे हुये रामचरित का—

तामन प्रीति देखि अधिकाई । तब मैं रघुपति कथा सुनाई

से—

कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं । ते गोपद इव भवनिधि तरहीं

उ० का० क्षे० १२९।६ तक उपसंहार किया । याज्ञवल्क्य कृत रामाख्यान का उपक्रम रामचरितकृति से अमित मुनिशरणा १०५।३ है और उपसंहार—यहशुभ शम्भु उमा सम्वादा । से मैं यह पावन चरित सुहावा (७।१३०।१—४) चार चौपाई है और इसके बाद भाषाकार का उपसंहार 'मानवाः' तक है ।

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी । रामचरित सर कहेसि बखानी

कहेसि बहोरि राम अभिषेका । पुर वर्णन नृप नीति अनेका

उ० कां० दो० ६४।७ से ६७।६ तक की कही गई राम कथा को ही भुशुण्डिजी ने ९२ प्रसंगों में गरुड़जी को सुनाया और इतनी ही कथा श्रीशिवजी ने भी कही थी इसे वे ही स्वयं मानते हैं कि—

कथा समस्त भुशुण्डि बखानी । जो मैं तुमसन कही भवानी

अतः यह कथा बा० कां० दो० १२० से उ०कां० दो० ५१ तक ही है । इतनी कथा श्रीभुशुण्डिजी नित्य नियम पूर्वक कहा करते थे । यहीं तक की कथा सुनकर गरुड़जी ने कहा कि—

गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित ।

और इतने के लिये ही कहा गया है कि—

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवान

यदि इतने से आपकी शंका का समाधान हो गया हो तब तो ठीक ही है । यदि आपका तात्पर्य भगवान् राम के प्रतिपादन से श्रीरामजी की भगवत्ता अर्थात् ब्रह्मत्व प्रतिपादन से हो कि परब्रह्म श्रीरामजी के स्वरूप रूप गुण आदि का प्रतिपादन मानस में कहा है तो कष्ट करके "मानस सिद्धान्त" ग्रन्थ पढ़िये ।

आपकी शंका का एक अंग यह भी है कि भुशुण्डिजी किस रामायण की कथा कहते थे" ? तो वे शंकरजी प्रचारित श्रीरामकथाओं को ही कहा करते थे, इसे वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि—

रामचरित सर गुप्त सुहावा । शंभु प्रसाद तात मैं पावा ।।

और कवि ने भी मानस की परम्परा में बताया है कि—

शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपाकरि उमहिं सुनावा
सोइ शिव काकभुशुण्डिहिं दीन्हा । रामभक्त अधिकारी चीन्हा

रही किसी पोथी की बात तो जो यह पोथी गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है । इसे लेकर तो काकजी कथा कहते हो नहीं हैं, कारण स्पश्ट ही है कि श्रीभुशुण्डिजी सत्ताइस कल्प पहिले से ही नीलगिरि पर रहते हुये बराबर श्रीराम कथा कहते चले आ रहे हैं और इस श्वेत वाराह कल्प के वैवस्वतमन्वन्तर के चौबीसवें त्रेता में—

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्र पुरः सरः ।
राज्ञां दशरथस्याथ पुत्रः पद्मावतेक्षणः ।।

(हरिवंश आदि पर्व ४१।१२१)

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्ययशः क्षयात् ।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमेयिवान् ।।
(स्कंद पु० प्रभासखंड २०।३१ वायु पु० उत्त० २।८८)
चतुर्विंशेयुगे रामो बशिष्ठेन पुरोधसः ।
सप्तमो रावणस्यार्थे जज्ञे दशरथात्मजः ।।
(स्कं० पु० प्र० खं० १११।७ वा० पु० उत्त० ३६।९)

होने वाले भगवल्लीला नाटच को देखकर गरुड़ को मोह हुआ था, तब भुशुण्डिजीने गरुड़जी को मोह नाशार्थ श्रीराम कथा सुनाया। उस समय तक तो श्रीतुलसी कृत भाषा रामचरितमानस की पोथी की चर्चा ही नहीं थी क्योंकि यह पोथी तो श्रीरामावतारके चार चतुर्युगी बाद अर्थात् इस श्वेतवाराह कल्प के सातवें वैवस्वतमन्वन्तर की अट्ठाइसवीं चतुर्युगी वाले कलि के पंचसहस्राब्दी के अन्तर्गत वैक्रमी संवत् १६३१ के आरम्भ में रची गई, तब यह पोथी कैसे हो सकती है ? यदि कोई किसी पोथी का ही रहना मानते हों तो वह पुस्तक भी आज अन्य अनेक प्राचीन साहित्य ग्रन्थोंकी तरह कुटिल कराल काल के गाल में गड़प हो गई होगी।

मेरा अपना मन्तव्य तो यह है कि वे किसी लिखित ग्रन्थ विशेष को सामने रखकर कथा नहीं कहा करते थे, प्रत्युत जैसे महा मेधावी दोनों कुशीलव–अभिनेता या चारण प्राचेतस् महर्षि वाल्मीकि रचित छवो कांड आदिकाव्य पौलस्त्य वध (वाल्मीकिरामायण) कंठस्थ किये थे, वैसे ही भुशुण्डिजी को भी पुस्तक हाथ में लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी, कंठस्थ ही कथा कहा करते थे, क्योंकि उन्हें तो—

जानबि तैं सबही कर भेदा । मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ।।

ऐसा श्रीरामजी का आशीर्वाद ही था । श्रीशिवजी के भी पद्य या गद्यात्मक किसी रामायण–पोथी लिखने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, इस विषय में तो श्रीगोस्वामीजी ने ही कहा है कि—

महादेव रचि मानस राखा । पाइ सुसमय शिवा सन भाषा ।।

श्रीभुशुण्डिजी ने भी यही कहा है कि—

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा । रामचरित मानस सब भाषा ।।

परन्तु यह नहीं कहा कि मुनि ने किसी पुस्तक विशेष से देख देखकर मुझे पढ़ाया और मैंने उस पुस्तक की प्रतिलिपि कर लिया था। आज भी देखा जाता है कि तमः प्रधान लोग आल्हा ऊदल की जीवनी को आल्हा छन्दों में गाते हैं बिना किसी पुस्तक के देखे ही। फिसाने अजायब और अलिफ लैला के किस्सों को कण्ठस्थ ही कहा करते हैं। उसी तरह सत्व प्रधान विद्वान् सज्जन विना किसी ग्रन्थ को हाथ में लियेही भगवद्भागवच्चरित्रों द्वारा अनेकों जिज्ञासुओं की भगवद्विषयिक ज्ञान पिपासा को शान्त करते रहते हैं। क्या परमहंसाग्रगण्य, विरक्त-मूर्द्धन्य, महाभागवत शिरोमणि आचार्य श्रीशुकदेवजी श्रीमद्भागवत की पोथी बाँधकर सर्वत्र घूमा करते थे, जो राजर्षि श्रीपरीजितजी को मुमूर्षु अवस्था में सुनाकर भगवद्धाम भेजने में कारण हुये।

अतएव 'वर्णानाम्०' और 'मानवाः'' शब्द में भुशुण्डि द्वारा भगवान् का प्रतिपादन ढूँढ़ना कहाँ तक युक्ति संगत है, यह विचारणीय बात है, क्योंकि भगवान् राम का ब्रह्मत्व प्रतिपादित तो श्रीशिवजी द्वारा वर्णित रामायण की सूची उ० कां० दो० ६३।७ से ६७।६ तक के ९२ प्रसंगों में है, न कि 'वर्णानाम्' और 'मानवाः' शब्दों में। यदि आपका विशेष आग्रह वर्णानाम् आदि शब्दों में ही क्लिष्ट कल्पना द्वारा ढूँढ़ने की ही है तो मानस की पुरानी टीकायें देखिये।

शंका १४

राम उदर सुनु अण्डज राया । देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ।।

दिखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखण्ड ।
रोम रोम प्रति लागेऊ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।।

और श्रीकृष्णावतारमें बाल-लीला करते करते माता श्रीयशोदाजी को मुखमें समस्त ब्रह्माण्ड दिखाया ही था, परन्तु अर्जुनजीसे जो कहा कि-

[क] न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्व चक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुर्पश्य मे योगमैश्वरम् ।।
(गीता ११।८)

इसे कहने से भगवान् का क्या तात्पर्य है ? क्या अवतक अर्जुन ने भगवान् के विग्रह को नहीं देखा था ?

[ख] मयाप्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।
(गीता ११।४७)

भगवान् कह रहे हैं—अबतक यह रूप किसी को नहीं दिखलाया परन्तु कौशल्या और काकभुशुण्डिजी का देखना मानस में वर्णित है, तब 'अन्येन न दृष्ट पूर्वम्' की संगति कैसे बैठेगी ?

[रामनाथ "ज्योतिसी]

समाधान

कोटीन्दु कान्ति परिवृंहण रूपशील-
स्तारुण्यदर्पदलनं मकरध्वजस्य ।
सन्नर्म मुख्यगण सेवित पादपद्म-
स्तं कृष्णयादव पदाम्बुजमाश्रयेऽहम् ।।

[क] कुरुक्षेत्रीयरणांगणमें भगवान् ने अपना चिन्मय विग्रह देखने के लिये अर्जुनसे नहीं कहा है, अपितु वे तो इसी चिन्मय श्यामसुन्दर विग्रह में विभूति देखने की शक्ति दे रहे हैं—

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
ममदेहे ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···।।
(गी० ११।७)

भगवान् का श्रीविग्रह अवतार काल में भी सच्चिदानन्दात्मक ही रहता है । महर्षि वाल्मीकिजी से अगस्त्यजी ने कहा है—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी । रहित विकार जान अधिकारी ।।

जन्मकर्म च मेदिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।।गीता४।९।।

ऐसा श्रीमुख से गीता में ही भगवान् ने कहा है, और वह चिन्मय दिव्य विग्रह नर लोक में भक्तों के लिये ही प्रगट होता है। अतः भक्तों को तो सदैव प्राप्त ही रहता है अतएव उसी दिव्यविग्रह दर्शन के लिये दिव्य दृष्टि की अपेक्षा नहीं रहती, वह तो भगवत्-प्राकटय काल से ही भक्तों को सुलभ हो जाता है, परन्तु उस विग्रह में निहित अनन्तानन्त परमैश्वर्य तो—

सो जानइ जिहि देहु जनाई ।

इसी से दिव्यैश्वर्य (ऐश्वरं योगम्) के देखने के लिये ही दिव्य-चक्षु प्रदान कर रहे हैं ।

(ख) श्रीयशोदा, कौशल्या और भुशुण्डि आदि को जो ऐश्वर्य (विराट्रूप) दिखाया था वह दूसरे ढंग का था । अर्थात् श्रीकौशल्याजी को जो रूप दिखाया था उसमें एक एक रोम में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड उदुम्बर फल के गुच्छे सरीखे लगे थे—

दिखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड ।
रोमरोम प्रति लागेऊ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।।

परन्तु अर्जुनजी को भगवान् ने अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड नहीं दिखाया था अपितु एक ही ब्रह्माण्ड दिखाया और उसमें भी सारे महाभारतके विध्नों को दिखा दिया था । ऐसा, श्रीकौशल्या, यशोदा एवं भुशुण्डिजी को सर्व संघारक युद्ध विप्लव नहीं दिखाया था—और श्रीयशोदा तथा भुशुण्डिजी को तो मुख के भीतर दिखाया था, बाहर नहीं । बाहर से तो बालरूप ही प्रथमवत् ज्यों का त्यों ही था परन्तु अर्जुनजीके सामने

तो उसी द्वारके चतुर्भुज श्रीविग्रह को ही विराट् रूप में परिणित कर दिया था, तभी तो अर्जुनजी को प्रार्थना करनी पड़ी कि—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।
(गीता० ११।४६)

श्रीकौशल्या, यशोदा, कार्कषिभुशुण्डि आदि को विराट् रूप प्रदर्शन में और अर्जुन के विश्व रूप प्रदर्शन में इसी तरह के और भी कितने ही प्रभेद होने के कारण भगवान् ने कहा था कि—

यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।गी० ११४।।

और यह कहना उपरोक्त तरह से विचारने पर रामायण, भागवत से किसी तरह असंगत नहीं कहा जा सकता ।

शंका—१५

'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात ।'
'ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी ।'

ब्रह्मज्ञान की प्राथमिक सीढ़ी (साधन) क्या है? मानस में इसका वर्णन क्यों नहीं किया गया ? (डा० के० कटारिया)

समाधान

अरुणपंकजकोश सुलोचनं तरुणभास्कर बिम्बमुखाम्बुजम् ।
पवनजं किल षोडशहायिनं नमत बानर राजमिहाद्भुतम्।।

उत्तरकांड में दोहा ११६ से ११९ तक चार दोहे में ब्रह्मज्ञान की प्राथमिक सीढ़ीसे लेकर अन्तिम शिखर तक का वर्णन 'ज्ञानदीपक' नाम से किया गया है।

सामान्यतः ब्रह्मज्ञान की प्राथमिका सीढ़ी है "साधनचतुष्टय" । उस साधन चतुष्टय का सोदाहरण पूर्वक पूर्ण परिचय तो अन्तेवासी ही

समझ सकता है। संक्षिप्त परिचय अधोलिखित है। ब्रह्मज्ञानके जिज्ञ सुओं के लिये प्रथम साधन है—"नित्यानित्यवस्तु विवेक।'

जीवईशौ विशुद्धाचित तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

(वेदान्त तत्वदीप)

अर्थात् जीव, ब्रह्म, त्रिपाद्विभूति (विशुद्ध अचित्), धर्मभूतज्ञान अविद्या (प्रकृति) और काल, ये छः नित्य वस्तु हैं। एतद् व्यतिरिक्त [मायिक प्रपंच–स्थूल जगत् एवं जागतिक नाम रूपादि] अनित्य वस्तु है इन सब का यथार्थ बोध॥ १॥

द्वितीय—इहामुत्रफलभोग विराग, अर्थात् एक पाद विभूत्यन्तर्गत अनन्त ब्रह्मांडों के समस्त भोगों से मन में घृणा अर्थात् मायिक समस्तसुखों के प्राप्त होने पर भी उनमें सर्वथा हेय दृष्टि का हो जाना॥ २॥

तृतीय—षट् सम्पत्ति का अर्जन। षट् सम्पत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१ शम=श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पंच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को जीत कर इन्हें शान्त बना देना।

२ दम=अन्तःकरण (मन) का दमन—वशीकरण।

३ उपरति=वाह्याभ्यन्तरेन्द्रिय विजयपूर्वक निष्काम भावेन स्वधर्मानुष्ठान।

४ तितीक्षा=शीतोष्ण, सुख दुःख, मानापमान, लाभालाभ, जपाजप आदिद्वन्दों का निर्विकार भाव से सहन करते रहना।

५ श्रद्धा=आचार्याप्त एवं वेदान्त वाक्यों में अटल विश्वास, और—

६ समाधान=एकाग्र रूप से चित्त का श्रीभगवच्चरणों में लग जाना॥ ३॥

चतुर्थ=मुमुक्षुत्व अर्थात् मायिक प्रपंचों से छूटकर शाश्वत भगवद्धाम प्राप्त करने की एकमात्र इच्छा॥ ४॥

यही साधन चतुष्टय ब्रह्मज्ञान की प्राथमिक सीढ़ी है। परन्तु इनकी सिद्धि पुस्तकों में पढ़ लेने मात्र से ही नहीं हो जाया करती है।

❁ शंका-१७ ❁

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुण्य होंहि नहिं पापा।

यह कैसी बात है कि मन से पुण्य की कल्पना करते ही पुण्य हो जाय और मन से पाप की कल्पना करने से पाप न हो ? यह बात तो न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक जँचती है, और न तर्क की ही कसौटी पर सही उतरती है। इस कथन का सही तथ्य क्या हो सकता है ? (पं० नर्मदा प्रसाद शुक्ल)

समाधान

फलप्रदो यो सुकृतस्य लोके तथा कुकृत्यस्य च पाकदाता।
विनाशकोत्पादकभूतसंघान् स रामचन्द्रः शरणं ममास्तु॥

इसका अर्थ यह नहीं कि मन में कल्पना किये नहीं कि पाप हो गया और मनमें कल्पना करते ही पुण्य हो गया। अपितु इसका अर्थ समाहित चित्त से समझना चाहिये कि मानसिक जगत की स्थिति बाह्य जगत से सर्वथा भिन्न हुआ ही करती है। सूक्ष्म उपकरणों का प्रभाव स्थूल (बाह्य) जगत पर सद्यः नहीं पड़ता यह सर्वथा सत्य है, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपकरणोंके प्रभावसे अन्तर्जगत प्रभावित होकर तत्तद्रङ्गों में रँग जाता है। उदाहरण में लालटेन के साफ शीशे को लेने में सुगमता होगी। जैसे देखा जाता है कि चिमनी के काँच पर बत्ती का धुआँ बहुत सूक्ष्म रूप से पड़ने के कारण शीघ्र नहीं ज्ञात होता, परन्तु वही सूक्ष्म धूम धीरे धीरे शीशे का भीतरी भाग अपने रंग में रँग लेता है, उसी तरह मन जिस भावना में आशक्त होता है धीरे धीरे आत्मा पर उसी भावना का प्रभाव अत्यन्त सबल रूपसे पड़ता जाता है और फिर उसका परिणाम भोगना पड़ता है। मानस पाप का परिणाम गीतोक्त प्रकार से समझने में सुगमता अधिक होगी। गीतोक्त प्रकार निम्न है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहत्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२।६३।

यह सार्वजनिक नियम सार्वयुगीन अथच सार्वकालिक है, कुछ द्वापरान्त के लिये ही नहीं था । अतः मानसिक पुण्यपापात्मक भावनाओं का उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट प्रभाव अन्तर्जगत पर पड़कर तत्तद्भावनानुकूल परिणाम आत्मा को भोगना ही पड़ता है । अतः मानसिक पुण्य और पाप दोनों का फल अवश्यमेव होता है । कथित पंक्ति का 'मानसिक पाप का फल नहीं होता ।' ऐसा अर्थ करके आध्यात्मवाद की खिल्ली उड़ाना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता । 'धर्मस्य सूक्ष्मागतिः ।' तो प्रसिद्ध ही है । सत्य त्रेता और द्वापर इन तीन युगों में धर्म (पुण्य) की व्यवस्था ऐसी थी कि 'यदि कोई व्यक्ति मन में किसी तरह का पुण्य करने का संकल्प करके, किसी भी कारण से यदि उस संकल्प को कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकता था तो उसको मानसिक संकल्प भंग का भी पाप लगता था । जैसे किसी ने मन में भावना संकल्प किया कि "यदि मेरे पास इतनी आर्थिक सामर्थ्य हो जाती कि मैं एक सौ गायों का सविधि दान कर सकूँ तो अवश्य सविधि सौ उत्तम गायें दान करुँगा ।" अब यदि जीवन में सौ गोदान करने की आर्थिक सामर्थ्य न हो सकी और वह व्यक्ति बिना सौ गोदान किये ही मर गया तो उसे मनः संकल्पित पुण्य-भंग का पाप लगता था (यद्यपि कि उसकी गणना उपपातक में ही की जाती थी ।) परन्तु कलियुग का ही पुनीत प्रताप है कि कलियुग के भोग्यकाल में ऐसी धाँधली नहीं चल सकती कि यदि मानस पुण्यात्मक संकल्प को किसी परिस्थितिवश कार्यान्वित न कर सके तो उसे किसी तरह का पाप लग जावे ।

परन्तु स्मरण रहे कि मानसिक पुण्य का संकल्प करके—पुण्य योग्य सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति उस स्वसंकल्पित पुण्य को नहीं करता तब उसे मिथ्या वादिता–प्रतिज्ञाभंगत्व का घोर पाप अवश्य लगता है। परन्तु असमर्थता वश मनः संकल्प के पूर्ण न करने से मानस पुण्य भंग जनित पाप नहीं लगता है। वह कलियुग का पुनीत प्रताप है।

शंका–१८

श्रीगोस्वामीजी ने अपने वक्तव्य में बताया है कि—

शम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ शिव काकभुशुण्डिहिं दीन्हा। राम भक्ति अधिकारी चीन्हा।

परन्तु पाने वाले काकभुशुण्डि के वक्तव्य को उन्हीं गोस्वामीजी ने वर्णन किया कि—

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस सब भाषा॥

यह मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त वाली बात कैसी ? भुशुण्डि ने मानस शिव से प्राप्त किया था अथवा लोमश से ? (पं० पुत्तीलाल शुक्ल)

समाधान

प्रभापारावारौ सुभगसुकुमारौ सुमधुरौ,
यथा योग्याकारौ सकलसुखसारौ सुरुचिरौ।
जितानन्तानङ्गौ नवरससरङ्गौ वशकरौ,
सदा सीतारामौ ममहृदिसबामौ विहरताम्॥

श्रीकाकभुशुण्डिजी से जिस समय महर्षि लोमशजी ने—

रामचरित मानस सब भाषा।

था। उसी समय उन्होंने यह भी कह दिया था कि—

रामचरित सर गुप्त सुहावा। शम्भु प्रसाद तात मैं पावा॥

जिसे सुनकर काकभुशुण्डिजी की स्वतः अभिलाषा हो उठी होगी कि जब मुनि महाराज ने इसे शिवजी से प्राप्त किया है तब तो अवश्य ही शिवजी के पास इससे भी विस्तृत एवं सुश्रृङ्खल श्रीरामचरित्रात्मक प्रबन्ध होगा । अतः शिवजी से भी प्राप्त करना चाहिये, और इसके लिये अवसर भी ढूँढ़ने लगे होंगे । 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ' के अनुसार कालान्तर में वह अवसर मिल भी गया, जबकि वे शिवजी के साथ रहकर विस्तृत श्रीराम चरित्र प्राप्त कर सके । अर्थात् श्रीराम-जन्मकाल से लेकर पूरे पाँच वर्ष तक नियमित रूप से भुशुण्डिजी का श्रीअवध में रहकर श्रीरामजी की बाल लीला का आनन्दामृत पान करते रहने का कई कल्पों से बराबर नियम रहा ही । अतः इस बार श्रीराम-जन्म की सूचना पाते ही भुशुण्डिजी तब अयोध्याजी पहुँचे तो उसी काल में शिवजी अपने विकट वेष पंचमुखी चोले को चतुरता से छिपाकर अपने ऐश्वर्य को भी अन्तर्निहित किये हुये मनुष्य के आवरण में श्रीअवध की गलियों में मस्त घूमते पाये गये। भला चातुर चूड़ामणि काकजी इस अमूल्य अवसर पर कब चूकने वाले थे । उन्होंने भी झटपट जितनी जल्दी लोमश के श्राप पर मनुष्य से काक हुये थे उससे भी जल्दी अपने काक-कंकाल को तिरोहित करके मनोहर मनुष्य बालक रूप धारणकर लिया और भगवान् शंकरजीके साथ हो लिये, जैसा कि श्रीशिवजी ने स्वयं स्वीकार किया है—

काकभुशुण्डि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ ॥
परमानन्द प्रेम सुख फूले। बीथिनि फिरहिं मगन मन भूले ॥

भुशुण्डिजी यों ही साथ नहीं हो गये थे कि साथ रहकर केवल तमाशा ही देखते फिरैं, किन्तु शिष्य बनकर साथ थे जैसाकि गोस्वामीजी ने ही गीतावली बालकांड के चौदहवें पद में लिखा है—

अवध आजु आगमी एक आयो ।
करतल निरखि कहत सब गुन गन बहुतनि परिचौ पायो ।

बूढ़ो महा प्रमाणिक ब्राह्मण शंकर नाम सुनायो।
संग शिशु शिष्य.............................. ।।

सर्वज्ञ शिवजीको यह समझना अवशिष्ट नहीं रह गया था कि इन भुशुण्डि के समान राम कथा के अधिकारी सर्वदा सर्वत्र सुलभ नहीं हैं, जैसा सुमति, सुशील शुचि, कथारसिक और हरिदास इन पंचगुणों से सम्पन्न श्रोता चाहिये वैसा अधिकारी चीन्ह कर शिवजी ने इस पाँच वर्ष के अवधवास काल में बहुत कुछ रामचरित्र भुशुण्डिजी को दिया।

भुशुण्डिजीने रामचरित्र की आदि परम्परा बताते समय गरुड़जी से अपना रामचरित्र प्राप्त करना श्रीशिवजीसे बतलाया क्योंकि विस्तृत रूप से तो उन्हें शिव द्वारा ही मिला था और लोमश द्वारा प्राप्त होने वाले रामचरित्र में भी तो शंकरजी ही कारणभूत थे। इसी से गोस्वामीजी ने—

सोइ शिव काकभुशुण्डिहिं दीन्हा। राम भक्त अधिकारी चीन्हा।।

लिखा और गरुड़जी ने प्रारम्भिक बात पूँछी थी कि—

रामचरित सर सुन्दर स्वामी। पायहु कहाँ कहहु नमामी।।

उसपर भुशुण्डिजी ने काक–देहारम्भ की अपनी लम्बी जीवनी बतलाते हुये कहा कि—

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस सब भाषा।

इसी 'रामचरित सर कहाँ पाये ?' के साथ ही तो यह प्रश्न भी था कि—

कारण कौन देह यह पाई ?

इसी से काकजी ने लोमश द्वारा रामचरित मानस का मिलना कहा। क्योंकि सर्वप्रथम काक देह और रामचरितमानस दोनों लोमश का ही दिया हुआ भुशुण्डिजीको प्राप्त हुआ था। अतएव गोस्वामीजी के और भुशुण्डिजी के कथन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। दोनों कांडों की चौपाइयों में सर्वथा निर्विरोधिता है।

शंका–१९

जिस बात को शिवजी ने ध्यान धरने के बाद जाना—

तब शंकर देख्यो धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना।

उसी बात को श्रीराम और लक्ष्मणजी अनायास ही जान गये—

लछिमन दीख उमाकृत वेषा। चकित हृदय भ्रम भयउ विशेषा।
सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सब दरशी सब अन्तर्यामी।

और—

उपजहिं जासु अंश ते नाना। शम्भु विरंचि विष्णु भगवाना।

आदि शतशः उद्धरण मानस से दिये जा सकतेहैं जिससे शिवजी का श्रीरामजी से न्यूनत्व सिद्ध है। तब—

'चरित सिन्धु गिरिजा रमन वेद न पावइ पार ॥'

और—

'चरित सिन्धु रघुनायक थाह कि पावइ कोई ॥'

दोनों को सर्वथा बराबर कैसे कहा ? (प्रेम, भागलपुर)

समाधान

यह शंका बहुत वर्षों सन् १९४० ई० से मेरे मन को मथन करते रही। मैंने तत्कालीन अयोध्या, काशी, प्रयाग एवं वृन्दावन के सुप्रसिद्ध रामायणियों से जिज्ञासा किया, परन्तु समाधान न हुआ। आपके पूछने पर पुनः चिन्ता जग गई। एक दिन भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा बुधवार स० २००७ वि० तदनुसार ता० १३।९।१९५० ई० को मणिपर्वत वर विश्राम बाग में अपने नवनिर्मित श्रीराम ग्रन्थागार में मध्याह्न विश्राम के समय स्वप्न में देखा कि कहीं एक प्रशस्त बट-वृक्ष के नीचे एक भव्य अकृति के वयोवृद्ध सन्त श्रीरामकथा कह रहे हैं उस कथा में कोई प्रसंग उठाकर उसी शका का विस्तृत समाधान किया। तुरन्त जगतेही स्वप्न का जितना अंशयाद पड़ा लिख लिया।

स्वप्न की सुनी कथा—

पादोऽस्य विश्वाभूतानि ।

(शु० य० ३१।३, ऋ० १०।९०।३, अथर्व० १९।६।७।

परब्रह्म की इस एक पाद (मायापाद) विभूतिमें अनन्त ब्रह्मांड हैं—

'रोम रोक प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ।'

'फिरत मोहिं ब्रह्माण्ड अनेका ।'

और प्रत्येक ब्रह्मांड में सात सात समुद्र हैं और प्रत्येक समुद्र अगाध-अथाह हैं उनमें एक समुद्र के समान शिवचरित्र को कहा गया है कि—

चरित सिन्धु गिरिजा रमन० ।

और श्रीरामजी तो—

कोटि सिन्धु शत शम गम्भीरो ।७।९२।३।

कोटि सिन्धु शोषक तवसायक ।५।५०।७।

होने से श्रीरामजी को अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त समुद्रके समान अथाह कहा गया है—

चरित सिन्धु रघुनायक थाहकि पावइ कोइ ।७।१२०।१

इसी स्वाप्निक कथा में यह भी सुना था कि शिवजी को तो—

तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना ।

मात्र तीन भुवन का गुरु कहा गया हैं, जबकि एक जगत ब्रह्मांड में चौदह भुवन है और श्रीरामजी को समस्त जगत ब्रह्मांड का गुरु कहा गया है—

जगद्गुरुं च शाश्वतम् ।३।३।९।

उसी स्वप्न-कथा में गज का विश्लेषण भी सुना था, कि—

गज = सामान्य हाथी । गजराज = जूथप, गजेन्द्र, महागज और सन्त-

शुण्डात्मक ऐन्द्रगज—ऐरावत । और भी कुछ सुना था, जागने पर तुरन्त लिखने लगा, परन्तु सब बातें स्मरण में नहीं आईं ।

शंका–२०

जे वरनाधम तेलि कुम्हारा । श्वपच किरात कोल कलवारा ।।

(क) क्या इस चौपाई में वर्णित छवों जातियों का श्वपचतुल्य एक ही स्थान है ?

(ख) क्या अधम और पामर का एक ही अर्थ है ?– 'श्वपच शवर खस यमन जड़ पामर कोल किरात' इनमें कलवार का वर्णन नहीं है । गोस्वामीजी तो पामर शब्द कर्मानुसार सभी जातियों पर लागू करते हैं— 'परद्रोही परदारुत परधन परअपवाद । ते नर पामर पापमय देह धरे मनुजाद ।' तो फिर यहाँ श्वपच किरातादि को ही पामर क्यों कहा? उक्त छः जातियों के अतिरिक्त क्या अन्य जातियों के लोग नारि मरनेपर संन्यासी नहीं होते? मेरी समझ से तो उक्त जातियों में विरले ही संन्यासी होते होंगे ।

(ग) सबको सीयराम मय जानकर प्रणाम करने वाले तु० दा० सरीखे सन्त किसी जाति के प्रपंच में पड़ नहीं सकते, तब क्या यह अन्य द्वेषियों की रचित पंक्ति नहीं हो सकती ?

(घ) ऐतिहासिक खोज से सिद्ध हो चुका है कि 'कलवार' जन्म से क्षत्रिय हैं तब उन्हें बरनाधम क्यों लिखा ?

(ङ) वेद में आये कीलाल शब्द से ही कलाल, कलवार, कलार आदि शब्दों का जन्म है । इसकी कहीं निन्दा नहीं की वई है वल्कि प्रशंसा ही की भरमार है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में यह मन्त्र है कि— 'कलयति, कल्यते वा तत् ज्ञानं कीलालम् । कीलयति, वध्नाति, खण्डयति, वध्यते वा तत् कीलालम् । प्रवन्ध. शत्रूच्छेदकं, वस्त्रं अन्नं वा ।।' (यजुर्वेद और अथर्ववेद) बेदों में इस मन्त्र के होते हुये और मद्य की कोई निन्दा न होते हुये भी स्मृतिकारों ने मद्य एवं उसके

विक्रेताओं की निन्दा क्यों की है? किसी चीज का बनाना और बेचना पाप नहीं बल्कि उसका उपभोग करना पाप है, और वैदिक काल में देवताओं को सुरापान अभीष्ट था। पुराणकाल में सिर्फ ब्राह्मणों के लिये मद्य निषिद्ध था, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लिये नहीं।

(च) वाल्मीकीय और महाभारतके शौंडिक, शौंडीयं, शौंडीरं आदि शब्द शौंडिक (कलवार) से बने हैं। जो चतुर युद्ध कुशल और विजयी के लिये आते हैं। यदि स्मृतियाँ मान्य और शुद्ध हैं तो उनमें क्यों भिन्नता पाई जाती हैं? क्या उनमें कुछ गलत और कुछ सही हैं?

(छ) वर्ण विबेक चन्द्रिका किस आधार पर बनी हैं! आप ऐसे विद्वान्से ऐसी आशा है कि इन शंकाओं का समुचित समाधान करेंगे।

(रामकृष्ण जायसवाल, नागौद)

समाधान

सुरादिसत्कर्मविधायकं हरिं नरादिवर्णाश्रमधर्मं धारकम्।
पुराणवेदोक्तक्रियानियामकं नमाम्योध्यापुरपालवालकम्॥

(क) 'कीलालाय सुराकारम्०।' (यजु० अ० ३० मंत्र ११)

इस मन्त्रमें सुराकार (मद्य-शराब बनाने वाले) को कीलाल कहा गया है। स्मृतिकारों ने इसकी व्याख्या इस तरह की है कि—

नृपाणां शूद्रसंसर्गाज्जातः पुल्कस उच्यते।
सुरावृत्ति समारुह्य मधुबिक्रयकर्मणा।
कृतकानां सुराणां च विक्रेतापालको भवेत्॥

(औशीनसी स्मृति श्लो० १७)

शूद्र से क्षत्राणी में उत्पन्न पुरुष पुल्कस (कलाल) कहाये वे मद्य बनाने एवं बेचने वाले हुये। वैदिक काल और पुराण काल के मध्य-काल में—तैलकार, कुम्भकार, श्वपाक (श्वपच) किरात, कोल और

कलार (शौंडिक–सुराकार) का समान स्थान था । श्वपचादि कुछ का नाम कह देने से ('नामैक देश ग्रहणे नामग्रहणं स्यात्' न्यायानुसार) तत् समकक्षिक चामर डोम आदि का भी ग्रहण हो जाता है ।

(ख) पामर और अधय शब्द सर्वथा पर्यायवाची (एकार्थक) नहीं हैं । कोषों में पामर शब्द का अर्थ—

'विवर्णः पामरः नीचः प्राकृतश्च पृथक् जनः ।' अमरकोष ।

जो प्रकृतत्वेन वाह्यान्तर नीच हो उसे पामर कहा जाता है । अर्थात् जिसका अन्तःकरण स्व पर–अहित दोष से दूषित हो और वाह्य कर्म भी निन्द्य दूसरों को हानि पहुँचाने वाला हो वह पामर है, तथा अधर्म शब्द का अर्थ—

'निकृष्ट प्रतिकृष्टार्वरेफयाप्यावमाधमाः ।'

'द्वावधमौ न्यूनकुत्सितौ ।' (अमरकोष)

अर्थात् अन्तःकरण चाहे जैसा हो पर जिसका बाह्याचरण निन्द्य स्वपर अहितकारक हो वह अधम है । अनेक शास्त्रों का चिन्तवन करके उनका निष्कर्ष निकालने से मेरी ऐसी धारणा बन गई है कि जैसे एक जन्मना ख्यात ब्राह्मण गर्हित कर्म करने से ज्ञाति एवं समाज से च्युत होकर हेय हो जाता है जैसा कि स्मार्त सिद्धान्त है । देखिये अत्रि-स्मृति २१वाँ श्लोक—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रोभवति ब्राह्मणःक्षीर विक्रयी ।

मांस, लाख और नमक बेचने से ब्राह्मण तत्काल पतित होजाता है और दूध बेचने से तीन दिन में शूद्र हो जाता है । पुनः अनेक प्रायश्चित करने से पुनः ब्राह्मणत्व प्राप्तकर सकता है । और—

असीजीवी मसीजीवी देवलो ग्रामयाचकः ।
धावकः पाचकश्चैव षडेते शूद्रवद्द्विजाः ।।अत्रिस्म०।।

आदि बहुत कहा है। जैसे असत्कर्म से पतन सत्कर्म से उत्थान ब्राह्मणों का है वैसे ही शूद्र अतिशूद्र आदि भी निःश्रेयसार्थ श्रेष्ठ कर्म करने से समाज में श्रेष्ठ एवं पूज्य स्थान ग्रहणकर सकते हैं। शठकोप सदना, कबीर रविदास, रैदास, चोखामेला आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं—

'चाण्डालोऽपि महीपाल पूजनीयो द्विजातिभिः।' हरितस्म०।

'न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवता स्मृताः।' बचनभू०।

श्रौत स्मार्त प्रमाणानुसार वर्ण चार ही हैं। पर प्रत्येक वर्णाभ्यंतर भेदोपभेद रूपेण अनेक जातियाँ हैं वे वर्ण एवं जातियाँ सृष्टिके आरम्भ में तात्कालीक व्यवस्थानुसार लोगों ने निर्माण किया था और प्रत्येक चतुर्युगी के कृतयुग और त्रेतान्त तक उनका पालन कड़ाई से होता रहता है—

वर्णाश्रम निज निज धर्म निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा ··· ··· ··· ··· ···॥

परन्तु द्वापरसे ढिलाई होते होते कलि के मध्य तक सर्वथा लुप्त हो जाता है—

'वर्णधर्म नहि आश्रम चारी।'
'भये वर्णशंकर कलिहिं भिन्न सेतु सब लोग।'

आज तो सभी हीन वर्ण वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय ही कहालना चाहते हैं परन्तु जब पूर्व मे ही निर्णीत–सर्वसम्मति से निर्णीत ब्राह्मण और क्षत्रियगण ही ब्राह्म और क्षात्र धर्म का पालन नहीं करते तो नवीन ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कब पालन कर सकते हैं। 'जे वर्णाश्रम-तेलि कुम्हारा······।' वाली पंक्ति उस समय की है जब लोग बचनों द्वारा नहीं अपितु कर्तव्यों कर्मों द्वारा अपने वर्ण, जाति का परिचय देते थे। मद्य बनाने एवं बेचने वालों को श्रुति–स्मृति दोनों में शौडिक,

कीलाल, कलार आदि कहा गया है । संभवतः कलार का ही कलवार हो गया हो । मेरी राय में आप जायसवाल लोग जब अपने को ऐतिहासिक क्षत्रिय जानते हैं तब आप सबको अपने लिये कलार या कलवार कहना ही नहीं चाहिये अपितु शास्त्रोक्त क्षत्रिय की तरह समय पर उपनयनादि संस्कार कर एवं समुचित रूप से शास्त्र तथा शस्त्र-शिक्षा के नियमका पालन अपने बालकों से करवाइये, तब भला कौन अधम पुरुष आप सबको शूद्र या अन्त्यज कह सकता है । आज हमारा ब्राह्मण समाज अत्यन्त पतनोन्मुख होते हुये भी समय पर न सही, किसी तरह उपनयन संस्कार करता तो है और विधवा खुलकर विवाह नहीं करता यद्यपि कि अत्यन्त गर्हित बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह कर डालता है [विधवा रखेली रख लेता है] ।

मैं विरक्त श्रीवैष्णव हूँ आपके शब्दों में विद्वान् भी हूँ अतः मेरा कर्तव्य किसीको दुःख पहुँचाने का नहीं है । मैं कभी किसी वर्ग विशेष के दुःख पहुँचाने की भावना से कुछ भी लिखता या बोलता नहीं, देशकालानुसार आपको सलाह दूँगा कि यदि आप क्षत्रिय वर्ण में हैं तो क्षत्रिय वर्णों की शास्त्रीय पद्धति अपनाकर उपनयन कराइये, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा विवाह और धरौआ प्रथा को बन्द कर दीजिये और यदि आर्यसमाजके नियमानुसार स्त्रियों के ग्यारह नियोग (विवाह) का आग्रह हो तो आर्य समाज के नियमानुसार ही जाति-पाँति के प्रपञ्च को भी छोड़ दीजिये । आर्य समाज में तो एक दिन में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि चारों वर्ण पुनः पुनः हो सकता है । जातिभेद तो श्रौत स्मार्त वैदिक सनातन धर्म में ही है। अस्तु, आप सब भक्ष्याभक्ष्य त्याग पूर्वक श्रौत स्मार्त धर्म के पालन करने की चेष्टा कीजिये तो आप सबके प्रयत्न बिना ही बड़े बड़े डिम्बूधारी आप सबको क्षत्रिय कहेंगे ।

(ग) लौकिक एवं पारलौकिक आध्यात्मिक भेद होता है । वर्ण-धर्म-जाति-पाँति का पचड़ा लौकिक धर्ममें है और अध्यात्म मार्गमें है कि-

सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी।।

अश्वालंभं गवालंभं संन्यासं पलपैत्र्यकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्जयेत्।।

इस कथित पाराशरीय धर्मशास्त्र के अनुसार तो कलि में किसी को शिखा सूत्र त्याग पूर्वक संन्यास लेकर भगवत्कर्म से परांमुख होना ही नहीं चाहिये।

मैंने पुनः पुनः यजुर्वेद और अथर्ववेद को देखा पर उसमें कहीं भी 'कलयति कल्पते वा तत्...... ।' यह मंत्र (जिसका हवाला–आपने दिया है) नहीं है न मालूम आपने कैसे लिख दिया कि वह मंत्र अथर्व और यजुर्वेद का है। वेदों में न होने से मैं इसपर कुछ सम्मति नहीं दे सकता। १—वेदों में मद्य, मद्यपायी और मद्यनिर्माता तथा विक्रेता को गर्हित कहा गया है। २—सोमवल्ली औषधि के पंचांग को अमुक अमुक प्रक्रिया से मथन करके निकाले हुये रस का नाम सुरा रखकर वेदों में उसी की महिमा गाई गयी है। गौड़ी, पैष्टी, द्राक्षी और माध्वीकी आदि मद्य की महिमा वेदों में कहीं नहीं गाई गयी है। ३—जैसे प्राणि वध का पाप मांस भक्षण से सर्वथा अधिक ही है कम नहीं, उसी तरह दूषित वस्तु के निर्माण एवं विक्रय का पाप उसके सेवन से अधिक है। मद्यपायी तो केवल अपना ही पतन करता है और मद्य निर्माता तथा विक्रेतागण तो अनेकों को पतन के गर्त में पतित करते हैं। ४—वेदकाल, सूत्रकाल, कल्पकाल, पुराणकाल, स्मृतिकाल और काव्यकालादि सभी कालों में सभी वर्णाश्रम वाले मनुष्यों के लिये मद्यपान उसी तरह निषिद्ध था जैसे—मिथ्याभाषण, चोरी और व्यभिचार आदि कुकर्म।

(च) सैंधव शब्द का अर्थ घोड़ा और नमक दोनों होते हुए भी कोई भी शब्द एक दूसरे से नहीं बने हैं, वैसे ही शौंड और शौंडीर आदि शब्द शौंडिक शब्द से नहीं बने हैं।

(घ) स्मृतियाँ सभी एक काल की नहीं हैं, दूसरे सभी महर्षियों ने अपनी अपनी राय लिखी है इसी से परस्पर भेद है, तीसरे आप देखते हैं कि जब लगभग चार सौ बर्ष के निर्मित मानसमें बहुत रद्दो-बदल काट–छाँट हो गई है। हजारों वर्षके निर्मित ग्रन्थ अपने असली रूप में मिलैं यह कब और भी कहाँ सम्भव है कि पक्षपातियों की कृपादृष्टि उन स्मृति पुराणादिकों पर न हुई हो। वेदोके अपने असली रूप में पाये जाने का कारण ब्राह्मणों–ब्रह्मचारियों का कण्ठस्थ रखना है फिरभी उनके मन्त्रोंका मनमानी ढग से अर्थ करके अपने नास्तिकता पूर्ण दिमाग का पिछलगू वेद मंत्रों को बनाया जाता है।

जो रूढ़ियों के दास नही हैं, सामयिक बुद्धि विचारसे काम लेते हैं उनकी दृष्टि में स्मृतियों का मूल्य नगण्य सा ही रहता है। स्मृतियों की रचना देशकाल और परिस्थिति देखकर ही होती रही।

'वर्णविवेक चन्द्रिका' के सम्बन्धमें तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु जाति भास्कर वर्ण विचार और सप्तखण्डी जाति निर्णय के सम्बन्ध में विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि इन ग्रन्थों का निर्माण ईर्ष्या–द्वेष के कारण हुआ है। सुनने में आया है कि जिस जाति की ओर से उन्हें काफी रुपया मिला उस जाति को उन लेखकों ने उत्तम वर्ण में लिख दिया और जिससे रुपया नहीं मिला अथवा किसी से वैयक्तिक द्वेष था उसे शूद्र या अन्त्यज लिख मारा–श्लोक बनाकर कल्पित ग्रंथों का नाम देकर लिख दिया। सम्भवतः यही हाल वर्णविवेक चन्द्रिका का भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

जब अपराधी ही न्याय–निर्णायक होता है तब भला न्याय की कौन आशा। यही दशा आज हमारे कुछ पतित ब्राह्मण बन्धुओं की है। ब्राह्मण कहानेवालों पतितों को यदि क्षत्रिय वैश्य आदि ही समाज च्युत करैं तभी उनका सुधार हो सकना सम्भव है अर्थात् अपने अधिकार वाला कर्मकांड तो स्वयं कर ही लेवे, और जिसके लिये ब्राह्मण ही आवश्यक है उनके लिये योग्य सदाचारी एवं विद्वान् ब्राह्मण को ही

वरण करें परम्पराजन्य पौरिहित्य की रूढ़िदासता में न फसें आज भी विद्वान् सदाचारी ब्राह्मणोंका सर्वथा अभाव नहीं है यद्यपि कि वे सर्वत्र सुलभ नही हैं। समय पर पूर्ण योग्यता वाले विद्वान् ब्राह्मण न मिलने पर उसे भी स्वयं यदि क्षमता हो तो करले पर अयोग्य, मूर्ख, पतित, दुराचारी, कदाचारी, किसी प्रकार की नशा सेवन करने वाले, मुकदमा लड़ने वाले आदि ब्राह्मण नामधारी पतित लोगों से न तो अपना कोई कर्म करायें न उन्हें किसीप्रकार का संकलिपत दान ही देवें तभी वे स्वयं तो क्या पर अपनी सन्तानों को सुधारने में सचेष्ट होंगे। अन्यथा जबतक क्षत्रियगण राजा–बाबू लोग वैश्य, सेठ साहूकार लोग, उन नामधारी पतितों–ब्राह्मण बन्धुओं को खिलाते रहेंगे, दान देते रहेंगे, तो वे क्यों अपना वैषयिक निन्द्य सुख त्यागकर योग्यता संपादन करेंगे। अस्तु, आज गोस्वामीजीके हाथ की लिखी कोई भी प्रति प्राप्य नहीं है, उनके समय की भी कोई प्रति प्राप्य नहीं है। तब कैसे कहा जाय कि अमुक–२ पंक्तियाँ बाद की मिलायी नहीं हैं। स्वतः प्रमाण तो एकमात्र बेद को ही अभियुक्तों ने माना है। मानस वेद नहीं है अतः उसमें भगवच्चरितातिरिक्त जो मानने योग्य हो उसे माने अन्यथा नहीं।

आचार्य श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी सत्कर्मनिष्ठ, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, बहुश्रुत एवं अनेक भाषाओं के साथ-साथ भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् तथा आर्य–सभ्यता के प्रबल पक्षपातीय थे, उन्होंने 'अशोक के फूल' नामक अपने निबन्ध संग्रह के 'प्रायश्चित् की घड़ी' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि—

'राजपूती सेना का वह अंग जो कलेवा की रक्षा करता था आगे चलकर कलवार के रूप में बदल गया। राजपूतोंके कलेवा में मादक द्रव्य भी होता था और आगे चलकर इसी मादकद्रव्य ने कलवार की सामाजिक मर्यादा घटा दी।'

इसी पुस्तक में आगे चलकर 'मेरी जन्मभूमि' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदीजी लिखते हैं कि—

प्राचीन "कल्यपाल" "कल्यवर्त" या 'कलेऊ की रक्षा करने वाले राजपूत सैनिक ही वर्तमान काल के कलवार हैं।'

बैसवाड़े में मैंने देखा कि बहुत से कलवार जो अपने को क्षत्रिय मानते और वर्मा लिखते हैं यज्ञोपवीत धारण करते हैं, पर वे मद्य–निर्माण और मद्य–विक्रय नहीं करते। यदि वे सदाचारी एवं मद्यादि से रहित हैं और क्षात्रधर्म या वैश्यधर्म का पालन करते हैं तो वे उसके अधिकारी हैं। परन्तु शराब तम्बाकू, बीड़ी, गाँजा आदि मद्य पीने या बेचने वाला और मांस खाने वाला जन्मना ब्राह्मण भी यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं है। स्मृति और पुराणानुसार गाँजा, भाँग, चर्स, अफीम, तम्बाकू, चोंगी, बीड़ी, सिगरेट, चुरुट, चण्डू, नास सुँघनी, हुलास, शराब, कोकीन आदि सभी मद्य हैं और तम्बाकू–सुरती तो सबसे निषिद्ध एवं भयंकर मद्य है। जन्मनाब्राह्मण होते हुयेभी कोई भी एक निष्पक्षपाती विद्वान व्यक्ति कभी भी कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में ब्राह्मण नामधारी मात्र का पक्षपात नहीं कर सकता, खासकर मानवता एवं धर्म को देखते हुये।

आप लोगों की जब इतनी लगन है तो आप लोगों को अपने जीवन में कर्ण की—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्॥

(वेणीसंहार नाटक ३।३५)

इस बात को उतार लेना चाहिये। फिर तो मुझसे या किसी से शंका–समाधान कराने की आवश्यकता ही न रह जायेगी।

शंका–२१

जबते जीव भयो संसारी।

जीव पहिले पहल संसार में कब आया ? जीव को किसने पैदा किया ? जीव कितने हैं और जीव का संसारीपन कैसे छूटेगा ?

(रामप्रतापदास श्रीवैष्णव)

समाधान

जीवानां हितचिन्तकं प्रतिपलं जीवान्प्रमोदप्रदं,
दुष्टान् वै भवभीतिभूरिकरणं शिष्टान् महाऽऽनन्ददम् ।
भक्तस्यैव वशे सदा सदयिता भक्तस्तु यस्यात्मभू-
स्तं रामं हि गुणार्णवं परतरं नित्यं भजे श्यामलम् ।।

ऐसी कोई बात नहीं—प्रमाण नहीं कि पहिले संसारमें कोई जीव नहीं थे । जीव अनादि-नित्य हैं, किसी ने जीव को पैदा नहीं किया । जीव अनन्त हैं, उनकी संख्या नहीं की जा सकती—

:ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।'

'जीव नित्य केहिलगि तुम रोवा ।'

'जीव अनेक एक श्रीकन्ता ।'

'………जीवभूतः सनातनः ।' —गीता १५।७

'इमे जीवा विमृतैराववृत्रन्० ।' —अथर्ववेद १२।२।२२

'इमे जीवेभ्यः परिधिं दधामि०।' —अ०वे० १२।२।२३

'जीवानामापः प्रतिर० ।' —ऋ०वे० १२।२।४५

'सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वं अकल्पयत् ।'

(ऋ०वे० १०।१९०।१)

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।।

(अ० वे० १०।८।२५)

'न तं विदाथ य इमा जजान युष्माकमन्यदन्तरा वभूव ।'

(यजुर्वेदीय काठ सहिता स्थानक १८ मन्त्र ६)

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीःप्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोग्यामजोऽन्यः॥

(श्वे० ४।५)

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते ॥

(श्वे० ५।०)

एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यो करोति ।

(श्वे० ६।१२)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधातिकामान्

(श्वे० ६।१३)

एवं योनिगतो जीवः स नित्यः निरहंकृतः ।
एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्मः ··· ··· ··· ··· ॥

(भाग० ६।१६।९)

अनादिकाल से जीव कर्म बन्धन में पड़े हैं, इससे जीवों के बार बार जन्म-मरण होते ही रहते हैं—

विधि प्रपंच अस अचल अनादी ।

श्रुतियों का उद्घोष है कि—

वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥

(शु० य० वे० ३१।१८)

यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ।

(अ० वे० ४।३५।६)

अणोरणीयान् महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

(कठो० १।२।२०)

तात्पर्य कि जीव जबतक भगवच्छरण नहीं होते तबतक उनका कर्मान्तर प्रक्षीण नहीं होता, और इसी से संसृति प्रवाह चलता ही रहता है। श्रीभगवच्छरण व्यतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग मोक्ष प्राप्ति के लिये समीचीन नहीं है।

शंका—२२

कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरन्तर मोहीं।

भगवान्का यह वरदान जब भृशुण्डिजीने सुना दिया था। तब—

तुम्हहि न व्यापत काल अति कराल कारन कवन।

गरुड़जी ने ऐसा क्यों पूँछा— (ठा० जगमोहन सिंह कसहरी)

समाधान

लोमश से मुनि सेकरि वाद पै, वेद विरुद्ध अद्वैत न माने।
काक की श्राप कड़ी धरि शीश, भुशुण्डि मुनींहि सुमारग आने॥
राम चरित्र औ मन्त्र सुध्यान, सबै वरदान लह्यो सुखसानें।
जीति 'कुमार' कुमार अजांनित राम जपैं धरि कालहिं भाने॥

काल के मोटे तौर से दो अर्थ होते हैं—शरीर पात (मृत्यु) और प्रकृति का प्रभाव जरा व्याधि आदि शरीरिक विकृति एवं प्राकृतिक रजस्तमादि गुणों का धर्म अर्थात् अविद्या जन्य काम, क्रोध, मोह, भ्रम आदि। अतः दोनों में किस काल के लिये श्रीरामजी का वरदान है, यह विचारणीय है।

आपके कथन के पूर्व—पर के अनुशीलन मनन से ज्ञात होता है कि श्रीरामजी ने कहा कि—'यदि निरन्तर मेरा सुमिरण भजन करते नहीं रहोगे तो तुम्हें माया सम्भव भ्रम व्यापते रहेंगे और जिस किसी

को माया सम्भव भ्रम व्याप जाते हैं वह अपने अज्ञान के कारण—

ते शठ हठ वश संशय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥

मुझ—दशरथनन्दन राम को मायोपहित, माया शबलित, अशुद्ध, कार्यब्रह्म, सादि एक देशीय रजः तमादि लिप्त आदि अथवा (मुझ) ब्रह्म को मात्र निर्गुण निराकार आदि ही मानने मनवाने लगता है। अतएव निरन्तर मेरा सुमिरण भजन करते रहने से काल, कालकृत अर्थात् माया सभव सब भ्रम न व्यापेंगे। अतः सम्भवतः गरुड़जी ने यही समझा होगा कि जैसे श्रीरामजी के राज्यकाल में था कि—

राम राज नभगेश सुनु सचराचर जग माहि।
काल कर्म स्वभाव गुण कृत दुख काहुहि नाहि॥ २१॥

वैसे ही होने का वरदान श्रीरामजी ने श्रीभुशुण्डिजी को दिया होगा। इसी से अति कराल काल-मृत्यु के लिये पूछा कि—

नाथ सुना मैं अस शिव पाहीं। महा प्रलयहु नाश तव नाहीं॥
मुधा बचन नहि ईश्वर कहई। सो मोरे मन संशय अहई॥
अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥
अड कटाह अमित लय कारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥

तुमहिं न व्यापत काल अति कराल कारण कवन।
मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभावकि जोग बल॥

जब काकर्षि ने गरुड़जी को श्रीरामजीसे अपने वरदान पाने की बात बताई वह काक शरीरमें ही, इसीसे पक्षीपति से प्रश्न किया कि—

प्रभु अपने अविवेक ते बूझउँ स्वामी तोहि।
कृपा सिन्धु सादर कहहु जानि दास निज मोहि॥ ९३॥

तुम सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा। सुमति सुशील सरल अचारा॥
ज्ञान विरति विज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम प्रिय दासा॥
कारण कौन देह यह पाई। तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥

यही श्रीपार्वतीजी ने भी पूछा था कि—

राम परायण ज्ञान रत, गुणागार मति धीर ।
नाथ कहहु किहि कारण, पायहु काक शरीर ।।

और इस प्रश्न परम्परा के अन्त में ज्ञानि शिरोमणि श्रीगरुड़जी ने जो तुरीय प्रश्न किया था, वह स्वानुभवजन्य अभूतपूर्व विचित्र बात के सम्बन्ध में था कि—

प्रभु तब आश्रम आयउँ, मोर मोह भ्रम भाग ।
कारण कवन सो कहहु सब, नाथ सहित अनुराग ।।

जो शंका लंका से नाग पाश काटकर अपने स्थान रमा वैकुण्ड जाते ही हो गई—

बन्धन काटि गयउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचण्ड विषादा ।।

अर्थात् मोह भ्रम जन्य विषाद पैदा हो गया था । रमावैकुण्ड एवं क्षीर सागर आदि जो जो लोक इस एक पाद त्रिभूतिमें है उनमें मोह भ्रम, विषाद क्रोधादिक भी कभी हो जाते हैं । जैसे सनकादिक को क्रोध हुआ जय विजय को असुर योनि में पतित होने का श्राप दिया रमा बैकुण्ठ में ही नारदजी ने रमा को श्राप दिया रमा बैकुण्ठ में अद्‌भुत रामायण स्कन्दपुराण भृगु और लक्ष्मी ने एक दूसरे को क्षीर समुद्र में ही भृगु ने श्रीहरि की छाती में लात मारा था क्षीर सागर में ही और—

'नारद कहेउ सहित अभिमाना ।' 'चले हृदय अहमित अधिकाई ।'

क्षीर सागर में ही (रामचरितमानस, शिवपुराण) आदि आदि और मैं=गरुड़ तो नारद, ब्रह्मा और शिव सबके पास गया परन्तु मेरा महा मोह कहीं भी नष्ट नहीं हुआ और शिवजी ने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

मोह गये बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ।

आश्चर्य महदाश्चर्य कि अभी आपके आश्रम पर पहुँचा भी नहीं था दूर से ही—

देखि शैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ।।

और यहाँ आते ही इस आश्रम में प्रवेश करते ही—

देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संशय नाना भ्रम ।।

अतः यद्यपि कि—

प्रभु तव आश्रम आयउँ मोर मोह भ्रम भाग।

परन्तु अब नई जिज्ञासा हो गई कि आखिर ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि दूर से आश्रम देखतेही मेरे शोक, मोह, माया और भ्रम आदि का महाप्रलय हो गया ? शिवजी ने कहा था कि—

नित हरि कथा होइ तहँ भाई।

पर नित्य तो श्रीहरि कथा वही कह सकता है जिसकी वागादि इन्द्रियों पर काल का प्रभाव न पड़े और आपने बताया कि श्रीरामजी ने जीवन तक—

कबहूँ काल न व्यापइ तोहीं।

कह कर वरदान दिया। अब बताइये कि आपके अजरामरत्वके प्राप्त होने का और आपके इस आश्रम के दर्शन मात्र से माया, मोह भ्रम आदि प्रवल विकारों के नाश हो जाने का कारण क्या है ?

उक्त प्रश्नों के उत्तर में ही श्रीकाकर्षि भुशुण्डिजी ने उत्तरकांड के दोहा ९५ से ११३ तक १९ दोहे की कथा कहकर मुनि के आशीर्वाद को ही सबका कारण बतलाया कि—

काम रूप इच्छा मरण०।

जिहि आश्रम तुम निवसबि सुमिरत श्रीभगवन्त।

व्यापिहि तहँ न अविद्या योजन एक प्रयन्त ।। ११३ ।।

काल कर्म गुण दोष प्रभाऊ। कृत दुख तुमहि न व्यापिहि काऊ ।।

मेरी समझ से तो इस तरह विचारने पर संभवित शंका का समाधान हो जाता है। हो सकता है कि इस शंका का दूसरा भी

अथवा दूसरा ही समाधान हो, परन्तु पूर्व पर के विचार करनेपर मुझे जैसा समझ पड़ा मैंने लिखा। अतः यही समाधान मानने के लिए मेरा दुराग्रह नहीं है।

शंका–२३

१—नारि विबस नर सकल गोसाईं। ७।९८।१

२—सब नर काम लोभ रत क्रोधी। ९८।३

३—परत्रिय लम्पट कपट सयाने। ९९।१

४—विप्र निरक्षर लोलुप कामी। ९९।८

५—कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥ (१०१।५)

एक ही प्रकरण में काम की बात पांच बार क्यों कही गई ?

(ठा० जगमोहन सिंह कसहरी बाराबंकी)

समाधान

श्रीभुशुण्डि शुचि पद कमल, वन्दहु बारहिं बार।
काल अजा अद्वैत सब, कीन्हें विजय 'कुमार'॥

साहित्य मनीषियों ने कामदेव के पाँच पुष्पवाण कहे हैं—

अरविन्दशोकं च चूतं च नव मल्लिका।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचवाणस्य सायकाः।

और यथार्थ में अतनु असमशर पुष्प इक्षु के धन्वी के पाँच वाण किंवा पंचवाण—प्रहार के पंच विषम परिणाम निम्नोक्त हैं—

उन्मादनस्तापनश्चैव शोषणः स्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पंच वाणा प्रकीर्तिताः॥

ये पाँचो शर–प्रहार एक समान ही दुखदाई हैं और कामबली के इन वाण–प्रहार के साधन में एकमात्र नारी ही नियत है।

यहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥

पंच परिवा अविद्याके व्याप्ति एवं विस्तार प्रस्तार तथा प्राबल्य का एकमात्र कारण नारी है। यह बात बालकांड में वर्णित नारद-मोह के प्रसंग में विस्तार से समझाई गई है और उसका परिशिष्ट आरण्यकांड का अन्तिम अंश है। ये ही कारण एक ही प्रसंग में पाँच बार काम की बात कहने के हैं। एक बात और भी है कि—'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध' इन पाँचों विषयों की काम क्षेत्र में अपने अपने स्थान पर तत्तदिन्द्रियों श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण इन पाँचों आश्रय के समान रूप से प्रबलता रहती है और ये प्रत्येक विषय साधक की अति दीर्घकालीन समस्त साधनाओं एवं तज्जनित अभिलषित शुभ परिणामों को नष्टकर अकेले ही मनुष्य को अन्धतम में पतित करने में परम समर्थ हैं। कहा भी है कि—

पतंगमातंगकुरंगभृङ्गमीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

इसी से एक प्रकरण में—एक ही सिलसिले में पाँच बार काम की प्रबलता का वर्णन किया गया है।

स्मरण रखना चाहिये कि पुरुष भुशुण्डिजी पुरुष गरुड़जी से कह रहे थे इसीसे काम प्राबल्य में बार बार नारी नारी ही कहा, अन्यथा जैसे पुरुष साधक के लिये काम चैतन्य करके नारी बाधक है ऐसे ही स्त्री साधिका के लिये पुरुष भी प्रबल बाधक है। जैसे—

महि मानत कोउ अनुजा तनुजा।

ठीक उसी तरह ही—

भ्राता पिता पुत्र उर गारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रवि मणि दव रविहिं विलोकी॥

अतः जिस तरह साधक पुरुष के लिये स्त्रियों में अनेक अवगुण दिखाकर नारी को भयंकर नागिनी एवं राक्षसी आदि कहा है उसी

तरह साधिका नारियों को भी चाहिये कि पुरुष मात्र को अवगुण मूल शूल प्रद सब दुःख खानि भयंकर महा विषधर नाग एवं विकट हिंसक राक्षस ही समझती रहा करें उनकी छाया से भी दूर रहने की चेष्टा करती रहें।

शंका—२४

श्रीरामचरितमानसमें कई जगह भक्ति को स्वतन्त्र कहा गया है।

१—(क) जाते वेगि द्रवौ मैं भाई। सो मम भक्ति भक्त सुखदाई।
सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना। तेहि अधीन ज्ञान विज्ञाना।

(ख) भक्ति स्वतन्त्र सकल गुणखानी।

२—कई जगह भक्ति का प्राप्ति स्थान सत्संग सन्त कृपा कहा गया है—

(क) भक्ति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो सन्त होंइ अनुकूला।
(ख) सो मम भक्ति भक्त सुखदाई। सन्त कृपा काहू एक पाई।
(ग) बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

इस दोहे में हरिपद अनुराग (भक्ति) का एकमात्र साधन सत्संग ही कहा गया है।

३—कई जगह कर्म से भक्ति की प्राप्ति कही गई है—

(क) जप जोग धर्म समूह ते नर भक्ति अनुपम पावई।
(ख) भक्ति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्र चरण अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति नीती।
तेहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मन धर्म उपज अनुरागा।

४—शंकर भजन बिना नर भक्ति न पावै मोरि।

इस दोहे में स्पष्ट कहा गया है कि शंकर भजन बिना भगवद्-भक्ति किसी तरह मिल ही नहीं सकती।

५—यह सम्वाद जासु उर आवा। रघुपति चरण भक्ति सोइ पावा।

लंका से लौटने पर श्रीराम-हनुमत्सम्वाद के हृदयंगम मात्र से भक्ति मिलती है।

६—भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीयराम पद प्रेम अवशि होइ भवरस विरति॥

यहां भरत चरित्र के श्रवण मात्र से सीयाराम पद प्रेम भक्ति की प्राप्ति निश्चित रूप से कही गई है।

७—रावनारि यश पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भक्ति दृढ़ पावहिं बिनु विराग जप जोग॥

८—सुनहिं विमुक्त विरत रत विषयी। लहहिं भक्ति गति सम्पति निसई।

यहां राजगद्दी का चरित्र सुनने मात्र से भगवद्भक्ति प्राप्ति का साधन कहा है।

ऐसे ही और भी कई जगह कई तरह के भक्ति के साधन कहे गये हैं। इनमें कौन साधन ठीक है और ठीक है तो क्यों तथा जो ठीक नहीं हैं वे क्यों और यदि सब ठीक है तो सबकी परस्पर एक वाक्यता (निर्विरोधिता) कैसे होगी ?

समाधान

तडित्समूह ज्योति हृत्सुवर्ण कान्ति मन्दयन्,
सुचम्पपुष्पदर्पहृत्सुमञ्जुकञ्जमालिके।
शिवादिविष्णुब्रह्मसेव्य ध्येय ज्ञेय विग्रहे,
प्रसीद रामवल्लभे प्रदेहि पादपल्लवम्।

श्रीकाकभुशुण्डिजी ने कहा है कि—

भक्ति हीन सब सुख गुण कैसे। लवण विना बहु व्यञ्जन जैसे॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भक्ति विहाई॥

अर्थात् मोक्ष—आत्यन्तिक सुख भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन भगवद्भक्ति है। वह भक्ति अनेक प्रकार की है—

भक्तियोगो बहु विधैर्मार्गैर्भामिनिभाव्यते ॥भाग० ३।२९।७

और भिन्न-२ ग्रन्थों में भक्ति प्राप्ति के अनेक साधन भी कहे गये हैं, किन्तु किसी साधन के लिये जोर देकर यह नहीं कहा गया है कि एकमात्र यही ही भक्ति प्राप्ति का साधन है अन्य दूसरा कोई भी नहीं। श्रीरामचरितमानस में भक्ति के जो अनेक साधन कहे गये हैं उनमें रहस्य है। उस रहस्य को इस तरह समझना चाहिये कि-जिस तरहसे चाशनी में पागी जानेवाली मिठाई (खासकर रसगुल्ला, गुलाब-जामुन आदि) में पागने के पूर्व मीठा न होने से उसमें रस का बूँद भी नहीं रहता और जब वह चाशनी में पागकर निकाली जाती है तब उसमें से हरदम रस टपकता रहता है क्योंकि वह रस से बाह्या-भ्यन्तर परिपूर्ण तरोवर रहती है। इसी तरह जिनका नवीन साधन होता है उनमें—अश्रु, पुलक और स्वरगाद्गद्य आदि नहीं होता और जो बड़भागी जन उस आनन्दघन को प्राप्त करके भी भक्ति के तथा कथित साधनों में लगे रहते हैं उनका स्वर हरदम गद्गद रहता है, शरीर कण्टकित रहता है और अश्रु तो एक क्षण के लिये भी रुकती ही नहीं। अर्थात् जो साधक भक्त है उन्हें भक्ति के अष्ट सात्विक भाव कदाचित् कभी आंशिक रूप में प्राप्त हो जाते हैं और जो सिद्ध भक्त हैं उनमें एकाधिक सात्विक भाव हरदम बने ही रहते हैं। उन सिद्ध भक्तोंकी दो श्रेणी है—एक तो वह जो कि साधन करके सिद्धा-भक्ति प्राप्त करते हैं उस भक्ति की संज्ञा, क्रिया साध्याभक्ति है और शंका में उद्धृत २ से ८ तक की भक्ति किसी न किसी साधन से प्राप्त होती है, और एक वह भक्ति जो केवल भगवत्कृपा मात्र से बिना कुछ साधन किये ही प्राप्त हो जाती है उसको कृपासाध्याभक्ति कहते हैं। उसी के लिये ही—

'सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना।' 'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुणखानी।'

कहा गया है। कृपासाध्याभक्ति प्राप्त करने वालों में कइयों का नाम मानस में है। जैसे अहल्या—

धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपति कृपा भक्ति पाई ।

केवटराज गुह का नौकर, केवट—

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय नहि कछु केवट लेइ ।
बिदा कीन्ह करुणायतन भक्ति विमल वर देइ ॥

आदि—अतः सभी साधन ठीक हैं । हाँ इतनी बात अवश्य है कि सभी साधन सबको नहीं करने हैं अपितु शंका में उद्धृत दो से आठ तक के सात साधनों में से कोई एक ही हो जाय तो सिद्धा-भक्ति प्राप्त हो जाती है, और नं० एक वाली तो—

रामकृपा काहू एक पाई ।

अतः किसी में भी परस्पर विरोधिता नहीं है ।

शंका—२५

आज 'यूनीवर्सिटी' के अध्यापक कहते हैं कि—आर्य विदेश से भारत में आये हैं । अर्थात् आर्य लोगों का मूल स्थान 'मध्य एशिया' 'साइवेरिया' 'काकेशिया' 'उत्तरी ध्रुव' 'आस्ट्रेलिया का विस्तृत मैदान' 'दक्षिणी रूस' 'ईरान एटलांटिक सागरके किनारे' और कहीं योरुप से आदि आदि योरूपीयों ने बतलाया है । सत्य क्या है ?

(श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी एम०ए० प्रयाग)

समाधान

भो प्रभु देश स्वतन्त्र पै, हिय गुरण्ड परतन्त्र ।
करि दाया विज्ञन करहु हिय मष्तिकहिं स्वतन्त्र ॥

'आर्य लोग विदेश. (भारतेतर देश) से भारतमें आये हैं । ऐसा सिद्ध करने का कारण योरूपीयों की एक कुटिल नीति है । इसका स्पष्टीकरण—

'ईसवी पन्द्रहसौ १५०० के सितम्बर में बारहसौ १२०० सिपा-हियों के साथ पेड्रोकेवल नामी यूरोपियन ने कालिकट में तत्कालीन

शासक जामोरिन की आज्ञा से कोठी बनाया, परन्तु जो अपने देश में विदेशियोंको नहीं रहने देना चाहते थे इसलिये वहाँके मुसलमानोंने वह कोठी उड़ा दी । तब केब्रल ने मुसलमानों के दस जहाज लूटकर जला दिया । आदि ।

उदयपुर से प्रकाशित विस्तृत इतिहास 'वीर विनोद' के पृष्ठ ७७ से देखिये । तभी से यूरोपियनों ने एक राजनैनिक षडयन्त्र या प्रोपेगण्डा करना शुरू कर दिया कि 'जैसे मुसलमान लोग भारत के नहीं अपितु बाहर से आये हैं, वैसे ही ब्राह्मण क्षत्रियादि भी बाहर से ही आये हैं, भारत के मूल निवासी ये भी नहीं है । अतः जितना अधिकार ब्राह्मणादि आर्यों का भारतमें स्वतन्त्रता पूर्वक रहने का है उतना ही मुसलमानोंका और उतना ही अधिकार यूरोपियन लोगों का भी है ।

इसी बात को तथ्य बनाने के लिये यूरोपियनों ने भारतीय इतिहास को भ्रष्ट करना और आर्य बाहरसे आये हैं लिखना शुरू किया । सन् पन्द्रहसौ तीन १५०३ ई० के पहले और यूरोपियनोंके पहले किसी ने कहीं भी आर्यों को भारतेतर देशों से आकर भारत में बसना नहीं माना है ओर न पर्वतीय एवं वनीय जातियों भीलों, कोलों, संथालों आदि को आदिबासी कहा है । आज जिस तरह कांग्रेस भाग्य विधाताओं ने नया शब्द हरिजन' पंचम वर्ण अछूत वर्ग के लिये प्रचारित प्रसारित किया है उसी तरह कुछ दशक पूर्व आदिबासी शब्द बना है'।

जो भारतीय विद्वान् भी अंग्रेजों के मानसिक गुलाम हो गये थे और आज भी हैं, वे भी उन्हीं अपने अंग्रेज गुरुओं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि भारत में आर्य बाहर से आये यहाँ के आदिवासी तो कोल भील आदि जंगली जातियाँ ही है । और आज भी भारत की यूनिवर्सिटियों एवं कालेजों आदि में नौसौ निन्यानवे ९९९ प्रति सहस्र प्राध्यापक अध्यक्ष, प्रिंसिपल, प्रोफेसर आदि यूरोपियनों के मानसिक गुलाम हैं और आज भी लोअर प्राइमरी स्कूलों से लेकर यूनिवर्सिटियों तक में विदेशियों की मानसिक गुलामी की ही शिक्षा दी

जाती है। लार्डमेकाले की इच्छानुसार भारती यूनिवर्सिटियों के विद्वानों का शरीरमात्र ही भारतीय है परन्तु मस्तिष्क और हृदय दिल व दिमाग यूरोपियनों का क्रीतदास है और उनमें जो यूरोप भ्रमण कर आते हैं वे तो और भी नीम चढ़ी कटु तूमर बन जाते हैं। इसी से वे ऊल-जलूल बकते रहते हैं।

यूरोपियनों की लिखी इण्डियन हिस्टरीज आदि पुस्तकें तथा उन्हीं की लिखी वेद की टीकाओं के शत-प्रतिशत आधार पर ही आज के थीसिस शोध प्रबन्ध लिखकर पी० एच० डी०, डी० लिट आदि बनने वाले❁ अनेक डाक्टरों का ज्ञान सीमित है, बहुतों को न तो स्वयं का दिमाग है और न वेद-वेदांग पढ़कर दिमाग ठीक करने की योग्यता और समय ही।❁ इनके लिये तो मुलर बुलर वेबर और फेजर ही व्यास और वाल्मीकि हैं और भारतीय बेद वेत्ता यास्क याज्ञवल्क्य, सायण उब्बट, महीधर, नीलकण्ठ आदि तो सर्वथा मूर्ख ही थे इन यूनिवर्सिटी के पढ़ने पढ़ाने वालों के सामने। यूरोपियनों की कुटिल नीति के कारण पाकिस्तान बना, ईसाईस्तान की तैयारी हो रही है। भाषाओं एवं प्रादेशिक बोलियों के आधार पर विभिन्न राज्य प्रान्त बनने की मांग एवं तज्जन्य आन्दोलनों की धूम है। ये भिन्न भिन्न राज्य एवं जिला माँगने वाले कुछदशक पूर्व कहाँ किस वर्फ समुद्रमें दबे थे पता नहीं जो अब गर्मी पाकर चैतन्यवत् हो गये हैं।

आज प्रश्न किया जा सकता है कि हूणों, शकों एवं मुसलमानों को तो भारत में रहने दिया गया था, पर भारतीयों ने अंग्रेज शासकों को स्वदेश से बाहर क्यों कर दिया? इसके समाधान में सूत्र रूप से इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि बाहर से आकर शासन करने वाले हूणों शकों आदि ने भारत विजय करके जब भारत में शासन

❁ ग्रन्थ शास्त्र सिद्धान्त में मिहनत करौ न कोय।
❁ पी०एच०डी०, डी० लिट अबै लेख चुराये होय॥

करना शुरू कर दिया तो वे यहीं भारत के ही बन गये, यहाँ की सम्पत्ति अपने आदि देश में नहीं ले गये। कुतुबुद्दीन ऐबक तेरहवीं शताब्दी से इष्ट इण्डिया कम्पनी का शासन शुरू होने के पूर्व तक किसी भी मुसलमान शासक ने भारत की सम्पत्ति अपने आदि देश अफगानिस्तान, तुरकिस्तान आदि में ले जाने की दुश्चेष्टा नही की थी और महमूद गजनवी, गौरी, तैमूरलिंग, चंगेज खाँ, नादिरशाह आदि लुटेरे थे, भारत के शासक नहीं थे।

एक बात अवश्य थी कि शक, हूणादिक बाहर बाहर से आकर भी कुछ काल में यहाँ भारतीयों में दूध में पानी सरीखे घुलमिल गये; परन्तु मुसलमान लोग अपनी कट्टर साम्प्रदायिकता के कारण पानी के ऊपर तैल की तरह तैरते ही रह गये थे। यद्यपि कि जलालुद्दीन अकबर ने अपने ढंग से एकता के लिये कोशिश शुरू करदी थी परन्तु औरंगजेबी अत्याचार नें उस एकता की कोशिश को ही नहीं अपितु सातसौ वर्ष की सुदृढ़ यवन शासन की सुदृढ़ भीति को भी जर्जर कर दिया और औरंगजेब के बाद तो विलासिता के साथ साथ अत्याचार ने बढ़कर सुदृढ़ मुगल साम्राज्य को नष्ट भ्रष्ट ही कर दिया।

यदि अग्रेज लोग भारत की सम्पत्तिको कण कण बीनकर समुद्र पार ले जाने की भारत को खोखला करने की दुश्चेष्टा न करते और भारतियों के साथ रंग भेद की दुर्नीति बनाकर दुर्व्यवहार न करके अच्छा व्यवहार करते तो शायद उन्हें भारत छोड़ने के लिये बाध्य न किया जाता। अस्तु—

वास्तव में हमारे पूर्वज भारतीय ब्रह्मणादि आर्य कहीं भारतेतर देश से नहीं आये थे अपितु यहीं के विद्वान् बाहर सारे संसारमें जाकर सबको सदाचार सभ्यता सिखाते थे। मनुजी कहते हैं कि—

एतद्देशप्रसूतस्य शकादाग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ॥२।२७

पं० श्यामाकांतजी का समाधान पत्रिका में छपने के पश्चात् छः वर्ष बाद कल्याण वर्ष ३५ अंक आठ पृष्ठ ११२८ से ११३३ तक में श्रीनीरजाकांत चौधरी देव शर्मा का अत्यन्त गवेषणा पूर्ण एक लेख निकला जिसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं………

वैदिक जाति भारतीय हैं बाहर से नहीं आई है।

आधुनिक पाश्चात्य मत के अनुसार भारतके इतिहास का प्रारम्भ निर्दिष्ट रूप से अनुमानत' ३३० ई० पूर्व अर्थात् दिग्विजयी सिकन्दर के भारत आक्रमण से होता है। इसके पूर्व का जो कुछ ज्ञान है उसे वास्तविक इहिहास का नाम नहीं दिया जाता।

(मेगास्थनीज का कथन)

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति सैल्यूकस ने पश्चिम एशिया में साम्राज्य स्थापित किया। उनके राजदूत मेगास्थनीज लग-भग ३०४ ई० पूर्व मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त की राजसभा में कुछ दिनों तक रहा था। उसने एक यात्रा वृत्तांत में लिखा है।

इसमें एक स्थान पर मेगास्थनीज ने लिखा है कि समस्त भारत एक विराट देश है और उसमें बहुत से विभिन्न जाति के लोग बसते हैं। उनमें एक भी आदमी मूलतः विदेशी बंशोत्पन्न नहीं है। स्पष्ट जान पड़ता है कि सभी भारत के आदिम अधिवासियों के वशधर है। इसके अतिरिक्त भारत में कभी विदेशियों का कोई उपनिवेश स्थापित नहीं हुआ और न भारत ने कभी विदेश में जाकर उपनिवेश स्था-पित किया।

आधुनिक पाश्चात्य ऐतिहासिक तथा पुरातत्व वेत्ताओं के मत से अनुमानतः २५००ई०पूर्व तक आर्य जाति दलों में उत्तरपश्चिमी सीमांत के रास्ते भारत में प्रविष्ट हुई और उसने इस देशके आदिम निवासी द्रविड़ और कील भील आदि जातियों को पराजित करके क्रमशः उप-निवेश स्थापन किया। यह आर्य हिन्दू–पारसी–कार्कशीय–ग्रीक और

अन्यान्य यूरोपीय जातियों के पूर्वज थे। भारत के बाहर किसी स्थान में जिनकी प्राचीन निवास भूमि थी।

यह यदि सचमुच सत्यहै तो आर्यो का भारतमें वह कथित अभियान मेगास्थनीज के भारत में आने के प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु मेगास्थनीज ने जोर देकर कहा है कि भारत के एक भी आदमी के पूर्व पुरुष बाहर से नहीं आये तथा भारतमें विदेशी जाति का उपनिवेश भी कभी स्थापित नहीं हुआ।

मेगास्थनीज एक उच्च पदस्थ-निरपेक्ष अभिज्ञ और बुद्धिमान पुरुष थे उनकी बात उड़ा देने योग्य नहीं हो सकती। उनके लेख के अन्यान्य अंशों को देखने से जान पड़ता है कि वे भारत में कुछ दिन रहे थे। उनके विवरण की बहुतेरी बातें विश्वास करने योग्य हैं उनका वर्णन पक्षपात शून्य है तथा सत्य माना जा सकता है। उससे अनेक विषयों का विशुद्ध प्रमाण मिलता है।

'आर्य बाहर से नहीं आये' पुस्तक में—

वैदिक आर्य जाति यदि सचमुच २५००-१५०० ई० पूर्व के बीच बाहरसे भारतमें आई होती तो अन्ततः लोग मुहाँ मुहीं इसका प्रचार करते। १०००-१२०० वर्षो में ही उस बात को भूल जाने का कोई कारण नहीं दीखता।

एक सौ वर्ष पहिले एल्फिस्टन ने अपने भारत के इतिहास में मेगास्थनीज की इस विवृत्ति को उद्धृत करके लिखा है कि भारतीय हिन्दुओं के पूर्व पुरुष कभी अपने आधुनिक निवास स्थान के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में थे ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। वेद मनुस्मृति या मनु के पूर्व किसी भी ग्रन्थमें हिन्दूजाति की पूर्व निवास भूमि का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

जिस समय एल्फिस्टन ने यह लिखा था, उस समय तक भारत में =आर्य=अभियान की कहानी नहीं गढ़ी गई थी। मैक्समूलर आदि की गवेषणा प्रारम्भ होने में देर थी।

डा० कीथ वेद और भारत के ऐतिह्य के विषय में एक सुविख्यात गवेषक माने जाते हैं। उन्होंने इस विषय में जो विचार प्रगट किए हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं कि इस विषय के जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे कोई सिद्धांत निकालने में अत्यन्त प्रमाण अपेक्षित है। परन्तु यह निश्चय है कि वैदिक भारतीय किस प्रकार भारत में प्रविष्ट हुए यह निर्धारित करने में ऋग्वेद से कोई सहायता नहीं मिलती। हो सकता है कि आर्य अभियात्री दल हिन्दू कुशके दर्रे से भारत में प्रविष्ट हुए हों। और पंजाब होकर पूर्व दिशा में बढ़े हों। परन्तु यदि सचमुच ऐसी बात हुई हो तो भी अभियान की ऋग्वेद में कोई छाया भी नहीं है।

अधिकांश उत्साही पाश्चात्य गवेषकों ने कभी भारत में पदार्पण तक नही किया और कोष की सहायता से वेदों को पढ़ा। उनमें से किसी-किसी ने वेद में अभियात्री आर्यो के साथ भारत के आदिम निवासी अनार्य जाति के युद्ध का इतिहास खोज निकाला है यहां तक कि प्रसिद्ध आचमन मंत्र: तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः दिववी चक्षुराततम् जिसे भारत को कोटि कोटि द्विज सन्तान सहस्त्रों वर्षों से प्रति दिन अनेक बार आवृति करने पर भी कोई ऐतिहासिक तथ्य कभी नहीं पा सकी थी, अथवा श्राद्ध के मंत्रः इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् से भी किसी-किसी गवेषक ने आर्य जाति के आदि निवास उनके नेता के नाम धाम यहां तक कि भारत में आने के मार्ग में कई स्थानों पर ठहरनें का संकेत बहुत प्रयत्न पूर्वक निश्चित करके अपने अविष्कार द्वारा भारत संतान को अंधकार से प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। (वस्तुतः प्रकाश से अन्धकार में धकेलते हैं।)

इनको तथा इनकी रचना के आधार पर जो लोग अनायास ही दरबगाह वैदिक साहित्य के विषय में मन्तव्य युक्त लेख लिखते हैं उनको धुरंधर समालोचक डा० कीथ के कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यह निश्चित है कि वेद में वैदिक शास्त्र में या विराट संस्कृत साहित्य में कहीं भी बाहरसे: आर्य: या अन्य जाति के आगमन या आदि: आर्य स्थान: का कोई संकेत मात्र भी नहीं है।

प्रस्तर प्रमाण हड़प्पा और मोहनजोदड़ो सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद राखालदास वन्दोपाध्याय के प्रयत्न से कई दशक पूर्व जो महत्वपूर्ण अनुसंधान हुआ है उसके फलस्वरूप, सिन्धु देश में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में अति प्राचीन सभ्यता का पता लगा है। पुरातत्ववेत्ता समझते हैं कि ए सब खंडहर कम से कम ३००० ई० पूर्व की अपेक्षा भी प्राचीन तर सभ्यता के प्रतीक हैं।

ऐतिहासिक और पुरातत्ववेत्ताओं ने यह सिद्धांत निश्चित बना रखा था कि भारत में प्रथम: आर्य. अभियान २५००० ई० पूर्व के पहिले नहीं हुवा था। परन्तु इस अनुसंधान के फलस्वरूप में एक उल्टी बात सामने आ गई। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खोज को यदि: आर्य-सभ्यता का चिन्ह माना जाय तो इस अभियान के निश्चित सन् सम्वत् गलत ठहरते हैं और वह अभियान की कहानी भी कमजोर हो जाती है। क्योंकि पाश्चात्य मत के अनुसार २५०० ई० पूर्व के पहिले भारत के अधिकारी असभ्य कोल भीलादि थे।

सम्भवत: इसी कारण इस सभ्यता को सिंधु उपत्यका की सभ्यता नाम देकर पृथक करने की चेष्टा की गई है। यह आर्य सभ्यता नहीं है आर्य अभियान के पूर्वकालीन किसी अनार्य परन्तु सुसभ्य जाति के साथ इसको जोड़ने की चेष्टा की गई है। गर्डन चाइल्ड का मत है कि यह आर्य नहीं परंतु भारत की किसी प्राक् आर्य जाति से सम्बन्धित है। किन्तु हड़प्पा मोहनजोदड़ो से तीन सौ मील दूर है। फिर आगे चलकर सुदूर पश्चिम विलोचिस्तान में भी कुछ स्थानों में अनुरूप ध्वंसावशेष पाये गये हैं। अतएव इस सभ्यता को सिन्धु उपत्यका की सभ्यता नाम देना कहां तक ठीक है कहा नहीं जा सकता।

इसके सिवा मध्य भारतमें भी महेश्वर(प्राचीन रमाहिष्मती) तथा भारतके अन्यान्य स्थानोंमें भी सुप्राचीन ध्वंसावशेष का क्रमशः आविष्कार हो रहा है और होगा जान पड़ता है कि इन सब स्थानों की सभ्यता को—आर्य = (वैदिक) सभ्यता से प्रथक रूप में दिखाने के लिये भविष्य में = नर्मदा उपत्यका की सभ्यता = गांगेय सभ्यता = आदि नाम देने की आवश्यकता पड़ेगी ।

शंका—२७

'शतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरैं'

वे शतपंच चौपाइयाँ कौन कौन सी हैं । —प्रेम

समाधान

मधुर मधुर गीतं राम चरितामृतं यो,
ब्रत परम पुनीतं यस्य विमला सुकीर्तिः ।
जयति तुलसिदासः काव्यकुसुमाकरस्य,
हरियशरसरसिकः कोकिलः मत्तभृङ्गः ॥

श्रीरामचरितमानस के अन्त में दिये हुये ग्रन्थ फल श्रुति वाले छन्द के शतपंच चौपाई मनोहर० । वाक्यांश को लेकर लोगों ने बहुत दिनों से उसे विवाद का एक विषय बना डाला है । एक तो लोग तत्-कालीन कवि प्रथा पर विचार किये बिना ही तत्कालिक चौपाई को अर्द्धाली कहने और दो पंक्तिको चौपाई मानने लगे । पिंगलशास्त्रके अनुसार पद्य मात्र छन्द एवं कवित्त है, परन्तु श्रीगोस्वामीजी ने मानस में पद्य मात्र को कवित्त तो माना है, परन्तु मानसांकित चौपाई दोहा और सोरठा के अतिरिक्त पद्यों का नाम छन्द दिया है । उन्हीं की विवेचना देखिये—

पुरइनि सघन चारु चौपाई। छन्द सोरठा सुन्दर दोहा ।

तत्कालीन अन्य कवियों ने भी ऐसा ही माना है। इसी तरह आज के स्वयंभू पैंगलिक-बन्धु जिसे अर्द्धाली कहने लगे हैं इसीको तब चौपाई माना जाता था। कुछ उदाहरण ये हैं—

श्रीगोस्वामीजीके मानस महाकाव्य की रचनासे कई वर्ष पूर्व सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत की रचना बैसवाड़ी-पश्चिमी अवधी में की थी, पद्मावत के अतिरिक्त जायसी के अखरावट और आखरी कलाम नाम के दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हैं। तीनों ग्रन्थों की पद्य प्रस्थापन शैली एक है अर्थात् तीनों में सात-सात चौपाई के बाद एक-एक दोहा है।

हिन्दी ससार के सर्वश्रेष्ठ समालोचक स्वर्गीय आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल ने स्वसम्पादित जायसी ग्रन्थावली प्रथम संस्करण की भूमिका के पृष्ठ पाँच पंक्ति इक्कीस में लिखा है कि जायसी ने सात-सात चौपाई के बाद एक दोहा लिखा है, समालोचकाचार्य शुक्लजी के मत से भी उस एक पंक्ति मात्रको ही सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दीमें चौपाई माना जाता था, जिसे आज पिंगल ज्ञान शून्य स्वयम्भू लोग अर्द्धाली कहने लगे हैं। परमसिद्ध ग्रन्थ श्रीहनुमान चालीसा में तो चालीस ही चौपाई हैं। अर्द्धाली शब्द गढ़ने वालों के मत से यह चालीसा नहीं बीसा होना चाहिये।

विक्रमीय सम्वत् १८२७ में श्रीब्रजवासीदासजी ने 'ब्रजविलास' लिखा है। वे भी एक पंक्ति को ही चौपाई मानते हुये प्रतिज्ञा करते हैं कि—

द्वादश चौपाई प्रति दोहा। तहँ पुनि एक सोरठा सोहा॥
कहूँ कहूँ शुभ छन्द सुहाई॥

इसी नियम से सम्पूर्ण ग्रन्थमें बारह पंक्तियों के बाद दोहा तथा सोरठा रखा है और अन्तिम गणना भी इसी नियम से (एक पंक्ति को चौपाई मानकर) ही की गई है। विक्रमीय सम्वत् १८५४ में राम-

सनेहीघाट (बाराबंकी जिला) निवासी श्रीअग्रदासजी के द्वारा में दीक्षित श्रीदेवदासजीके शिष्य गृहस्थसन्त श्रीरघुनाथदासजी रामसनेही ने विश्राम लिखा है. उसको चौपाई संख्या भी दी है ।

प्रथमायन परमान गनाई । उनइस सौ सत्तर चौपाई ।।
द्वितीया अयन कहौं समुझाई । पन्द्रह सौ पचास चौपाई ।।
अयन तीसरे सख्या गाई । युग सहस्र नव सौ है भाई ।।
और सतहत्तर जानौ सोई । इतनी है चौपाई जोई ।।

यह संख्या उसकी है जिसे कि आजकल के बुद्धि विधाता लोग अर्द्धाली कहते हैं, परन्तु तत्कालीत कवियों ने उसे चौपाई ही लिखा है । इसी तरह और भी कितने ही प्रमाण दिये ज़ा सकते हैं, अस्तु— जब गोस्वामी से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी सत्कवियों को आजकल की भाषा में कही जाने वाली अर्द्धाली (पक्ति) को ही चौपाई कहते पाते हैं तो गोस्वामीजी की मानस में दो चौपाई को मिलाकर एक चौपाई मानने का मूर्खतापूर्ण अनर्गल प्रलाप क्यों किया जाता है । उस प्राचीन परम्पराके अनुसार सम्पूर्ण मानसमें लगभग दसहजारसे अधिक चौपाइयां है, परन्तु कुछ लोगों ने 'सत पंच' का मनमाना अर्थ करने के लिये दो दो चौपाइयों को एक मानकर और कुछ त्रोटक आदि छन्दों को लेकर इक्कावन सौ चौपाई मान लिया है और एक मानसानभिज्ञ पंडित मानी ने उत्तरकांड की पौने बारह सौ चौपाइयों को पाँच सौ चौपाई मान कर केवल उत्तरकांड मात्र की गणना 'सत पंच' चौपाई से मान लिया है ।

प्रायः आजकल लोग गोस्वामीजी की अंक लिखने की शैली पर विचार किये बिना ही गोस्वामीजीको एक ही शैली में जकड़ रहे हैं । पर मानस देखने से पता लगता है कि श्रीगोस्वामीजी की अंक लिखने की कोई एक ही शैली नहीं थी किसी एक ही शैली को मान लेने से महान अनर्थ हो जाना अनिवार्य होगा । मानस में कहीं साथ के दोनों अंकों के जोड़ देने का नियम रखा गया है, जैसे—

वर्ष चारि दस बास बन करि पितु बचन प्रमान ।

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा । पुर न जाउँ दस चारि बरीसा ।

आदि । यहाँ ४+१०=१४, १०-।-४=१४ से ही तात्पर्य है। कहीं साथ के दोनों अंकों को परस्पर गुणा कर देने का नियम रखा है। जैसे—

'सुख समेत सम्बत दुइ साता ।' 'वर्ष सहसदश त्यागेउ सोऊ'

आदि । यहाँ २×७=१४ ॥ सहस १०००×१०=दस हजार से ही तात्पर्य है । और कहीं दो अंक साथ बोले जाने वाले लौकिक मुहाविरे का नियम रखा है । जैसे—

'कहहिं परस्पर मिलि दस पाँचा ।' 'साथ किराह छ सातक दीन्हें ।'

आदि । यहाँ दश या पाँच अर्थात् दश या पांच ही नहीं अपितु कहीं दश कहीं पाँच कहीं कम कहीं अधिक आदि, यही भाव छः सातक में भी हैं, परन्तु 'अंकानां वामतो गतिः' को तो गोस्वामीजीने कहीं रखा ही नहीं । यदि सर्वत्र एक ही नियम मान लिया जाय तो अर्थ के शुचि सिंहासन पर अनर्थ के आसीन हो जाने में कोई अड़-चन ही नहीं रह जायगी । जैसे यदि समीपस्थ सभी अंकों का एक में जोड़ देनेका नियम मान लिया जाय तो नं० २ कही हुई संख्याओं का जोड़ १०००-।-१०=१०१० और ७-।-२=९ होगा और नं० ३ में कही हुई संख्याओं का जोड़ १०-।-५=१५ और ६-।-७=१३ होगा । यदि सर्वत्र सब को गुणा करने का नियम रखा जायगा तो नं० एक में उद्धृत संख्या का गुणनफल होगा । १०×४=४० और नं० ३ में उद्धृत संख्या का गुणनफल होगा १०×५=५० और ६×७=४२ और यदि सर्वत्र सबको बोलचाल का मुहाविरा ही मान लिया जाय तो क्रमशः दश या चार का और सहस या दश दो या सात होगा और 'अंकानां वामतो गतिः' मान लेनेमे तो नं० एक का १०४ तथा ४१० होगा, नं० दो का ७२ और नं० तीन का ५१० तथा ७६ होगा। यही हाल सतपंच का समझिये । अतः कोई भी विचारमान व्यक्ति मानस

में सर्वत्र संख्याओं के लिखने की एक ही शैली नहीं मानी जा सकती। लोक में पाँच सात या सात पाँच के मुहावरे के बोलने की प्रथा आज भी है।

सात पाँच की लाकरी, एक जने का बोझ।

और श्रीगोस्वामीजी ने सात के अर्थ में 'सत' शब्द का प्रयोग किया है। देखिये—

सो समय देखि सुहावनो, नव 'सत' सँवारि सँवारि।
गुन रूप योवन सीवं सुन्दरि, चलीं झुंडनि झारि॥

(गीतावली उ० १८)

एक अद्वैतवादी वेदान्ती बन्धु ने तो छन्द में 'दारुण अविधा' शब्द द्वय देखकर क्लिष्ट कल्पना करते हुये ज्ञान परक चौपाइयों का संकलन करके उन्हीं को 'सत पंच चौपाई' मनवाने का अनर्गल प्रयास किया है, परन्तु उन्हें उसी पंक्ति में 'श्रीरघुपति हरैं'। इतना बड़ा प्रधान वाक्य दिखलाई नहीं पड़ा और 'ज्ञान मान विमत्तः' अर्थात् ज्ञानाभिमानी अद्वैती बन्धुगण तो 'श्रीरघुपति' द्वारा दारुण अविद्या पंच जनित विकार' का नाश न मानकर अपने ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश मानते हैं। यथा—

जनहिं मोर बल निज बल ताही।

अतः स्वतः सिद्ध है कि ज्ञान परक चौपाइयाँ जिज्ञासित सत पंच चौपाई नहीं हो सकती। एकाध अहम्मन्य नये विद्वान् का कथन है कि 'सब काण्डों की फलश्रुति तत्तत् काण्डों के अन्त में साथ साथ ही है। अतः 'सत पंच चौपाई मनोहर०' आदि छन्द केवल उत्तरकणड मात्र की फलश्रुति है। एतदर्थ सत पंच से उत्तरकांड का पाँच सौ चौपाइयों का ही महत्व कहा गया है, सम्पूर्ण ग्रन्थ को किंवा किसी खास चौपाई को लक्ष्य करके नहीं परन्तु जहाँ फलश्रुति दो बार है,

वहाँ क्या कहा जायगा ? अतः काण्डों के अन्त में ही फलश्रुति नहीं है अपितु खास खास प्रकरणों की भी फलश्रुति तत्तत् स्थानों पर है। जैसे—

यह उमा शम्भु विवाह जे नर नारि सुनहिं जे गावहीं।
कल्यान काज विवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं॥
सिय रघुवीर विवाह जे सप्रेम गावहि सुनहिं।
तिन कँह सदा उछाह मंगलायतन राम जस॥

अयोध्याकांड के आधे में भी श्रीरामचरित है और आधे में श्रीभरतचरित्र की ही फलश्रुति कही गई है, श्रीरामचरित की नहीं।

भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहि
सीयराम पद प्रेम अवशि होइ भव रस बिरति॥

अरण्यकांडमें रावणसे बैर हुआ अतः काण्डान्तमें कहा गया कि—

रावणारि जश पावन, गावहि सुनहि जे लोग।
राम भक्ति दृढ़ पावहि, बिनु बिराग जप जोग॥

अरण्यकांड में श्रीरामभद्रजी द्वारा—

कामिन की दीनता दिखाईं।

का वर्णन है और अन्त में श्रीनारदजी ने युक्ति से उसी की ही चर्चा से अपना वार्तालाप आरम्भ किया था, इसलिये फलश्रुति के बाद शिक्षा दी गई कि—

दीप शिखा सम युवती तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहु राम तजि काम मद, करहु सदा सत संग॥

ज[illegible] कटे आदि अंगों का ठीक करना औषधि का काम है। किष्किन्[illegible] के अन्त में श्रीराम यश के सम्बन्ध से सम्पाति के जले

पंखोंकी पुनः नवीन रूपसे ठीक हो जानेका वर्णन है । अतः किष्किन्धा काण्ड का फलश्रुति औषधि रूप से कही गई है—

भव भेषज रघुनाथ जश सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिनकर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिशिरारि ।।

सुन्दरकाण्ड के अन्त में समुद्र शासन कहकर उसी का निर्देश करते हुये अन्तिम छन्द में कहा है कि—

निज भवन गवनेउ सिंधु, श्रीरघुपतिहिं यह मत भायऊ।
यह चरित 'कलिमल हर',यथा मति दास तुलसी गायऊ।।

संसार त्रसित जीवों के लिये एकमात्र श्रीभगवच्चरण ही निस्तरणोपाय है । सुन्दरकाण्ड में श्रीविभीषण शरणागति द्वारा श्रीहरि के उस महान गुण का दिग्दर्शन हुआ है, जो समस्त जीवोंके लिये परमावश्यक है । इसी कारण अन्त में—

सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुणगान ।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव,सिन्धु बिना जल जान ।।

सुन्दरकाण्ड के आरम्भ से तैंतीस दोहे तक श्रीहनुमच्चरित्र का वर्णन है जिसकी फलश्रुति वहीं कही गई है कि—

यह सम्वाद जासु उर आवा । रघुपति चरन भक्ति सो पावा ।।

लंकाकाण्ड में श्रीराम विजय की ही वार्ता है, उसमें विभिन्न बात नहीं है । सेतुबन्धादिक समस्त काण्ड एक ही प्रकरणके अवान्तर हैं इसी से फलश्रुति में विजय की चर्चा है—

समर विजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान ।
विजय विवेक विभूति नित, तिनहिं देहिं भगवान ।।

सेतुबन्ध में नाम का महत्व कहा गया है, इसीसे कहा है कि—

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं ।

और अन्त में कहा गया है कि—

श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार ।

उत्तरकाण्ड में श्रीराम राज्याभिषेक की फलश्रुति है कि—

महाराज कर शुभ अभिषेका । सुनत लहहिं नर विरति विवेका ॥
जे सकाम नर सुनहि जे गावहि । सुख सम्पत्ति नानाविधि पावहि ॥
सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं । अन्तकाल रघुपति पुर जाहीं ॥
सुनहि विमुक्त बिरत अरु विषयी । लहहि भक्ति गति सम्पति नितयी ॥

बालकाण्ड दोहा १२०—

सुनु शुभ कथा भवानि, रामचरित मानस विमल ।

से लेकर उत्तरकाण्ड दोहा इक्यावन तक भगवान् शंकरने श्रीरामचरित्र का वर्णन किया है । उन्होंने अपने वर्णित श्रीरामचरित्र की फलश्रुति बतलाया कि—

विमल कथा हरि पद दायिनी । भक्ति होई सुनि अनपायिनी ॥

इसके बाद श्रीभुशुण्डि चरित्र का वर्णन किया गया है उसमें श्रीराम चरित्र की ही प्रधानता है। उसमें भी सातों काण्डों की कथायें सूत्र रूप में वर्णित हैं । अतः पूरे चरित्र की ही फलश्रुति पुनः कही गई है कि—

मन कामना सिद्धि नर पावा । जो यह कथा कपट तजि गावा ॥
कहहि सुनहि अनुमोदन करहीं । ते गोपद इव भव निधि तरहीं ॥

मानस के दूसरे वक्ता श्रीभुशुण्डिजी हैं उनका वक्तव्य भक्ति प्रधान है, शरणागति ही मुख्य लक्ष्य है । इसलिये फलश्रुति के रूप में अन्त में कहते हैं कि—

शरन गये मोसे अघराशी । होहि शुद्ध नमामि अविनाशी ॥

तीसरे वक्ता श्रीयाज्ञवल्क्यजी हैं वे अन्त में फलश्रुति के रूप में कहते हैं कि—

भव भंजन गंजन सन्देहा । जन रंजन सज्जन प्रिय एहा ॥

चौथे वक्ता भाषारूपान्तरकार श्रीगोस्वामीजी हैं वे समग्र ग्रन्थमें स्वरचित ग्रन्थ भाषा रामचरित मानस की फलश्रुति को लिखते हैं कि—

रघुबंश भूषन चरित यह नर नारि सुनहिं जे गावहीं ।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ।।
सत पंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरैं ।
दारुण अविद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुपति हरैं ।।

जिस तरह बालकाण्ड के आरम्भ में सातों काण्डों के लिये—

नाना पुराण निगमागम सम्मतम् ।

कहा गया है उसी तरह उत्तरकाण्ड के अन्त में भी सातों काण्डों के लिये ही—

यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना ।

आदि कहा गया है । तब यह मानना तथा मनवाना कि एक काण्ड का सम्बन्ध दूसरे काण्ड से नहीं है, कितना उचित है । इसे मानस प्रेमी ही विचार करेंगे । अतः पूर्वापर के विचार से तो यही सिद्ध होता है कि यह 'सत पंच चौपाई' वाक्य किसी काण्ड या समग्र ग्रन्थ का संख्या निर्देशक नहीं है । जब किसी काण्ड का संख्या निर्देश नहीं है तब उत्तरकाण्ड मात्र की संख्या निर्देश का क्या कारण है ? और फिर चौपाई की ही सख्या का निर्देश क्यों ? श्लोक, छन्द, दोहा, सोरठा आदि की संख्या का निर्देश क्यों नहीं किया गया ? क्या चौपाई ही मनोहर है, दोहे, सोरठे, छन्द, श्लोक मनोहर नहीं हैं ? आदि अनेकों प्रश्न उठ खड़े हो सकते हैं । अतः उत्तर काण्ड के अन्त में दी गई फलश्रुति केवल उत्तरकाण्ड मात्र की ही नहीं है अपितु समग्र ग्रन्थ की फलश्रुति है और 'सत पंच चौपाई' वाक्यांश ग्रन्थ संख्या निर्देशक नहीं है । प्रत्युत मुहाविरे वाला लौकिक वाक्य सात या पांच या इस संख्या के निकटतम संख्या के कम वेश के अर्थ में भी हो सकता है । चौपाई मानस कथित सभी छन्दों में छोटा एवं

उच्चारण में सौष्ठवता लिये है। इस बात को लक्ष्यमें रखकर चौपाई के लिये कहा गया हो सकता है।

मानस में जहाँ कुछ उपदेश हैं वहाँ एक दोहे से दूसरे दोहे तक कम से कम पाँच या सात चौपाइयाँ हैं इसलिये 'सत पंच चौपाई' ठीक कहा गया है। यदि 'सत पंच दोहा', 'सत पंच छन्द' अथवा 'सत पंच सोरठा' आदि कहा जाता तो बड़े बड़े प्रकरण तक मामला चला जाता। 'सत पंच चौपाई' की सौलभ्यता भला कहीं 'सत पंच छन्द' सोरठे और दोहे आदि में आ सकती है। दूसरी बात यह भी है कि किसी भी आध्यात्मिक उपदेश का रूपक सहित एक पूर्णांश सात चौपाई से अधिक नहीं और पाँच चौपाई से कम नहीं है। उदाहरण के लिये मानस का कोई भी उपदेश प्रसंग देखा जा सकता है। किसी उपदेशांश किंवा पूरे उपदेश को उर में धारण करने का अर्थ होता है उस उपदेश के अनुसार अपना जीवन बना लेना उस पर अमल करना, और किसी भी आध्यात्मिक उपदेश पर अमल करने से ही दारुण अविद्या का नाश होकर परम्परया ज्ञान और ज्ञान से अमला अचला अथच अनपायिनी पराभक्ति की प्राप्ति होने से कैवल्यमोक्ष एवं संतत सान्निध्यता या सायुज्यता प्राप्त होती है। इन सबसे उत्तम अथचयुक्ति युक्ततर्कपूर्ण निम्न व्याख्या होगी। सिद्धांत तिलक के अनुसार।

किसी एक तथ्यको लेकर जब दो विपक्षियों में विवाद उठ खड़ा होता है तब उसके निर्णय के लिये पंचायत बैठती थी, जिसमें दो-दो पंच दोनों प्रतिपक्षियों के पक्षके और एक सरपंच दोनों से मान्य होता था, उस पंचायत का निर्णय सर्वमान्य होता था। जीव का शाश्वत कल्याण, सर्व दुःख हानि कैसे होगी? यह था वाद का विषय। असत्-पक्ष (मायानुयायीगण······) का कहना था कि जीव तो मायाके साथ रहकर ही सुखी हो सकता है, और सत् पक्ष (ज्ञान भक्ति अनुयायीगण) का कहना था कि जीव को शाश्वत आनन्द की प्राप्ति एवं

आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तभी हो सकता है जब वह माया का सर्वथा त्यागकर देगा । विवाद बढ़ जाने पर दोनों पक्षों ने मिलकर पंचायत बिठाई जिसमें असत्पक्षीय मायाके असत्पक्षीय पंचों में (प्रवृत्ति मार्गीय) थे शिव और अज ।

सत्पक्षीय भक्ति के सत् पंच में (निवृत्ति मार्गीय पंच) शुक और सनकादि थे ।

दोनों पक्षों के मनोनीत सरपंच देवर्षि नारदजी थे ।

शिव अज शुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म विचार विशारद ।।

इन सभी सत पंचों की कही चौपाई है—

सब कर मत खगनायक एहा । करिय राम पद पंकज नेहा ।।

श्रीराम पद पकज नेह करने से पंच परिवा मायाजनित दारुण अविद्या श्रीरघुपति हरण करें—करते हैं । यह निश्चित तथ्य है । अतः—

भक्ति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल भेद भ्रम नाशा ।।

यह भी कहा जाता है कि सत् से सात काण्ड चतुष्टय पंच से पाँच प्रकार की (चौपाई अर्थात्) चतुष्पदी-श्लोक सोरठा,दोहा, चौपाई और छन्द से ही 'सत पंच चौपाई' का तात्पर्य हो सकता है ।

समस्त मानस के सप्तकाण्डान्तर्गत सम्पूर्ण पद मनोहर हैं, इनको धारण करने से श्रीरघुपति कृपा प्राप्त होती है । वैसे जो लोग ५१००, १५००, १०५, ७५, ५७, ३५, १२ आदि भिन्न-भिन्न संख्याबद्ध स्वमनोनीति चौपाई मानने के दुराग्रही हैं उनके लिये तो यह समाधान नगण्य है ।

शंका–२८

मानस शशिमंडल में कलंक की खोज करनेपर जाना कि मानस में कलंक रूप 'कामिहि नारि पियारि जिमि' उत्तरकांड दो० १३० स है । यह दोहा तुलसीदासजी का बनाया नहीं है, क्योंकि अश्लील है । यह दोहा तो किसी रघु तिवारी का बनाया है । उत्तरकांड में आज

५९० चौपाई मिलती है, परन्तु तुलसीदास ने उत्तरकांडमें केवल पांच सौ चौपाई लिखा है। यथा—

शतपञ्च चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरें ॥

काशीराज की सं० १७०४ वि० में रघु तिवारी ने प्रतिलिपि किया है, जिसे आज तीन सौ वर्ष तक किसी ने पहिचाना नहीं।

(राजज्योतिषी पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

समाधान

नानापुराण निगमागम क्षीरसिन्धोर्निर्मथ्य देवनरदानव बन्द्यशम्भुः।
श्रीरामचन्द्रचरितामृतपूर्णचन्द्रं निष्काशितो विजयते स द्धि मानसेन्दुः॥

आपके लिये ज्योतिषियों का राजा = यह अर्थ तो हो नहीं सकता क्योंकि—

अकृत्या शत्रु संहारानगत्वा चाखिलश्रियाम्।
राजाऽहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥

अतः—

गणिकागणको समानधर्मौ निजपञ्चाङ्ग निदर्शकावुभौ।
जनमानस मोह कारिणौ विधिना वित्तहरौ विनिर्मतौ ॥

—सभातरंग।

के समान अब भी होंगे। अथवा किसी राजा के यहां वेतन-भोगीगणक होंगे एवं ज्योतिष की शास्त्री परीक्षा तो दिये ही होंगे। यदि आप कभी—

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहृत पाप्मा अभयम् रूपम् तद्यथा
प्रिययास्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद,
नान्तरमेव मेवायं पुरुषः प्रज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं
किञ्चनवेदनान्तरम् तद्वा अस्यैतदा प्रकाममात्मकामकामम्-
रूपम् शोकान्तरम् ॥ बृ० उ० ४।३।२१ ॥

इस वैदिक मंत्र को देखे होते तो 'कामिहि नारि पियारि० दोहा को अश्लील न कहते । इस श्रुति में ब्रह्मानन्द के साथ 'कामिहि नारि पियारि०' वाली उपमा कितने भद्दे शब्दों में दी गई है । इस दोहे के ऊपर वाले दोहेमें तो दो बार रघुशब्द आया है उसे तो तुलसीकृत मानते हैं, रघुपतिवारीकृत क्यों? क्या जिस-जिस पद में रघु शब्द आता हो वह सब और जिसमें तुलसी शब्द न आता हो वह सब भी रघुतिवारी कृत मान लिया जाये । यहाँतो भला दो ही उपमायें हैं, विनयपत्रिका में तो पाँच उपमायें दी गई हैं । जिसमें दो तो यही नारि और दाम वाली ही है । सं० १६६१ की लिखी विनयपत्रिका के पद में तुलसी नाम भी सम्भोग में है । देखिये—

राम कबहु प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ।
सुख जीवन ज्यों जीव को मनि ज्यों फनिको,
हित ज्यों धन लोभ लीन को ।
ज्यों सुभाय प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को ।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावनप्रेम पीनको ।
मनसा को दाता कहै श्रुति प्रभु प्रवीन को ।
तुलसिदासको भावतो बलिजाउँ दयानिधि दीजै दादि दीनको

'ज्योतिषं नयनं स्मृतम्' से ज्योतिष शास्त्र को वेद का नेत्र कहा गया है । आप तो राज ज्योतिषी–विशिष्ट नेत्र वाले हैं तो क्या आप के राज नेत्रों से मानस के केवल उत्तरकाण्ड की ११९८ चौपाइयों में मात्र पाँच सौ ही मनोहर दीख पड़ती हैं ? तो क्या सात सौ चौ० उत्तरकाण्ड की तथा अन्य छः काण्डों की सभी चौपाइयाँ एवं अन्य पद्य अमनोहर हैं ? बाहरी राजज्योति, इसी ज्योति से तो आपको मानस शशिमण्डल में कलङ्क दीख पड़ता है । सच है—

नयन दोष जाकहँ जब होई । पीतबरन शशि कहँ कह सोई ।।

आपको पता बतला दिया ये उपमायें विनयपत्रिका में हैं और 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की अश्लील उपमा अमर्यादित रूष से श्रुति में है। पुराणों में तो बहुत स्थलों पर हैं, परन्तु जो—

'बापहि बाप न कहत सो कइसे कहिहै काका काका। —देवतीर्थ

ज्योतिषीजी यह श्रीरामचरितमानस 'गुरुतियगामी कलङ्की शशि' नहीं है कि इसमें कलङ्क मिलेगा। यह तो अत्रिनयन समुत्थ शिव ललाटारूह शशि तुल्य है। यह रामचरितमानस शशि तो आप्रणरवात् वाह्याभ्यन्तर अमृत तो लबालब भरा है, परन्तु इसके पीनेका सौभाग्य महानतप और मानस मर्मज्ञोंके चरणचुम्बनसे ही प्राप्त हो सकता है। अतः यदि इस अमृतके पीने की लालसा हो तो मानस का एक चित्त से अहर्निशि पारायण कीजिये, साथ ही मानस मर्मज्ञों का चरण रज सेवन कीजिये। श्रीमद्भागवत्कार की आज्ञा है कि यह—

बिना महत्पाद रजोऽभिरेकात्। भा०।

इस आनन्दामृत की उपलब्धि नहीं हो सकती। यदि इस अमृत की चाह नहीं है तो—

ज्योतिः शास्त्रमहोदधौ बहुतरोत्सर्गा उपवादात्मभिः,
कल्लोलैर्निबिड़े कणान्कतिपयाँल्लब्ध्वा कृतार्था इव।
दीर्घायुः सुतसम्पदादिकथनैर्दैवज्ञपाशा इमे,
गेहं गेहमनुप्रविश्यधनिनां मोहं मुहुः कुर्वते ॥१
प्रमोदे खेदे वाऽपिनमत्पुंसां विधिवशात्,
मयैवं प्रागेवाभिहितमिति मिथ्या कथयति।
जनानिष्टानिष्टाकलन परिहारैकनिरतान्,
असौ मेषादीनां परिगणनमेव भ्रमयति ॥२॥
(सु० र० भा०)

के अनुसार अपनी संसार यात्रा चलाते जाइये। बस विचारवान के लिये इतना लिखना कम नहीं है।

शंका २९

जो लोग भक्त नाभाजी के कहने से तुलसीदासजी को वाल्मीकि का अवतार मानते हैं वे गलत मार्ग पर हैं। अवतार देवताओं का हुआ करता है मनुष्यों का नहीं। दूसरे 'वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।' ब्रह्म समान—मुक्त हो गये, अतः गोस्वामीजी शंकरजी के अवतार हो सकते हैं, क्योंकि शिवजी शावर मन्त्र रचयिता हैं और मानस की प्रत्येक पंक्ति मन्त्र है। तीसरे शिवजीके लिये 'भीख माँगि भवखाहि। सहज एकाकिन्ह… …।' आदि जैसे कहा है वैसे 'जायो कुल मंगन' आदि अपने लिये कहने से वे शंकर के अवतार ही सिद्ध होते हैं। इस पर यदि किसी को आपत्ति हो तो कोई मानस मर्मज्ञ ग्रन्थकार के प्रमाण से उन्हें वाल्मीकि का अवतार सिद्ध करके इसका समाधान करें।

—मा० घनश्याम प्र० विशारद।

समाधान

कलिसों होइ निर्भय जपत रामनाम सब काल।
जय तुलसीधारी जगत तुलसी हुलसी लाल॥

आपका कहना है कि 'भक्तनाभाजी के लिख देने मात्र से लोग तुलसी को महर्षि वाल्मीकि का अवतार मानने लगे हैं।

इस पर आप दो कारण देते हैं, प्रथम यह कि ईश्वर और देवताओं का ही अवतार होता है मनुष्यों का नहीं। क्या आपको नहीं मालूम कि 'अव्' उपसर्ग पूर्वक तृ' मरणे धातु से निष्पन्न होने वाले 'अवतार' शब्द का अर्थ ऊपर से नीचे उतरना होता है। अतः शब्द शास्त्र के बल पर निश्चित शब्दों में कहा जा सकता है कि सभी पुण्य कर्मी स्वर्गीय मनुष्यों का अवतार होता है जैसा कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का कथन है कि—

राज्य करते थे उस समय महर्षि वाल्मीकिजी स्वर्गमें देवराज इन्द्र की 'पुष्कर मालिनी' नामक सभा में थे । यह बात युधिष्ठिर को महर्षि नारदजी ने बताया था । महाभारत सभापर्व अध्याय सात देखिये—

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः । १६ ।
यज्ञ वाहाश्च येमंत्राः सर्वे तत्रसमासते । २४ ।

'तद्विष्णोः परमं पदम्' में पहुँच जाने वाले मुक्तात्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता और वाल्मीकिजी वहाँ गये नहीं । वाल्मीकीयरा० और पंचमवेद महाभारत का प्रमाण आपको दिया जा चुका । अब तो आप समझ गये होंगे कि वाल्मीकि की आत्यन्तिक मुक्ति नहीं हुई है अपितु वे मोक्षाधिकारी हैं । अतः अवतार लेना असम्भव नहीं ।

उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ।।

इस चौपाई की 'जपत क्रिया' किस काल का संकेत करती है ? यदि स्कूल के अध्यापक होते हुयेभी आप न समझ सकते हों तो किसी विद्वान् मानस मर्मज्ञ के पास जाकर—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ।। गीता ।।

महर्षि वाल्मीकिजी अवतार ले सकते हैं और प्रमाण ऊपर दे चुका हूँ । आर्ष प्रमाणों के बलपर ही भक्तमाल में श्रीनाभास्वामीजी ने लिखा कि 'वाल्मीकि तुलसी भयो ।' सुयोग्य विद्वान् एवं धार्मिक लोग बिना दृढ़ प्रमाणके स्वकल्पना बलपर ही कोई तथ्य निश्चित नहीं कर लिया करते हैं । 'सुनु गिरजा हरि चरित सुहाये ।' बालकाण्ड दो० १२०।१ से लेकर "कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं । ते गोपद इव भवनिधि तरहीं ।' उत्तरकांड दो० १२८।६ तक ही शंकर द्वारा कैलाश पर कहे गये 'रामचरितमानस' कथा का अनुवाद है । मानस के चार घाटों का रूपक शंकरकृत नहीं है किन्तु मानस का मानसरोवर से

रूपक, चारघाट का रूपक कीर्ति सरयू-कथा सयूं का रूपक और भरद्वाज याज्ञवल्क्य का सम्वाद आदि का वर्णन गोस्वामीजी का है और सतीमोह शिव पार्वती विवाह कैलाश प्रकरण महर्षि याज्ञवल्क्य का कहा हुआ है। सीढ़ी के अतिरिक्त 'आरोहणं स्यात्सोपानं।' (अंको०) के अनुसार ऊर्ध्व गमन के साधन का नाम भी सोपान है।

आगे चलकर आप भीख माँगि भवखाहिं।' 'जायो कुल मङ्गन।' 'सहज एकाकि' आदि से गोस्वामीजी को शंकरजी का अवतार सिद्ध करना चाहते हैं। तो क्या आपकी तर्क प्रणाली के अनुसार जो जो ब्राह्मण कुमार बचपन में यतीम हो जायँ और आगे चलकर वे दृढ़ रामोपासक हो जायँ उन सबको शंकरजीका अवतार माना जाया करे? बलिहारी है इस तर्क प्रणाली पर, धन्य है ऐसी कल्पना को।

अन्त में आप मानस मर्मज्ञों को चुनौती देते हैं कि ग्रन्थकार के प्रमाणोंसे वाल्मीकि का तुलसी होना सिद्ध करें। तो मास्टर साहबजी! ग्रन्थकार ने तो श्रीराम के एवं श्रीरामलीलोपकरण पात्रों के अवतार की बातें लिखी हैं, तुलसी अवतार की नहीं। तब ग्रन्थकार का प्रमाण कैसा? यद्यपि ग्रन्थकार ने अपने अवतार की—वाल्मीकि रूप की बातें स्पष्ट रूप से नहीं लिखी हैं तो भी दुर्जनतोष न्यायानुसार ग्रन्थकार का प्रमाण दिया जाता है। पुराण सिद्ध है कि वाल्मीकि प्रथमवय में व्याधाकर्म करते थे पश्चात् ऋषियों के सत्संग से साधुपन को ग्रहण-कर लिये उसी बात को अपने लिये संकेत करते हुये ग्रन्थकार कहते है कि—

व्याधको साधुपनो कहिये अपराध अगाधनि मैं ही जनाई।

शंकरजी ने कभी कोई पाप नहीं किया, परन्तु वाल्मीकिने व्याधपन में अनन्त महापाप किया था उसी अपने पूर्व के पाप का संकेत ग्रन्थकार का है।

तौक्यों कटत सुकृत नखमोपै विपुलवृन्द अघ वनके।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि श्रीतुलसीदासजी चाहे वाल्मीकि के अवतार हों या शंकरजी के, चाहे अन्य किसी के अथवा किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति के अवतार न हों। उनका अपना व्यक्तित्व भाषा रामचरित मानसकार श्रीतुलसीदासजी के नामरूपसे है वाल्मीकि या शंकर के अवतार के कारण नहीं, अतः वे चाहे किसी के अवतार सिद्ध हों इसमें किसी की कुछ हानि–लाभ नहीं है। परहाँ सनातन-धर्मानुयायी भारतीय आर्य जनता श्रौत स्मार्त प्रमाणों पर ही आस्था रखती है—

दम्भिन निज मत कल्पिकर प्रगट कीन्ह बहुपंथ।

के अनुसार केवल कल्पना प्रसूत बातों पर नहीं।

श्रीमन्मानस रामायण सम्बन्धी प्रश्नावली

उत्तर सहित

अशेष विश्वस्वामिनि ! ह्यन्तरूपनामिनि !,
मुनीन्द्रसन्तवन्दिते ! नृपेन्द्रमौलिकन्यके !।
सदैवरामरंगिणि ! सुबामपार्श्वसंगिनि !,
प्रसीद रामवल्लभे ! प्रदेहि पादपल्लवम् ।।

प्रश्न १—श्री मूल गुसाई चरित्र की दो गाथायें क्या सत्य हैं ?

(क) श्रीगोस्वामिपाद जब शुरू में श्रीमानस रचना संस्कृत में करने लगे तो वे पत्रे नित्य लुप्त हो जाते थे।

(ख) श्रीमन्मानस रचना हिन्दी भाषा में की इससे काशी के विद्वत्समाज ने क्षुब्ध होकर इन्हें जाति पतित की घोषणा कर दी।

उत्तर १—(क) अधिकांश सत्य है क्योंकि नये पुराने सभी विद्वान् इसे एक रूप में मानते चले आ रहे हैं।

(ख) सम्भवतः कवितावली उत्तरकांड—'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।' १०६। मेरी जाति पाँति न चहौं

काहू की जाति पाँति ।"• के आधार पर जाति बहिष्कृत की कल्पना की गई है । श्रीगोस्वामीजी विरक्त चतुर्थाश्रमी थे । विरक्त को तो जाति पाँति से कोई सरोकार नहीं रह जाता परन्तु कितने ईर्षालुओं का यह स्वभाव होता है कि जब कुछ जोर नहीं चलता तो उत्तम कुलोद्भव महापुरुषों को नीच जाति जन्मा कहने लगते हैं जिससे उन महात्माओं को तो नहीं किन्तु उनके प्रेमी सज्जनों को हार्दिक दुःख होता है । अभी अभी की बात है कि आर्यसमाज संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को न्यून कुलोत्पन्न सिद्ध करने के लिये कितने सनातनधर्मी भाई पागल रहा करते हैं । वर्तमान काल में भी जो "देखि न सकहिं पराइ विभूती" हैं वे कितने श्रेष्ठ ब्राह्मण कुलोत्पन्न विरक्त एवं प्रतिष्ठित विद्वानों को न्यून जाति का कहकर अपने को कलुषित करते हैं । इसी तरह स्वार्थान्ध लोग श्रीगोस्वामीजीं को भी निम्न जात्युत्पन्न अथवा जाति बहिष्कृत करते रहे होंगे ।

प्रश्न २—यदि ये गाथायें सत्य हैं तो इनका इशारा श्रीगोस्वामीपद के रचित इन्हीं ग्रन्थोंमें या श्रीमन्मानसजी में मिलता है या नहीं?

उ० २—श्रीगोस्वामीपाद की प्रौढ़ संस्कृत पद्य रचना ही (जोकि प्रत्येक काण्डों में है) इसका साक्षी है । वैसे तो गोस्वामीजीने अपनी जीवनी लिखी ही नहीं जो इसकी चर्चा करते । परन्तु—

सपनेहु साँचेहु मोहिं पर जो हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होइ जो कहेउँ सब भाषा-भनिति प्रभाउ ।।

हरिहर जश सुर नर गिरा बरनहि सुकबि समाज ।
हाँड़ी हाटक घटित चरु राँधे स्वादु सुनाज ।।
का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियै साँच ।
काम जो आवइ कामरी का लइ करइ कुमाच ।।

दोहावली के दोहों से कुछ संकेत मिलता है ।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति ।' गीता ९।२१
'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।'गीता ८।१६

मनुष्य से राक्षस हो जाना नीचे उतरना है जैसी दशा कि केकय-नरेश सत्य केतु कुल की हुई और यदि अपने एक रूप से रहते हुये अंशरूप से पृथ्वी पर जन्म लेने या असली रूपमें आंसिक सत्ता स्थापित करके पूर्णरूप से भूलोक में जन्म लेने को आप अवतार मानते हों जैसा कि प्रायः ईश्वर और देवताओं का हुआ करता है तो आर्ष-ग्रन्थोंमें ईश्वर देवेतर अनेकों महानुभावों के ऐसे अवतारों का भी वर्णन है । कुछ दिग्दर्शन कराये देता हूँ । देखिये अगस्त सहिता उत्तरार्द्ध अध्याय ३२—

जातः सुरसुरानन्दो नारदः मुनिसत्तयः । २९ ।
प्रह्लादः कवीरस्तु ····जातोवेदान्तसन्निष्ठो······। ३८ ।
भावानन्दोऽथजनको··· ···कर्के चन्द्रे जनिष्यति । ३९ ।
भीष्मः सेनाभिधोनाम····· जनिष्यति । ४० ।
धनाभिधोबलिः साक्षात्··· ··· । ४१ ।

और—

मनुः पीपाभिधो जातः······रमादास·· यमः···।।

इत्यादि कहा है जिनमें प्रह्लाद और बलि दैत्य हैं। यमराज इन्द्र देवता हैं, नारद और वैयासकि (शुकदेव) मुनि हैं जैसे कि वाल्मीकि। जनक, मनुवैवस्वत तथा भीष्म मनुष्य (क्षत्रिय) हैं । इनमें यम, प्रह्लाद और मनु के अतिरिक्त नौके कलि में अवतार का कारण और चरित्र 'महाभागवत चरित' नाम से सुदामा कुटी वृन्दावनसे प्राप्य है।

महाभारत आदि पर्व अध्याय ५९ से ६४ तक का तो नाम ही अंशावतार पर्व है और वहीं अ० ६७ में भी १६६ श्लोकों में ईश्वर

देवेतर सैकड़ों व्यक्तियों के अवतारोंका वर्णन है, विस्तार भय से सबका नाम और श्लोक नहीं लिख रहा हूँ वहीं देख लीजिये। पद्मपुराण में अनेकों दीर्घ तपस्वी मुनियों का गोपी रूप में श्रीधाम वृन्दावनमें अवतार लेना बताया गया है। जिनका सूत्र श्रुतियों में है कि—

"ॐ श्रीमन्महाविष्णुँसच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं सर्वाङ्गसुन्दरं दृष्ट्वामुनयो वनवासिनों विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वैगण्यते आलिंगामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिकाभूत्वा मामालिंगथ ।।" —श्रीकृष्णोपनिषत्।

श्रुतियों एवं पुराणों में तो मनुष्यों ऋषियों के अवतार लेने के प्रचुर प्रमाण प्राप्य हैं, परन्तु इनकी जानकारी केवल कल्पना प्रवाह में बहते रहने से नहीं होती यह तो नानापुराणनिगमागम के निर्मंथन एवं गुरुकृपा से ही होती है। कहा है कि—

यत्सारस्वत वैभवं गुरुकृपा पीयूष पाकोद्भवं,
तल्लभ्यं कविनैवनैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारं दिवसं वसन्नपि पयः पूरं पूरं पंकिलं—
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सैरिभिः सौरभः ।।
(सुभाषितावलिः)

अर्थात् जो विद्या का वैभव गुरुकृपामृतके परिपाक से पैदा होता है, उस वैभव को गुरुचरण सेवी ही प्राप्त करते हैं। मनमुखी (हठ से) पाठ लगाने वालों को वह वैभव नहीं मिल सकता, भैंसा तो सारा दिन तालाब में कीचड़ और पानी को एक किया ही करता है पर उसका कमल के फूलों के सुगन्ध से क्या वास्ता।

आप दूसरा कारण यह देते हैं कि 'वाल्मीकि—ब्रह्मसमान' मुक्त हो गये मुक्त का पुनर्जन्म नहीं होता।' यह ठीक है कि आत्यन्तिक मुक्त का पुनर्जन्म नहीं होता। परन्तु यदि आप मुक्ति का भेद जानते तो वाल्मीकि के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्त धारणा न रख बैठते। मुक्ति

के तीन भेद हैं—(१)आत्यन्तिक मुक्त, (२) जीवनमुक्त, और (३) मुक्त्याधिकारी ।

प्रथम वे जिन्हें कि साधन समाप्त होते ही एक पाद विभूति से मुक्ति मिल जाती है। दूसरे—जीवन मुक्त की इच्छा पर रहता है कि वह जबतक चाहे ब्रह्माण्ड में जो जो रूप चाहे धरता रहे वह नित्य जीव स्वेच्छा से एकपाद में आया हुआ होता है, स्मरण रहे कि बद्ध जीव जीवनमुक्त नहीं होता वह तो जब होगा तब आत्यन्तिक मुक्त ही। मुक्त्यधिकारी भी नित्यमुक्तजीव ही होतेहैं जो ब्रह्माण्ड का अमुक-अमुक कार्य करने के लिये नियत होते हैं। वे प्रलयकाल में बद्धजीवों की तरह संकुचित ज्ञानेन्द्रिय होकर सूक्ष्मचित् के साथ एकपाद्विभूति में न रहकर त्रिपाद्विभूति में चले जाते हैं अर्थात् सृष्टचन्त में आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त करते हैं। वशिष्ठ आदि सप्तर्षि मरीचि आदि प्रजापति, स्वायंभूमनु आदि मन्वन्तराधिप और नारद देवल आदि देवर्षि इसी मोक्षाधिकारी श्रेणी के महापुरुष हैं। इन रहस्यों को समझने के लिए पुराणादि तथा प्रस्थानत्रयी खासकर शारीरिक मीमांसा (वेदांतसर्शन) का वैदिक भाष्यादि सद्गुरु से अध्ययन कीजिये, केवल कल्पना से ही मुक्ति तत्व का ज्ञान नहीं होता। विनयपत्रिका में स्वयं गोस्वामीजी ने भी लिखा है कि नित्यमुक्त जीव अपनी इच्छा से सारे ब्रह्मांड में विचरा करते हैं—

शुक सनकादिमुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ ।

श्रुतियों में भी कहा है कि—

'शुकोमुक्तः वामदेवोमुक्तः।' —वाराहोपनिषत्।

'परब्रह्म पयोराशौ प्लवन्निवययौ शुकः।'

'ततो ब्रह्मोपदिष्टो वै सच्चिदानन्द लक्षणम् ।
जीवनमुक्तः सदाध्यायन्ययौ शुक उदारधीः ॥'

(शुक रहस्योपनिषत्)

इत्यादि शुक को ब्रह्मसमान (मुक्त) कहा गया है । महर्षि शुक के अवतार लेने का प्रमाण ऊपर कहा जा चुका है ।

आपके मतसे भानुप्रताप ईश्वर या देवता अवश्य रहा होगा किन्तु और सबके मत से तथा स्वयं गोस्वामीजी के मत से भी भानुप्रताप तो जम्बूद्वीप हरिवर्षखण्ड (भरतखण्ड) के केकय देश (काकेशिया) का क्षत्रियवर्ण का मनुष्य एवं दिग्विजयी सम्राट था । उसके लिये श्रीशिवजी तथा श्रीभुशुण्डिजी अवतार लेना कहते हैं—

कहेसि बहुरि रावण अवतारा ।

यह रावणावतार नारदमोह के बाद कहने से जय विजय, जलंधर और हरगण का न होकर भानुप्रताप का ही है । भानुप्रताप ही सपरिबार, ससचिव और ससेवक रावणादि रूप में अवतरित हुआ था । विस्तार से मानस में पढ़िये ।

दृष्टांत तो कई हो चुके अब द्राष्टान्त स्थानीय वाल्मीकि का मुक्तत्व सुनिये । वाल्मीकीयरामायण बालकांड दूसरे सर्ग में पढ़िये वहाँ ब्रह्माजी ने वाल्मीकिजी से कहा है कि—

यावत्स्थास्यन्तिगिरयः सरितश्चमहीतले ।। ३६ ।।
तावद्रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
यावद्रामकथा लोके त्वत्कृता प्रचरिष्यति ।। ३७ ।।
तावदूर्ध्वमधश्चत्वम्मल्लोके निवत्स्यसि ।। ३८ ।।

ब्रह्माने साफ-साफ शब्दों में कहा है कि जबतक तुम्हारी निर्मित रामायण का प्रचार लोक में रहेगा । जबतक तुम अप्रतिहतगति से मेरे लोक अथवा भूरादि ऊर्ध्वलोकों में किंवा तलादि अधः लोकों में स्वेच्छित विचरते रहना । इस वाल्मीकिरामायण के उपोद्घातोद्धरण से ही निश्चित होता है कि महर्षि वाल्मीकि की आत्यन्तिक मुक्ति नहीं हुई । जिस समय दुर्योधन हस्तिनापुर में और युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में

प्रश्न २—श्रीमन्मानसजी के रचनाकाल से ही यह विरोध शुरू हुआ था ? या समस्त ग्रन्थ रचना होने पर ?

उ० ३—जीवनियोंसे पता चलता है कि कई ग्रन्थ मानसके पहिले ही रचे गये और कई बाद को, परन्तु विरोध शुरू हुआ मानस के कारण ही। ग्रन्थ पूर्ण होकर प्रचार बढ़ने पर।

प्रश्न ४—श्रीगोस्वामीपाद जगह-जगह ब्राह्मणके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। यहाँ तक कि स्वयं प्रभुके मुखारविंद से कहाते हैं—

पुण्य एक जग में नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तिहि पर सब देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥

तब फिर विद्वान् समाज के विरोध पर भी श्रीमानसजीका गंगा प्रवाह न किया। जबकि श्रीगौरांग महाप्रभु ने एक ब्राह्मण के इसी-लिये दुःखी होने पर कि उसका बनाया हुआ न्यायग्रन्थ श्रीमहाप्रभु के बनाये ग्रन्थ के सामने ख्याति न पा सकेगा, अपना ग्रन्थ गंगाजी में बहा दिया। तब गोस्वामीजीने इसी तरह क्यों न किया ?

उ० ४—भगवान् वेदव्यासजीने तर्क=न्यायशास्त्रको मोक्ष विरोधी होने से स्पष्ट शब्दों में अप्रतिष्ठित कहा है।

तर्कोऽप्रतिष्ठानात्०। (वेदांतदर्शन २।१।११)

तर्कोऽप्रतिष्ठितः०। (महाभारत वनपर्व १३२।११२)

उसी अप्रतिष्ठित मोक्ष विरोधी न्यायग्रन्थ को महाप्रभु ने अपने प्रिय मित्र दीधितकार पं० रघुनाथ के प्रसन्नतार्थ गंगा में प्रवाहित कर दिया था। उस ग्रन्थ से केवल शुष्क तर्कवाद का ही विस्तार होता धर्म किंवा मोक्ष तो होता ही नहीं और श्रीरामचरितमानस तो—

बुध विश्राम सकल जन रंजनि। ···दानि मुक्ति धन धरम धाम के।··· अभिमतदानि········जगहित········रामचरित राकेशकर सरिस सुखद सब काहु। इत्यादि ८५ उत्तमोत्तम दिव्यगुणों से विभूषित है इसी से कुछ ब्राह्मणों के रुष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नतार्थ रामचरितमानस को गंगामें प्रवाहित नही किया। और नीति भी है कि—'देशस्यार्थे त्यजेद्ग्रामम्।'

प्रश्न ५—क्या इन चौपाइयों का अर्थ उपरोक्त दोनों घटनाओंसे हो सकता है ? याने श्रीमन्मानस की रचना हिन्दी में सुनकर विरोध भावनायें फैल गई हों उसी से प्रेरित होकर इन चौपाइयों की रचना की गई हो ?—

मैं अपनी दिशि कीन्ह निहोरा। तिन निज ओर न लाउबि भोरा॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी॥

कृपया इस विषय को स्पष्ट शब्दों में वर्णन करें? इस विषय में अन्य ग्रन्थों में क्या कुछ मिल सकता है ?

उ० ५—'मैं अपनी दिशि'—आदि दोनों पंक्तियाँ मानस के आरम्भ की हैं और शुष्क ब्राह्मणों ने विरोध फैलाया था। मानस प्रचरित होने के बाद तब कैसे कहा जा सकता है कि विरोधी घटनाओं से प्रेरित होकर दोनों पक्तियों का निर्माण श्रीगोस्वामीजी ने किया है।

प्रश्न ६—संस्कृत ग्रन्थों के प्रयोग करने की अनेक विधियाँ हैं। नाना कामनाओं के लिये भी अलग-अलग प्रयोग हैं। क्या हिन्दी ग्रन्थ को वही स्थान देने के लिये ही यह दोहा है क्या ?

सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जो हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होइ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

(श्रीसूरदासजी ने बादशाह सलीम से कहा था कि श्रीमन्मानस कविता नहीं है यह तो मन्त्र है। मन्त्र वेद के कहलाते हैं। जिनका जप, तप, यज्ञादि में प्रयोग होता है। श्रीरामायणजी भी पंचम वेद कहलाते हैं। अगर यह सत्य है तो क्या ये चौपाई दोहे उसी तरह जप-तप में आ सकते हैं या नहीं ?

उ० ६—केवल वेद के ही मन्त्रों से जप-तप यज्ञादि प्रयोग नहीं होते अपितु वेदातिरिक्त पुराणादि ग्रन्थों के देव-सम्बन्धी श्लोकों से भी अनुष्ठानादि होते हैं जैसे दुर्गासप्तशती चण्डी मार्कण्डेय पुराण से, सत्य-नारायण कथा स्कन्दपुराण से, रामार्चन रुद्रयामल से निकाला गया है। इन्हींकीतरह मानस से भी अनुष्ठानादि हो सकते हैं। वेद अपौरुषेय है

अतः स्वतः प्रामाण्यहैं, गीता और नारद पंचरात्र भगन्मुखविनिर्गत होनेसे पौरुषेय होते हुयेभी वेदवत् स्वतः प्रामाण्य हैं। इतिहास श्रेष्ठ वेदोपवृहंणभूत छःकांड श्रीमद्वालमीकीय और महाभारत पौरुषेय होतेहुयेभी केवल वेद प्रामाण्य हैं। अन्य परतः प्रामाण्य नहीं इसीसे अभियुक्तों ने इनको पंचम वेद पद से विभूषित किया है, और मानस तो सर्वथा परतः प्रामाण्य ग्रन्थ है। जैसा कि ग्रन्थकार ने ही स्वयं मुक्तकंठ से उद्घोषित किया है कि—

'नाना पुराण निगमागम संमतं यद्रामायणे०।'

'वेद पुराण उदधिघनसाधू।'

'चारिउवेद पुरान अष्टदस।'

'छवो शास्त्र सब ग्रंथनि को रस।'

'सार अंस संमत सबही की।'

'यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्०।'

आदि इससे स्पष्ट है कि यह भाषा श्रीरामचरितमानस श्रीशिवकृत मानस का भावानुवाद है। तब भला यह स्वतः प्रामाण्य कैसे हो? और वैसे तो मानसको पंचमवेद मानने के लिये मानसके श्रद्धालु भक्तों पर निर्भर है।

प्रश्न ७—पहिलेकी रचना, संस्कृत वाली लुप्त हो जाती थी तब श्रीगोस्वामीजी दुःखी होकर प्रभुसे प्रार्थना करते थे। यह प्रभुकी आज्ञा और इच्छा से हिन्दी में रचना हुई। ऐसा सम्बन्ध इस चौपाई से है या नहीं?

भाषा बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

क्योंकि प्रबोध शब्द श्रीगोस्वामीजी ने दूसरे के उपदेश करने में ही प्रायः प्रयोग किया है। यहाँभी प्राचीन शक्ति का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे वाली चौपाई में तो यह स्पष्ट है—'हिय

हरि के प्रेरे' इससे क्या यह नहीं हो सकता कि निज की कृति न हो बल्कि मशीन के मुताबिक प्रभु प्रेरणा से लिखी गई हो ?

उ० ७—यह कोई नियम नहीं कि प्रबोध शब्द परोपदेशार्थ ही गृहीत हो । अपने लिये भी व्यवहृत होता है । यथा—

'शिव अपमान न जाइ सहि, होइ न हृदय प्रबोध ।'

'होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ।'

वैसे यहाँ भी—'मोरे मन प्रबोध जिहि होई ।'

अतः कवि को मानसके भाषानुवाद की प्रवृत्ति तो स्वमनः प्रबोधार्थ ही है । उपसंहारमें भी 'स्वान्तस्तमः शान्तये' ही कहा है । यह ऐसी बातहै कि 'तटाकोपजीवन' न्यायवत् दूसरों का भी अनन्तकल्याण होता रहता है ।

जिन महात्मा का यह उद्घोष है कि 'सुख हर्षहिं जड़ दुःख बिलखाहीं ।' वे भला संस्कृत रचना लुप्त होने से कैसे दुःखी हो सकते हैं ?

प्रेरणा दूसरी वस्तु है और मशीनवत्कार्य करना दूसरी वस्तु है। वैसे तो बिना ईश्वर प्रदत्त शक्ति के कोई जीव कुछ कर ही नहीं सकता है । आपका प्रश्न और मेरा उत्तर भी ईश्वर प्रेरित ही है ।

प्रश्न ८—यदि प्रभु की इच्छा हिन्दी में रचना कराना था तो क्यों? कोई विशेष कारण होना चाहिये ।

उ० ८—श्रीनाभाजी ने भक्तमाल में लिखा है कि—

'और युगन ते कमल नयन कलियुग बहुत कृपा करी ।'

और मायावद्ध कलियुगी मनुष्यों का विशेष हित हरिहर सुयश से ही हो सकता है, संस्कृत से नहीं । यही विशेष कारण है ।

प्रश्न ९—क्या संस्कृत ग्रन्थों और वेदमन्त्रों के समान श्रीमानस (पंचमवेद) के प्रयोग भी हो सकते हैं ? जैसे मास पारायण और नवाह पारायण वाला विश्राम जो मूल गुसाईं चरित्र में है, वह

किसकी रचना है? अर्थात् विश्राम किसके लगाये हुये हैं? अन्य विधियां भी कुछ श्रीगोस्वामीजी की वर्णित मिलती हैं क्या ?

उ० ९—मानससे ऐहिकामुष्मिक सर्वकामनार्थ प्रयोग हो सकते हैं। गोस्वामीजी ने मासिक या नवाह्िक बिश्राम नहीं लगाया था मूल-गोसाईं चरित में अरंगत रूप से नवाह् का बिश्राम लगाया गया है।

प्रश्न १०—एक राजाकी लड़की को नवाह् पारायण करके लड़का बना देना क्या भौतिक पदार्थो की प्राप्ति का उदाहरण बताकर समझानेके लिये था। क्योंकि वे चाहते तो लड़की को योंही लड़का बना सकते थे।

उ० १०—कोई भी जीव जब किसी प्रकार की अघटित घटना को सुघटित कर सकता है तो अपने सुकृति जप-तप यज्ञादि के फल से ही, इसके बिना नहीं। गोस्वामीजीभी उस राजकन्याको पुत्र बनाने में किसी सुकृतिका सहारा लेते अथवा निज इष्टदेवसे प्रार्थना करते। और-'सकल सुकृति फलभूरि भोग से'। मानस का सुनाना सर्वसुकृति का फल तथा इष्ट प्रार्थना ही तो है। यदि गोस्वामीजी उस कन्या को वैसे ही (बिना कुछ किये) पुत्र बना देते तो भी तो आजकल के समयलोचकों को कुचोद्यात्मक समालोचना के बहाने अनेक अपछिद्र ढूँढ़ निकालने का अवकाश मिलता ही।

प्रश्न ११—श्रीरामायण पारायण द्वारा दैहिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, त्रितापों से छुटकारा और कलि-मल का नाश सर्वसुमंगलरूप सब सुखों की प्राप्ति और श्रीप्रभु के पाद-पद्मों में परम प्रेमभक्ति की प्राप्ति क्या अर्थवाद मात्र है ?

उ० ११—अर्थवाद मात्र नहीं किन्तु सुपरीक्षित सत्य है।

प्रश्न १२—यदि अर्थवाद नहीं तो श्रीगोस्वामीपाद के एक-एक शब्द परम सत्य हैं तब आज भारतवर्ष (जहां यह ग्रन्थरत्न हो) की

यह दशा क्यों है ? क्या इसमें हमारी अकर्मण्यता प्रगट नहीं होती ? अब हमारी यह कुम्भकर्णी निद्रा कब और कैसे टूटे ?

उ० १२—अवश्य हमारी अकर्मण्यता है। जब हम अपनी कुम्भ-करणी निद्रा त्यागना चाहें और इसके लिये सच्चे हृदय से (देखावा-आडम्बर से नहीं) प्रभु से प्रार्थना करें तो अवश्य हम जाग सकते हैं। ऐहिक सुख प्राप्त करने का नाम निद्रा भंग नहीं हैं, किन्तु इसी ग्रन्थरत्न के शब्दों में—

जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥

प्रश्न १३—श्रीप्रभुकी अहेतुकी कृपासे कलिकालग्रस्त जीवोंके उद्धारार्थ प्रभु की इच्छासे श्रीप्रभुविग्रहरूप श्रीमन्मानसजी का अवतार है जो प्रभुके प्रबोध करानेसे हुआ है। श्रीवाल्मीकिजीके ही श्रीगोस्वामीजी के अवतार हैं ऐसा माना जाता है। फिर भी श्रीरामायण का प्रचार जितना होना चाहिये उतना नहीं। हमने ही हमारे दुर्भाग्य से कुछ भी उद्योग नहीं किया। क्या अब भी कोई उपाय है जोकि यह हरेक बालक के कण्ठाग्र हो सके।

उ० १३—जैसे इतिहास भूगोल आदि शिक्षा में अनिवार्य होनेसे बालक को कण्ठाग्र होकर ही रहता है, वैसे ही शिक्षा–विभागमें अनिवार्य होने पर बालकों को गोस्वामीजी के सभी ग्रन्थ कण्ठाग्र हो सकते हैं।

प्रश्न १४—श्रीगोस्वामीपाद कहते हैं—

जे यहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमङ्गल भागी॥

श्रीरामायणजीका सत्संग करने में यहाँ दो शब्द मुख्य हैं—सनेह और सचेता। सो सनेह कैसे हो! और सचेत होकर कैसे पढ़ने में लगा जाय! विद्वत्समाज से करबद्ध प्रार्थना है कि शेष खोलकर वर्णन करें, ताकि हम-बाल बुद्धि वालों की समझ में आ जावे।

उ० १४—अकाट्य नियम है कि जिस वस्तुको लोग किंचित भी अपने काम की समझते हैं उनमें उनका हार्दिक स्नेह हो जाता है। इसी तरह जो कोई राम या रामचरित को किंचित भी अपने काम की वस्तु समझेंगे उनका राम या रामचरितमें सहज स्नेह होना अनिवार्य है। जिसमें स्नेह होता है उसके प्रति सचेतता तो होती ही है। पं० श्रीभूषणजीके शब्दोंमें—'प्रथम राम से अपना कोई सम्बन्ध स्थापित कर ले तो उसका राम के घर=रामायण में अव्याहत प्रवेश हो जावेगा।' फिर तो प्रवेश हो जाने पर स्नेह और सचेतता का करतलगत होना तो अवश्यम्भावी है।

प्रश्न १५—स्वभावतः जिनका श्रीमानसजी में स्नेह हो, और जो सचेत होकर पठन पाठन करते हों वे बड़भागी प्रभु के प्यारे हैं ही और दूसरे जो निचेष्ट हों उन्हें इधर किस तरह लगाया जावे! या वे सनेही कैसे बनें? वे सचेत कैसे हों?

उ० १५—पहिले स्वयं लग जाय तत्पश्चात् मानस के उपयोग से क्या लाभ होगा यह दूसरों को बताया जा सकता है। परन्तु आजकलतो प्राय—'एकहि एक सिखावत जपत न आप बरवै' और—'साधन बिनु सिद्धि सकल विकल लोग लपत।'वि.प. आजकल अन्यग्रन्थोंसे मानस कहने सुनने का प्रचार अधिक होते हुए भी लाभ 'घुणाक्षरी न्यायवत्' किसी किसी को होता है। इसका एकमात्र कारण ऐहिक स्वार्थपरता ही है। अर्थात् धनिक लोग प्रायः अपने मनोरंजन के लिये सुनते हैं और रामायणी लोग प्रायः धन कमाने के लिये ले दही, ले दही करके व्यास बने घूमा करते हैं और मानस तो सुरतरु है। अतः अपना अपना चाहा पदार्थ सबको मिलना ही है। अर्थात् श्रोताओं का मनोरंजन और वक्ताओं को द्रव्यागम तो होता ही है। जो अध्यात्मिकोन्नति या भगवत्प्राप्ति चाहते हैं उन्हें वह भी मिलती है।

प्रश्न १६—उपदेश द्वारा रुचि पैदा करना या इनामादि का प्रलोभन देकर बालकों को यदि प्रारम्भ से लेकर उत्तरकांड तक, थोड़ा—

थोड़ा रोज कण्ठस्थ करवाकर कण्ठाग्र करवाई जाय तो यह भी एक तपश्चर्या न होगी ?

प्रश्न १७—रोज थोड़ा-थोड़ा याद करते हुये ३–४ वर्षों में सम्पूर्ण कण्ठाग्र करवाई जावे तो क्या श्रीरामायणजी में उनका—बालकों का—स्वभावतः सनेह न होगा ? क्योंकि व्याघ्रादि बनैले पशुओं को भी जबरदस्ती रखने पर वे शेष में रखने वाले से प्रेम करने लग जाते हैं। इसी प्रकार बच्चों को याद करवाते रहने से, सत्संग के कारण इनको भी सनेह न हो जायेगा ? कण्ठाग्र तो सचेत न होने से होगा ही नहीं। क्या सनेह होने पर सचेत अवस्था आ नहीं जाती ?

उ० १६–१७—अवश्य एक उत्तम तपश्चर्या होगी और—

'जब उघरहिं अंतर दृगनि, तब सो कहिहि बनाय ॥
लरकाई को पैरिबो, आगे होत सहाय।' मू०गो०च०

प्रश्न १८—श्रीमानस रामायणजीको गीता भाष्य कहा जा सकता है या नहीं? जैसे ब्रह्मसूत्रका सच्चा भाष्य श्रीमद्भागवत है—श्रीगौरांग महाप्रभु ने श्रीप्रकाशानन्दजीको शास्त्रार्थ में बताया था, क्योंकि मानव जीवन के उच्च आदर्श प्राप्ति के लिये गीतामें जो उपदेश है वही तो श्रीरामचन्द्रजी ने मर्यादा पुरुषोत्तम के जीवन में चित्रित किया है। वही वर्णन श्रीरामायण में है ?

उ० १८—श्रीगौरांग महाप्रभुजीने भागवत को ब्रह्मसूत्र का भाष्य माना था यह उनकी भागवत पर श्रद्धा की पराकाष्ठा थी। श्रद्धातिरेक से हम भी मानस को गीता या ब्रह्मसूत्र का भाष्य मान सकते हैं। मैं तो भगवत्कृपासे गीताके प्रत्येक श्लोक तथा ब्रह्मसूत्र के प्रत्येक सूत्र का भावानुवाद मानसमें होना मानता हूँ और समयपर स्पष्टभी पत्रिकाओं में कर चुका हूँ। परन्तु पूर्वाचार्यो ने भाष्य की जो कसौटी निर्धारित की है उसके अनुसार तो भागवत या मानसको ब्रह्मसूत्र या गीता का भाष्य नहीं हीं कहा जा सकता है। उस कसौटी के अनुसार तो ब्रह्मसूत्र पर बोद्धायन वृत्तिः श्रीशंकर भाष्य, श्रीभाष्य, आनन्द भाष्य,

अणुभाष्य, वेदान्त कौस्तुभ, वैदिक भाष्य, जानकीकृपा भाष्य, अध्यास-गिरि बज्र आदि को तथा गीता पर शंकर भाष्य, रामानुज भाष्य, मधुसूदनी, तत्वार्थ सुदर्शनी आदि को, तत्तद्‌भाष्य निःसंकोच रूप से कहा जाता है । वह कसौटी निम्नलिखित है :—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च बर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।१।।
पदच्छेदः पदार्थश्च विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधम्मतम्।।२।।
विषयो विशदश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
प्रयोजनं च पंचांगं प्रांचोऽधिकरणं विदुः ।।३।।

अथवा—

संगतिर्विषयश्चै संशयोत्थोनकारणम् ।
संशयश्च प्रकारश्च तदर्था च विचारणा ।।४।।
तस्यां फलफलित्वं च न्यायो द्वौ पक्षयोर्द्वयोः ।
निर्णयस्तत्फलं चेति बोधान्यधिकृतो दश ।।५।।

ऐसा (उपरोक्त) क्रम भागवत तथा मानस का नहीं है । हाँ मानस को स्वतन्त्र एक सूत्र ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि मानस की अधिकांश पंक्तियाँ सूत्रके सब लक्षणों से सम्पन्न हैं । सूत्रका लक्षण निम्न प्रकार का है—

'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।'

(ब्रह्माण्डपुराण उत्तरभाग अनुषंगपाद २; अध्याय ३३; श्लोक ५८) ।

प्रश्न १९—श्रीरामायण कण्ठाग्र करवाकर उसके साथ साथ पिंगल और व्याकरण का ज्ञान करवा देने से बालक हिन्दी का विद्वान् बन सकता है या नहीं ?

उ० १९—अवश्य बन सकता है।

प्रश्न २०—क्या देशव्यापी दुरोह अवस्था में २००० या ४००० बालकों को श्रीमन्मानस रामायण कण्ठाग्र करवाकर नवयुग की तैयारी नहीं की जा सकती? भारत क्या फिर एक बार भारत बन सकता है?

उ० २०—यदि ऐसा हो तो भारत अवश्य प्राचीन गौरवान्वित भारत बन सकता है, परन्तु कब ? जब विरक्त कहाने वाले, रागद्वेष ईर्षादि त्यागकर अपनी विद्या बुद्धिका उपयोग जनता—जनार्दन की सेवा में करैं और धनाढच लोग अपनी 'बद्ध मुष्ठिता को त्याग उन्मुक्ति मुष्ठि बनैं किन्तु स्वदेह किंवा स्वपरिवार अथवा किसी जाति विशेष' के लिये ही नहीं अपितु जनता-जनार्दनमें श्रीमन्मानस प्रचारके लिये—

प्रश्न २१—श्रीमन्मानस रामायणजी की उपमा श्रीप्रभु विग्रह स्वरूप वर्णित है। जैसे—

बालकाण्ड प्रभु पाँय अयोध्या कटि मन मोहे।
उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किन्धा सोहे।।
सुन्दर ग्रीव मुखारविन्द लंका कहि गायो।
जेहि मह रावणआदि निशाचर सर्व समायो।।
उत्तर मस्तक मानि हरि एहि विधि तुलसीदास भन।
आदि अन्त लौं देखिये श्रीमन्मानस राम तन।।

यह छप्पय श्रीगोस्वामीपादके हस्तलिखित मानस की चतुर्थ प्रति के अनुसार सन् १९४३ में श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में श्रीमन्मानस की आरती के पहले छपा है। इस तरह का वर्णन किसी भी संस्कृत ग्रन्थके लिये देखने या सुनने में नहीं आया। क्या इसमें सिर्फ श्रीगोस्वामीपाद की भावना मात्र है या इसमें अन्य भी तात्पर्य है ?

उ० २१—'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्यात्मा शरीरं' 'यस्य सर्वंशरीरं ।' आदि कहकर श्रुति और—

खं वायुमग्नि सलिलं महींश्च ज्योतींषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्चदेकं प्रणमेदनन्यः ।।

आदि कहकर स्मृति (पुराण) और—

पद पाताल सीस अजधामा । अपर लोक अंग अंग विश्रामा ।।

विश्व रूप रघुवंश मनि.....—
लोक कल्पना वेद कर अंग-अंग प्रति जासु ।।

आदि कहकर मानसादि समस्त ब्रह्माण्ड़को ही श्रीहरि का शरीर कहते हैं । रह गयी-'बाल कांड प्रभु पाँय ।' आदि इस पद की बात सो तो अभी तक तुलसी साहित्य के मर्मज्ञों ने इस पद को मानसकार द्वारा लिखित होना स्वीकार नहीं किया है । तो भी मानस ग्रन्थ को भगवच्छरीर मानने वालों की भावना कोई आपत्तिजनक नहीं अपितु श्लाध्य ही है । यह छप्पय क़विता तत्वेत्ताजी निर्मित है ।

प्रश्न २२—सामूहिक पारायण में क्या ब्राह्मणों के शरीर का स्पर्श शूद्रों के शरीर से न होना चाहियें ?

उ० २२—पारायण काल में किसी का स्पर्श न हो तो अत्युत्तम है, वैसे तो पारायण करने वाले साधकों से परस्पर में स्पर्श हो जाने से कोई हानि नहीं है चाहे साधक किसी भी वर्ण का हो ।

प्रश्न २३—क्या सामूहिक पारायणमें वर्णानुसार अलग-अलग बैठकर पारायण करना चाहिये ।

उ० २३—पारायण चाहे सामूहिक हो चाहे व्यक्तिगत हो पारायणकाल में तो प्रत्येक साधकों को अलग-अलग अर्थात् भिन्न-भिन्न आसनों पर ही बैठकर पारायण करना चाहिये । एक ही आसन पर एक साथ दो या कई साधकों को बैठकर पारायण नहीं करना चाहिये चाहे वे किसी वर्ग के हों ।

वर्णानुसार विभिन्न पंक्ति बनाकर बैठना तो श्रीरामचरित्र का घोर अपमान करना है।

प्रश्न २४—नेता साधक जो कि एक अर्द्धाली या दोहा कहता है उसके पश्चात् सम्पूर्ण साधक एक स्वर से पारायण करते, ब्राह्मण ही हो सकता है या शूद्र भी हो सकता है ?

उ० २४—जो एक साथ बैठकर पारायण करते हैं उनमें से कोई भी साधक नेता के रूप में पहिले अर्द्धाली या दोहा बोल सकता है।

पारायण के सम्बन्ध में इतना स्मरण रखना चाहिये कि जिन महानुभाव को किसी संकल्प विशेष के आधीन होकर कुछ नियमित (संख्या या समय वद्ध)पारायण करना हो और वे किसी कारण विशेष वश स्वयं न करके किसी दूसरे की सहायता से उस नियम को पूर्ण कराना चाहें तो वे केवल ब्राह्मणों ही से अनुष्ठान करा सकते हैं अन्य से नहीं।

प्रश्न २५—क्या श्रीरामचरितमानस किसी जाति, देश या व्यक्ति की ही विशेष सम्पत्ति है या कि मानव मात्र की ?

उ० २५—श्रीरामचरितमानस किसी एक की सम्पत्ति नहीं है प्रत्युत प्राणीमात्र की है जहाँ तक कि ब्रह्मसृष्टि है। जैसा कि श्रीरामचरित के प्राकटचकाल में ही देखा गया कि जब सब लोक निवासियों की इच्छा इस ग्रन्थरत्न के लेने की होने पर (पुराकाल में वाल्मीकि अथवा ब्रह्मा के बनाये हुये सौ करोड़ श्लोक में कहे गये श्रीरामचरित्र को सुनकर "तदा देवाः सगन्धर्वा यक्षानागाः सकिन्नराः मुनीश्वरा गुह्यकाश्च पार्थिवाः पद्मभूस्त्वहम्। परस्परं ते कलहं चक्रुः काव्यार्थमादरात् ॥" आनंदरा० ३-२-४॥ शिव एवं विष्णु द्वारा खण्ड-२ विभाग करके सबको देकर सन्तुष्ट किया गया, उस तरह श्रीरामचरितमानस को टुकड़े-टुकड़े न करके) मूल गोसाईं चरित्र के अनुसार—

'पाँच प्रती गनपति लिखे, दिव्य लेखनी चाल ।
शिव, नाग, अरुद्यू, दिशप, लोक गये ततकाल ।।४३।।
सबके मानस में वसेउ, मानस रामचरित्र ।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि रामचरितमानस सारे ब्रह्माण्डमात्र की सम्पत्ति है नकि किसी एक की । इस मर्त्यभुवन में तो प्रत्यक्ष है कि एशिया और योरोपके विस्तृत भूमण्डल निवासी जितने विज्ञ मनुष्य हैं विभिन्न मतावलम्बी होते हुये भी श्रीरामचरितमानस सबको अपने-अपने धर्मग्रन्थके समान आदरणीय है । श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ को मानव समाजने इतना नहीं अपनाया जितना कि श्रीरामचरितमानस को ।

यह स्वतः सिद्ध है कि जो व्यक्ति या जो समाज जिस वस्तुको अधिक चाहता है, अधिक आदर देता है भगवत्प्रकृति ने उस वस्तु का अधिकार उसको दे दिया है । अतः वह वस्तु उसकी सम्पत्ति है उस पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार है । जैसे मानव मात्र की चाहना अन्न और जलके लिये अत्यधिक है इसी से मानवमात्र अन्न जल का आदर भी अत्यधिक करता है, इसीलिये प्राकृत नियमानुसार अन्न और जल पर प्रत्येक प्राणीमात्र का समान अधिकार है । अतः अन्न, जल मानव मात्र की सम्पत्ति है नकि किसी जाति, देश या व्यक्ति विशेष की । और रत्नादिकों की चाहना एवं आदर नरपालादिकों में ही विशेष है अतः वह उन्हीं की सम्पत्ति है प्राणीमात्र की नहीं । इसी से प्रकृति-देवी ने रत्नादि का अधिकार नरेशों एवं उनके ही समकक्षवालों को दिया है और ब्रह्मविद्याके अधिकारी ज्ञान वैराग्यादि षट् सम्पत्ति संपन्न मुमुक्षु ही इसलिये हैं कि उनको ही ब्रह्मविद्या की चाहना रहती है और वे ही ब्रह्मविद्या का यथार्थ आदर करते हैं । इसी तरह देखा जाता है कि मानव मात्र ही श्रीरामचरितमानस को विशेष चाहता और आदर करता है इसलिये भी रामचरितमानस मानव मात्र की

सम्पत्ति है न कि किसी जाति, देश, सम्प्रदाय (समाज) या व्यक्ति विशेष की।

प्रश्न २६—क्या देवालय में ब्राह्मणों और अन्य द्विजातियों के साथ शूद्र वर्ग के लोग भी सामूहिक मानस पारायण नहीं कर सकते?

उ० २६—'नशूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवता स्मृताः ।
सर्वे वर्णापिं ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दनः ।।'

—बचनभूषण भाष्य

अर्थात् जो शूद्र वर्ग में उत्पन्न होते हुये भी भगवद्भक्त होते हैं वे शूद्र नहीं रह जाते उनकी विप्र और भागवत यह दो संज्ञा हो जाती है और जो भगवद्भक्त नहीं हैं वे सब चाहे किसी वर्ण के हों शूद्र हैं।

'भक्तिवन्त अति नीचौ प्रानी। मोहि प्राण प्रिय असि मम बानी।'

इत्यादिके अनुसार जो भगवद्भक्त हैं उनके लिये तो वर्णव्यवस्था का प्रश्न उठाना ही परम भागवतापराध है। एवं 'मातृयोनिपरीक्षा-यास्तुल्य माहुर्मनीषिणः।' (स्कं०पु०)के अनुसार-स्वमातृ योनि परीक्षा के तुल्य महापाप है वे तो सदैव पूज्य ही हैं। हाँ जो भगवद्भक्त नहीं हैं उनके विषय में वर्ण विचार करना न्याय है।

कर्मकाण्ड विधायकों में दो प्रकार के शूद्र माने गये हैं, एक सत्-शूद्र और एक असत्शूद्र। सत्शूद्र वे कहलाते हैं जिन्हें द्विजाति गण स्पृश्य मानते हैं अर्थात् जिनके स्पर्श किये हुये जल के पीने में किसी प्रकार का दोष नहीं मानते और असत्शूद्र वे कहलाते हैं जो अस्पृश्य हैं अर्थात् जिनका स्पर्श किया जल नहीं ग्रहण किया करते हैं।

इसी प्रकार पारायण (अनुष्ठान) भी दो प्रकार का होता है—एक 'स्वान्तः सुखाय' और एक 'वासना विशेष की पूर्त्यर्थ। अतः जो पारायण 'स्वान्तः सुखाय' अर्थात् भगवत्प्रीति लाभार्थ किया जाता है उसमें तो द्विजाति एवं सत्शूद्र सभी एक साथ मन्दिर में पारायण कर सकते हैं और जो कोई किसी लौकिक कामना विशेषकी पूर्त्यर्थ करना

चाहता हो तो वह सब से अलग बैठकर अपना पाठ समूह के साथ या स्वतन्त्र रूप से अपनी सुविधानुसार कर सकता है।

(घ) यदि कोई इसमें अधर्म ही मानने की गलती करते हों तो उन्हें सनातनधर्म का एक प्रसिद्ध महाग्रन्थ श्रीस्कन्द महापुराण के उत्तर खण्ड का यह आदेश नहीं भूलना चाहिये कि—

'नवै रहोभिः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्।
रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम्॥
सर्वपापक्षयकरं सर्वसम्पद्विवर्धनम्।
यस्त्वेतच्छृणुयाद्वा पठेद्वा सुसमाहितः॥
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके स गच्छति।'

और यह प्राचीन श्लोक तो प्रसिद्ध ही है कि—

'चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्॥'

यहाँ पर थोड़े से वैदिक और पौराणिक ऐसे शब्द उद्धृत किये दे रहा हूँ जो आजकल के प्रचलित व्याकरण की रीति से अशुद्ध हैं। इस उद्धरणके अधिकांश का शब्द वैकुण्ठवासी शास्त्रार्थ महारथी, वर्तमान समय के सनातन धर्म के महान स्तम्भ, विख्यात सनातनी ब्रह्मलीन श्रीकरपात्रीजी के दाहिने हाथ पं० श्रीमाधवाचार्य शास्त्रीके लिखे प्रसिद्ध सनातनी ग्रन्थ 'पुराणादिग्दर्शन' से संग्रहीत हैं। हाँ तो देखिये—

वैदिक प्रयोग	प्रचलित व्याकरण से शुद्ध रूप
१–धुरि दक्षिणाया।	यहाँ सप्तमी का एकबचन 'दक्षिणास्याम्' चाहिये।
२–चषालं ते अश्वयूपायतक्षति।	'तक्षन्ति' बहुबचन चाहिये।
३–ब्रह्मचारिणमिच्छते।	इच्छति परस्मै पद चाहिये।
४–प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति।	युध्यते आत्मने पद चाहिये।
५-मधोस्तृप्ता इवासते।	'मधुनः' प्रयोग बनता है।

६–अधासवीरैर्दशभिर्बियूपाः । 'वियूपात्' प्रथम पुरुष चाहिये ।
७–मित्रवयं च सूर्यः । 'मित्रावयम्' प्रयोग बनता है ।
८–अण्डाशुष्मस्य भेदति । 'भिनत्ति' रुधादि गण का कार्य लाहिये ।
९–जरसा मरते पतिः । 'म्रियते' प्रयोग बनता है ।
१०–इन्द्रेण युजातरुषेमवृत्रम् । 'तरेम' प्रयोग बनता है ।

पौराणिक प्रयोग—

१–सत्यंपरं धीमहि । (भाग० १।१।१) यहाँ 'ध्यायेम' चाहिये ।

२–युवैषतोत्सृष्टुमहो सभासुभिः । (भाग० १।४११) यहाँ 'ऐषत' यह आत्मने पद नहीं चाहिये ।

३–पुत्रेति तन्मयतयातरवोऽभिनेदुः । (पद्मपु०६।१९३।३ और भा०१।१।२) यहाँ सम्बोधन होने से सन्धि नहीं हो सकती 'पुत्र इति' चाहिये ।

४-सनातन धर्म के सर्वश्रेष्ठ एवं परम प्रसिद्ध ग्रन्थ पंचमवेद रूप महाभारत भीष्म पर्वान्तिर्गत श्रीमद्भगवद्गीता देखिये—

'सखेतिमत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति । गी० ११।४१

यहाँ 'हे सखेति' नहीं बनता अपितु 'हे सख इति=हे सख-इति बनता है ।

५–वेदोबृंहणभूत आद्यार्षकाव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकांड में 'पतिना वानरेन्द्रेण' लिखा है, यहाँ 'पत्या' चाहिये ।

६—ऐसे ही—'बन्देन्दुकलां परां' (माधुर्य केलि कादम्बिनी श्लो० १०) यहाँ 'बन्दे+इन्दुकलां' की 'इ' का लोप न होना चाहिये ।

निष्कर्ष यह कि 'विवक्षाधीनत्वात्' किंवा 'कवीनां स्वातंत्र्यत्वाच्च' को न भूलना चाहिये 'निरंकुशाहि कवयः' अस्तु ।

परन्तु जैसे सनातन धर्मियों की रीति है कि वैदिक अशुद्ध शब्दों को तो छान्दस और पौराणिक अशुद्ध शब्दको आर्ष प्रयोग कहते हैं। और—

मैं अपनी दिशि कीन्ह निहोरा । तिन निज ओर न लाउहिं मोरा ॥

भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी ।।
सपनेहु सांचेहु मोहि पर जो हर गौरि पसाउ ।

प्रश्न २७—'व्यास गद्दी बनाकर गणपति पूजन के साथ नवग्रह स्थापित कर रामायण का पाठ प्रारम्भ किया जाता है और प्रत्येक चौपाई, दोहा आदि के साथ रामायण की किसी एक चौपाई का संपुट लगाकर एक एक घंटा प्रत्येक व्यक्ति पाठ करता है। इसप्रकार लगातार पाठ होता है और जब राम-तिलक की चौपाई आती है तो व्यास गद्दी पर बिभूषित आचार्य के तिलक लगाकर पाठ आगे बढ़ता है और लगभग तीन दिनमें सम्पूर्ण रामायण का पाठ समाप्त होजाता है। पाठ की समाप्ति पर हवन होता है जिसमें रामायण की प्रत्येक चौपाई, दोहा आदि के साथ स्वाहा शब्द जोड़कर हवन की आहुंतियाँ दी जाती हैं। इतना ही नहीं कुछ लोग व्यास गद्दीरर अब्राह्मण जैसे सुनार, पटला आदि को भी बैठने और पाठ करने की आज्ञा देते हैं। इन अखण्ड पाठों में पाठ करने वाले के अतिरिक्त सुनने वाले विरले ही होते हैं। कहीं-कहीं पर पाठ इसी प्रकार महीना-महीना भर होता है।

उ० २७—बहुत प्राचीन काल से यही चला आता है कि कोई धार्मिक प्रतिष्ठित व्यक्ति जब किसी उपाय द्वारा किसी कार्य की सिद्धि लाभ कर लेता है तो उस उपाय को दूसरों में भी प्रचलिय इसलिये कर देता है कि अन्य लोग इस उपायसे बांछित लाभ उठावें। धार्मिक जनता इस उपाय को सप्रेम स्वीकार करके तदनुसार लाभ भी उठाने लगती है और धीरे-धीरे जब उसका प्रचार अधिक हो जाता है तब वही कृत्य सनातन धर्म से कही जाने वाली संस्था का एक अंग बन जाता है। हमारी इस बात की सत्यता का प्रमाण सनातन धर्म से कही जाने वाली संस्था में प्रचलित अनेक प्रकार की क्रिया-कलाप ही दे रही है। यह तो हुआ सार्वभौम नियम। गोस्वामी तुलसीदासजीने यों लिखा है कि—

'पूर्जाहि तुमहि सहित परिवारा।' 'तर्पण होम करहिं विधिनाना।'

इत्यादि—उसका स्पष्टीकरण रामचरितमानस ग्रन्थ पूजन सम्बन्धी इस प्रकार है कि—किसी ग्रन्थ नायक के परिवार उस ग्रन्थ में वर्णित सात्विक (धीरोदात्त) नायक पक्षके विशेष विशेष पात्र ही हुआ करते हैं और जिस ग्रन्थसे अनुष्ठान किया जाता है तो सात्विक ग्रन्थनायक के साथ-साथ नायक के कुछ प्रधानपरिवार और उस ग्रन्थ की पूजा होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत पारायण के प्रथम श्रीगणेशजी, भगवान् श्रीकृष्णजी, श्रीव्यासजी, श्रीशुकदेवजी तथा श्रीमद्भागवत ग्रन्थ की षोडशोपचार पूजन की विधि एवं प्रथा है। इसी प्रकार रामचरितमानसके अनुष्ठानारम्भ में भी श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी आदि से लेकर २१ तक पूजन करके २२वें श्रीसीतारामजी का पूजन करके मानस पारायण प्रारम्भ करने का कम पूर्ववर्ती महानुभावों द्वारा चला आता है। ❁ इस पूजन क्रम का आधार सनातन धर्मका परम प्राचीन ग्रन्थ महाशिवसंहिता के भव्योत्तर खण्ड का 'श्रीरामार्चन विधि एवं माहात्म्य' नामक ६ अध्याय का एक अंश है।

केवल व्यास गद्दी बनाकर गणेश एवं नवग्रह का स्थापन करके रामायण पाठ का कोई विहित आधार नहीं पाया गया है।

❁ पारायण के आरम्भ में जिन २१ का पूजन आवरण रूप से करना चाहिये उनके पूजन की स्पष्ट विधि न देकर रामचरितमानस की छपने वाली प्रतियों में अब कुछ दिनों से केवल प्रत्येक के आवाहन मन्त्र मात्र को ही देकर प्रकाशकों ने अपने कर्तव्य की इति श्री समझकर संतोष कर लिया है। परन्तु केवल आवाहन मन्त्र मात्र जान लेने से ही वह पूजन सर्वसाधारण लोग नहीं कर सकते हैं। अतएव सर्वसाधारण के सुगमता से समझने लायक मैंने सावरण मानस पूजन की संक्षिप्त सांगोपांग विधि सरल एवं सुस्पष्ट रूप से लिख दिया है। वह मानसपारायण पूजन पद्धति' नाम से 'मानससंघ रामवन सतना' से प्राप्य है। अब तो उसकी नकल बहुतों ने अपने नाम से छपा लिया है।

प्रश्न २८—क्या उपरोक्त अखण्डपाठ का विधान कहीं हैं? यदि नहीं तो विधिहीन किये हुये पाठ का फल ही क्या होगा।

जिस कार्य से फल नहीं क्या वह धार्मिक कार्य कहा जा सकता है? और क्या उसके प्रचार में किया हुआ व्यय व्यर्थ नहीं होगा।

उत्तर २८—गोस्वामीजी के सामयिक कवि पसका निवासी बाबा वेणीमाधवदासजी ने अपनी आँखों देखी बात मूल गोसाईं चरित्र में लिखी है कि—'चरखारि के ठाकुर की कन्या का व्याह धोखे से एक कन्या के साथ ही हो जानेपर दयावश गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीराम-चरितमानस का नवाह्निक पाठ उस दूलह बनी हुई कन्या को सुनाया। नवें दिन पाठ समाप्त होते ही सचमुच उसका नारी शरीर नराकार में परिणत हो गया। मानस का यह अनुपम माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सनातन धर्मानुयायी जनता ने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के लिये हुये बिश्राम के अनुसार श्रीरामचरितमानस के नवाह्निक पाठ को सनातन धर्म का एक प्रधान अंग मान लिया है। इस नवाह्न पारायणके आज तक न जाने कितनों का ऐहिकामुष्मिक कल्याण हुआ है और भविष्य में होता रहेगा। अतः श्रीरामचरितमानस का पारायण अधार्मिक एवं विधिविहीन नहीं कहा जा सकता। सर्वकल्याणकारी होने से वह परम धार्मिक कार्य माना जा सकता है और माना भी जाता है अतः इसमें किया हुआ व्यय किसी तरह व्यर्थ नहीं माना जा सकता है।

प्रश्न २९—क्या रामायण की चौपाइयोंसे हवन कराने की विधि हैं? और क्या इन चौपाइयों द्वारा दी हुई आहुतियाँ देवताओंको पहुँचती हैं? यदि नहीं तो क्या यह प्रथा वेद तथा पुराणों के हवन मन्त्रोंका उल्लंघन करती हुई भी धर्म के अन्तर्गत मानी जायेगी? और क्या कालान्तर में इससे वैदिक तथा पौराणिक धर्म का नाश न होगा।

उ० २९—श्रीमद्भागवतपारायण की विधि में जो पद्मपुराण उत्तरखंड श्रीभागवत माहात्म्य अध्याय ६ श्लोक ६० में निम्नविधि है कि उसके

अनुसार–'प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना द्रव्यामस्य च ।' यही निष्कर्ष निकलता है कि जिससे अनुष्ठान किया जाता है अर्थात् अनुष्ठान काल में जिसका जाप या पाठ किया जाता है उसीसे हवन तर्पण आदि करना सनातन प्रथा है, और वे दी हुई आहुतियाँ देवताओं को प्राप्त होती हैं जिसके प्राप्त होने पर देवता लोग प्रसन्न होकर समुचित सिद्धियाँ प्रदान करते हैं । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण शावरीय मन्त्रों द्वारा किया हुआ हवन यदि व्यर्थ जाता, यदि वे आहुतियाँ तत्तद् देवताओं को न पहुँचतीं तो उनमें सिद्धि कैसे आती ? और शावरी मंत्रों की सिद्धि आज दिन भारत के कोने-कोने में व्याप्त हैं । यद्यपि कि शावर मन्त्र वेद पुराण में उल्लिखित नही हैं, तो भी उसके प्रचार से किसी भी वैदिक एवं पौराणिक सनातनधर्म का नाश नहीं हुआ है । इसी प्रकार श्रीरामचरितमानस के पाठ हवन, तर्पण आदि से शुद्ध सनातन धर्म की किसी प्रकार की भी क्षति नहीं हो सकती ।

एकाध सनातनधर्मी कहलाने वाले लोगों से यह कहते सुना गया है कि रामचरितमानस में तो बहुत से अपभ्रष्ट शब्द हैं जोकि प्रचलित व्याकरणों द्वारा किसी तरह भी शुद्ध नहीं माने जा सकते इसलिये श्रीरामचरित मानस की पंक्तियों द्वारा हवन आदि नहीं करना चाहिये । इस कथन द्वारा वे सनातनधर्मी कहलाने वाले सज्जन श्रीरामचरितमानसके साथ ही वेदों द्वारा अनुष्ठान, हवन आदि का भी निषेध कर रहे हैं क्योंकि वेदों में भी कितने ऐसे शब्द हैं जिन्हें कि उनके मन्तव्यानुसार अपभ्रष्ट कहा जा सकता है कारण कि वे भी तो प्रचलत व्याकरणों द्वारा किसी तरह शुद्ध प्रमाणित नहीं किये जा सकते । छान्दस् प्रयोग और पौराणिक अशुद्धियों को आर्षप्रयोग कहकर अपने मन को सन्तोष दे लेते हैं । उसी तरह श्रीरामचरितमानस में भी दिखाई पड़ने वाले अशुद्ध प्रयोगों को आर्षप्रयोग मान लेना चाहिये । क्या गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी एक महान ऋषि नहीं थे? परन्तु इसी

आधार पर शुद्ध पाठ को 'गीताप्रेसी एवं वैसवाड़ी रामायणों की तरह भ्रष्ट न कर डालना चाहिये। अस्तु—रामचरितमानस की पंक्तियों द्वारा हवन करने में किसी प्रकार से भी सनातन वैदिक धर्म का विच्छेद नहीं हो सकता।

३०(क)—उपरोक्त पाठमें जिन द्विज व्यक्तियों को प्रातः मध्याह्न तथा सायं संध्या के समय पाठ करना पड़ता है उनका सन्ध्योपासन तो उस समय हो ही नहीं सकता। क्या इस प्रकार नित्य कर्म को छोड़ने से भी वे पाप के भागी नहीं बनते और क्या इस पाप का प्रायश्चित उस समय रामायण पढ़ने से हो जाता है।

उ०३०—(क)श्रीगोस्वामीजीने अखण्डपारायणका नियम न करके नवाह पारायण ही सुनाकर उस स्त्री को पुरुष बनाया था, जिससे कि आगे करने वाले किसी द्विजातीय के संध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों में किसी प्रकार की बाधा न पड़ सके।

(ख) यदि संध्या वन्दनादि के लिये बीच में पाठ बन्द कर देना पड़े तो भी वह पाठ खण्डित नहीं माना जा सकता है।

(ग) सबसे मुख्य बात तो यह है कि भगवत्पूजा, भगवन्नामजप, भगवच्चरित्र पाठ किंवा किसी भी भगवत्सम्बन्धी कैंकर्य्य के कारण यदि संध्यावन्दनादि कर्मों की अवहेलना भी हो जावे तो उससे किसी तरह का पाप नहीं लग सकता क्योंकि अन्य धर्म कर्म सामान्य धर्म हैं तथा भगवत्सम्बन्धी धर्म विशेष धर्म है और सनातन नियम ऐसा है कि—'सामान्य धर्मतो नूनं विशेषो वलवान् भवेत्।'

अतः भगवद्धर्म(विशेषधर्म)की अपेक्षा संध्यावन्दनादि (सामान्य) धर्मउपेक्षणीय हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण सनातनधर्म की एक महान शाखा श्रीरामानुजीय (आचारी) वैष्णवों में प्रचलित बड़गल और

तिगल तिलक का इतिहास है इसलिये परमपवित्र भगवद्यश अर्निनिशि गान करना चाहिये । यथा—

'रघुवीर चरित पुनीत निशि दिन दास तुलसी गावई ।'

प्र० ३१—'उपरोक्त अखण्डपाठोंमें जिन देवताओंका आवाहन किया जाता है । उनका नैमित्तिक कर्म तो होता ही नहीं है और निर्गुण-स्वरूप को छोड़कर सगुण रूप में नित्य नैमित्तिक कर्म भोग–शयन–विश्राम आदि होना चाहिये । ऐसी दशा में क्या ये पाठ देवताओं को कष्टप्रद नहीं होते ।

प्र० ३२—जब उपरोक्त पाठोंकी कोई विधि नहीं उनका कोई फल नहीं और ऊपर दिया हुआ व्यय व्यर्थ है तो क्या ऐसी दशा में इन पाठों को त्याग कर उनके स्थान में विधिपूर्वक नवाह पारायण तथा मास पारायण क्यों न किया जाये ।

प्र० ३३—क्या व्यासगद्दीपर ब्राह्मणके अतिरिक्त और किसी जाति को भी बैठकर पाठ करने का अधिकार है ।

यदि नहीं तो क्या ब्राह्मण के स्थान में अब्राह्मण को बैठाकर पाठ कराने की प्रथा ब्राह्मण जाति के अधिकार को छीनती हुई वर्णा-श्रम–धर्म का नाश नहीं करती ।

क्या उपरोक्त रीतियों से धर्म प्रचार करने वाले लोग भी सना-तन धर्म के सिद्धान्तों को वास्तविक रूप से प्रचार कर रहे हैं । और क्या इस प्रचार से हिन्दू जनता का कल्याण हो सकता है ।

प्र० ३४—यदि उपरोक्त अखण्डपाठोंकी विधि है तो क्या एक एक घण्टे पाठ करने वाले को पूर्ण पाठ का फल मिलता है या केवल घंटा भर का । तथा आवाहन किये हुये देवताओं का नित्य नैमित्तिक कर्म स्नान–भोग–शयन–विश्राम आदि किस समय पर होना चाहिये ।

उ० ३१—अनुष्ठारम्भके दिन जिन २१ आवरणस्थ देवताओंके सहित श्रीसीतारामजी का पूजन किया जाता है जितने दिन तक पाठक्रम

चलता रहे उनने दिन तक उनका प्रतिदिन दैनिक कर्म स्नान-भोग-शयन-विश्राम आदि सविधि होना चाहिये। यदि नित्य विस्तृत रूपमें षोडशोपचार द्वारा न हो सके तो संक्षिप्त प्रकार से ही अर्थात् व्यष्टि या समष्टि रूप से उनका दशोपचार पंचोपचार द्वारा ही पूजन होना चाहिये अवश्य, नहीं तो उन्हे कष्ट होना अनिवार्य है। इसलिये पूजन सम्बन्धी ग्रन्थों में लिखा है कि—

'आत्मवत्सेवनं कुर्य्यात्० ।'

यह आवरण देवताओं के दैनिक पूजनबिधि—'मानस पारायण पूजन पद्धति' में स्पष्ट रूप से दिया गया है।

३२—अखण्ड पाठ तो वही कहाता है जिसको कि एक ही व्यक्ति एक ही बार में एक आवृत्ति पूर्ण करदे। कई आदमी मिलकर बारी-बारी से एक ही आवृत्ति को थोड़ा थोड़ा करके समाप्त करें तो वह अखण्ड पाठ नहीं कहा जा सकता, और उसमें कुछ विशेष लाभ नहीं है। इससे तो सविधि नवाह पारायण या मास पारायण उत्तम है, इसे तो आप भी स्वीकार करते ही हैं।

३३—व्यासगद्दी पर बैठकर पाठ करने या कथा कहनेका अधिकार सर्व वर्णों का है। जैसा कि सनातन धर्म में माननीय अनेक सात्विक ग्रन्थों में लिखा मिलता है। यथा—

'य एवं श्रावयेन्नित्यम्० ।' (भाग० १२।१२।५८)

यहाँ सनातन धर्माचार्य भगवान् वेदव्यासजी ने किसी वर्णविशेष का ही गिर्देश न करके 'यः' लिखा अर्थात् कोई भी किसी वर्णयाआश्रम का हो 'नित्यम्' नित्य ही अर्थात् किसी कारण विशेष के उपस्थित होने पर किसी काल विशेष में ही नहीं अपितु सदा सर्वदा 'श्रावयेत्' सुनावै। अर्थात् सुना सकता है। इसी अध्याय में थोड़ा और आगे चलकर और भी स्पष्ट कर दिया है कि—

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्धेत्पातकात् ।।
(भाग० १२।१२।६४)

यहाँ सर्ववर्णों के लिये केवल एक 'अधीत्य' क्रिया ही दी गई है। 'शृणुयात्' आदि नहीं।

पुराणों तक ही नहीं वेदोपवृंहणभूत इतिहास श्रेष्ठ आद्यार्ष काव्य श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और पंचमवेद श्रीमहाभारत का भी अधिकार सर्ववर्णों के लिये समान ही है। यथा—

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्,
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपिमहत्त्वमीयात् ।।
(वाल्मी० १।१।१००)

यहाँ स्पष्ट शब्दों में चारों वर्णों के लिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के सम्बन्ध में 'पठन्' मात्र लिखा है।

श्रीमहाभारत के लिये भी लिखा है कि—

श्रद्दधानः सदायुक्तः सदाधर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात्प्रमुच्यते ।।
(महाभारत आदिपर्व १।२६०)

इस श्लोक में 'नरः' कहकर मनुष्यमात्र को अधिकार दिया गया है।

यश्चैनं श्रावयेन्नित्यम्० । (म० भा० आदिप० १।२६६)

यहाँ भी 'यः' जो कोई (किसी वर्णाश्रम का बन्धन नहीं) 'श्रावयेत्' सुनावै।

इतिहासमिमंपुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्तिये नराः ।
(म० भा० १।९५।८४)

यहाँ सम्पूर्ण महाभारत सुनाने के लिये कहा गया है कि जो कोई मनुष्यमात्र सुनावै अर्थात् कथा कहने का सर्वाधिकार है नियताधिकार नहीं ।

श्रीरामचरितमानसमें भी तो किसी वर्ण विशेष को अधिकार न देकर सब किसी को एक समान अधिकार देते हुये जगह जगह केवल यही लिखा है कि चाहे जो कोई इसे कहे सुने । यथा—

जे गावहिं यह चरित संभारे ।

जे यहि कथहिं सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ।।

इन उपर्युक्त चौपाइयों में स्पष्ट रूप से सबके लिये व्यासगद्दी पर बैठकर कथा कहने के लिये कहा गया है । इसी तरह—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं ।

इत्यादि में भी कहा गया है ।

आपने अब्राह्मण के उदाहरणमें सोनार और पटला जाति का नाम विशेष रूप से अपनी शब्दावलीमें उद्धृत किया है । पटला किस जाति को कहते हैं ? यहाँ श्रीअवध की तरफ उसे क्या कहते हैं वे क्या करते हैं, मेरी समझ में नहीं आया । परन्तु सोनार, बढ़ई, लोहार, आदि वैश्यकर्मोपजीवी जातियों को तो आजकल बीसवीं शताब्दी के सनातन धर्म के ठेकेदारों ने ही ब्राह्मण वर्ण करार दे दिया है । ⊙ कौन ऐसा साक्षर सनातन धर्मानुयायी होगा जो प्रतिलोमज वर्ण-

---

⊙ देखिये पं० छोटेलाल शर्मा द्वारा जयपुर से प्रकाशित 'सप्तखण्डी जाति निर्णय' नामक ग्रन्थ का 'ब्राह्मण निर्णय खण्ड' उसमें महाभयानक उलटफेर किया है । एकाध ब्राह्मण जातियोंको तो शूद्र बताया गया है और कितनी शूद्रादि जातियों को ब्राह्मण बताया गया है, पैसे के लोभ से ।

संकर सूत कुलोत्पन्न सूत रोमहर्षण और सौति(सूत के पुत्र)उग्रश्रवा-रौमहर्षणि को न जानता होगा। क्योंकि सनातन धर्म का ऐसा कोई भी इतिहास, पुराणादि ग्रन्थ नहीं है जिसकी कि इन बाप बेटों ने शौनक आदि अट्ठासी हजार ब्रह्मर्षियों के मध्य में व्यासगद्दीपर बैठकर सैकड़ों वर्षों तक नैमिषक्षेत्रमें कथा न सुनायी हो। और यदि उनका अधिकार न होता तो सर्वज्ञ भगवान् वेद व्यासजी सूत को सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ाते ही क्यों? और वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से भी तो प्रतिलोमज (शंकर वर्ण) से स्वकुल प्रसूत किसी भी वर्ण वाले श्रेष्ठ ही हैं। मनुष्यों की तरह पशुओं पक्षियों में भी वर्ण व्यवस्था है और वह मनुष्यों से सुदृढ़ एवं व्यापक व्यवस्था है। काक पक्षियों में चाण्डाल (वर्णवाह्य अन्त्यज) होता है। महर्षिलोमश के श्राप से भुशुण्डिजी काक हो गये हैं, वे सदैव हरि कथा ही सुनाया करते हैं। यहाँ तक कि वे गरुड़देव भी जाकर काकभुशुण्डिजी से कथा सुना जिन गरुड़जी के पखनों से हरदम सस्वर सामवेद का गान होता रहता है जो गरुड़ वेदमयात्मक विग्रह वाले हैं जिन गरुड़ के लिये श्रुतियाँ कहती हैं कि—

'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृतेशिरो गायत्रं चक्षुः।'
'वहेयं यज्ञं प्रविशेयं वेदान्०।'
'तस्य गायत्री जगती च पक्षावभवताम्।
उष्णिक् च त्रिष्टुप् च पंक्तिश्च धुर्यौं।
वृहत्येतोक्तिरभवत्। स एतं छन्दो रथमास्थाय-
एतमध्वानमनु समचरत्॥' इत्यादि [आ०मं०भाष्यात्]

कुछ यही नहीं कि केवल वेदात्मा विहंगेश्वर श्रीगरुड़देवजी ही काकजी से कथा सुने हों। किन्तु समस्त सनातनधर्मियों के परमपूज्य-देव भगवान् शंकरजी भी कुछ काल तक काकजी से कथा सुने थे और और परमवेदज्ञ योगिवर्य ब्रह्मर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजी तो श्रीकाकभुशुण्डिजी

के शिष्य 'श्रीरामचरितमानस के छात्र' ही हैं। यदि यह कहा जाय कि काकभुशुण्डिजी प्रथम तो ब्राह्मण ही थे काक तो लोमशजीके श्राप से हो गये हैं तो इस कथन के साथ साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि भुशुण्डिजी ब्राह्मण शरीर प्राप्त करने के पहिले शूद्र कुल में जन्मे थे। उसके पहिले वे किस जातिमें जन्म पाये थे इसका कुछ पता ठिकाना ही किसी को नहीं है। ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारद तो पहिले जन्म में दासी पुत्र थे अतएव किसी के पूर्वजन्म की जाति से कुछ भी प्रयोजन नहीं रखा जाता है। लोक व्यवहार में तो वर्तमान की ही व्यवस्था मानकर कार्य करने की सनातन प्रथा है।

केवल ऐहिक फल प्राप्ति के लिये जो अनुष्ठान किये जाते हैं उनमें ही वर्ण व्यवस्था का विचार आवश्यक माना जाता है, किन्तु जो पारलौकिक अनुष्ठान हैं उनमें तो वर्ण व्यवस्था का प्रपंच पंचत्व को प्राप्त हो जाता है, और भगवच्चरित्र तो ऐहिकामुष्किक सर्व प्रकार के फलों को प्राप्त कराने वाला सर्वोत्कृष्ट परम प्रबल एवं अन्य साधनापेक्षा परमसुलभ साधन है। इसलिये भी और उपर्युक्त प्रमाणों को देखते हुये भी यदि कोई श्रीरामायणपाठ में वर्णभेद करै तो वह व्यक्ति रामायणके आदेश को खण्डित करने के कारण श्रीरामायणजी का चरित्रात्मक भगवान्का अपमान करने वाला न कहा जाकर दूसरा क्या कहा जा सकता है? और ऐसा करके भी यदि वह सनातन धर्मीय ही कहलाने का दावा करै तो उसके विचार एवं बुद्धि की बलिहारी है। उसके इस भगवद्भागवतापराध का क्या प्रायश्चित होगा? यह तो सर्वनियन्ताभगवान् ही निर्णय कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

आप पूँछ सकते हैं कि इस उपर्युक्त कथन से और उत्तरकांड के कलि धर्माधर्म निरूपण में कहे गये—

शूद्र द्विजन उपदेशहि ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
शूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।

से बड़ा बिरोध पड़ता है?

इसके उत्तर में कहा जायगा कि विरोध कुछ नहीं है किन्तु बिना अच्छी तरह बिचार किये विरोधाभास तो अवश्य मालूम पड़ सकता है । इन दोनों चौपाइयों के विचारने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो व्यक्ति शूद्र होकर गले में जनेऊ डालकर (अपना वर्ण छिपाकर) कुदान अर्थात् सूतक, मृतक, तीर्थ, घाट आदि का संकल्प पूर्वक दान लेते हों, द्विजाति बन द्विजातियों को ज्ञानोपदेश देते हों, स्ववर्णाचारसे भिन्न द्विजवर्णोचित ऐहिकफल प्राप्त करने के लिये जप, तप, ब्रत, दान आदि करते हों, उनका बरासन (व्यासगद्दी) पर बैठकर पुराणादि का कहना अनुचित है । ऐसों के ही लिये श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि—

शूद्राः प्रतिगृहीष्यन्ति तपो वेषोपजीविनः ।
धर्मं वक्ष्यत्यधर्मज्ञा ह्यधिरुह्योत्तमासनम् ।।
(श्रीमद्भाग० १२।१२।३८)

अतः वह निषेध अधर्मज्ञ (धर्म के तत्व को न जानने वाले) अभक्त (श्रीहरि की भक्ति न करने वाले) शूद्रों के लिये है, और जो शूद्र कुलोत्पन्न होकर भी सदाचारी भगवद्भक्ति करने वाले हों उनके लिये नहीं क्योंकि वे तो शूद्र कहे जाने योग्य रह ही नहीं जाते कारण कि वे तो भगवान् को परमप्रिय हो जाते हैं । जैसे कि स्वयं भगवान् की श्रीमुख वाणी है कि—

भक्तिहीन विरंचि किन होऊ । सब जीवन सम प्रिय मोहिं सोऊ ।
भक्तिवन्त अति नीचौ प्राणी । मोहि परमप्रिय असि मम बाणी ।

'न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचो प्रियः ।'
'विप्राद्विषंद्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात्
श्वपचो वरिष्ठः ।' (भाग० ७।९।१०)

इत्यादि बहुत प्रमाण हैं और इसीलिये कहा गया है कि—

न शूद्राः भगवद्भक्ताः विप्राः भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णा च ते शूद्राः ये न भक्ताः जनार्दन ।।

अतएव जो शूद्र ढोंग करके—

नानावेश वनाइ दिवसनिशि परवित जिहितेहि जुगुतिहरें।

को चरितार्थ करते हुये द्विजातियों को धोखा देकर ठगने के लिये केवल धन कमाने के लिये ही पुराणोंकी कथा कहते हों, कहना चाहते हों वे व्यासगद्दी पर बैठकर कथा पुराण कहने के अधिकारी नही हैं। परन्तु जो भगवद्भक्त हैं—

'दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा ।'
'चौथि भक्ति मम गुणगण करइ कपट तजि गान ।'

के अनुसार भगवद्भक्ति समझकर निष्कपट भाव से भगवत्कथा कहना चाहें, भगवच्चरित्रका पाठ करना चाहें, भगवच्चरित्रात्मक प्रबंधों का अध्ययन करना चाहें वे ही—

राम कथा के तेइ अधिकारी ।

भगवत्कथा के सच्चे अधिकारी हैं । उन्हें रोकने का प्रयासमात्र करना महाभागवतापराध है। इस विषय को और सुस्पष्ट एवं विस्तृत रूप से जानने की जिन सज्जनों की अधिक जिज्ञासा हो उन्हें महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी की लिखित 'मन्त्रमहिमा' नामक पुस्तिका देखनी चाहिये । उस पुस्तिकामें पूज्य श्रीमालवीयजीने शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह सिद्धान्तित कर दिया है कि भगवत्कथा चाहे वैदिक हो चाहे पौराणिक या ऐतिहासिक उसके कहने और सुनने का स्त्री और शूद्रों का भी अधिकार पूर्णरूपेण है । स्थानाभाव के कारण मन्त्र महिमा में दी हुई शास्त्रीय प्रमाणिक व्यवस्था मैं यहां उद्धृत नहीं कर रहा हूँ पाठकगण क्षमा करेंगे ।

३४—एक घण्टा पाठ करने वालों को उतने का ही फल मिल सकता है जितना कि वह पाठ कर सका होता है। केवल थोड़े से पाठ करने से सम्पूर्ण ग्रन्थ के पाठ का फल नहीं मिल सकता।

नोट :—इन प्रश्नों में २१ प्रश्न तो कलकत्ता निवासी प्रसिद्ध रामभक्त सेठ श्रीनिवासदासजी पोद्दार के हैं, २२ से २६ तक के प्रश्न भीष्मपुर (बघेलखण्ड) के कुँअर बीरेन्द्रप्रतापसिंहजी के हैं, और २७से ३४ तक के प्रश्न सनातनधर्मसभा (शाहजहाँपुर) के मन्त्रीजी के हैं।

शंका–६५, ६६, ६७

(१) आप वर्ण-व्यवस्था जन्मना मानते हैं अथवा कर्मणा। (२) वैष्णव का बहिरंग चिह्न क्या है। (३) वैष्णव सम्प्रदाय कितनी है। [शारदा प्रसाद मन्त्री मानस संघ]

समाधान

१—पूर्वजन्म के कर्मानुसार किसी वर्ण में जन्म होता है। इसलिये मैं जन्मना वर्ण मानता हूँ। हाँ कर्मणा उत्थान पतन मानता हूँ।

२—पद्मपुराण का विख्यात श्लोक है—

यत्कण्ठलग्नतुलसी नलिनाक्षमाला,
ये वै ललटफलकेलसदूर्ध्वपुण्ड्रा।
यद् बाहुमूलपरिचिन्हितशंखचक्रास्ते
वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥

जिनके कण्ठ में सदैव तुलसी (कण्ठी) लगी हो अथवा जो हर-दम कमलाक्ष की माला धारण करता हो। जिसकी भुजायें श्रीहरि के आयुधों से चिह्नित हों और जिसके मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक हो वे वैष्णव ही समस्त भुवन को पवित्र करते हैं जिनमें उपर्युक्त चारों वाह्य चिह्न हो पूर्ण वैष्णव हैं, और जिनमें इन वाह्य चिह्नों में कुछ कमी हो वे अर्द्ध वैष्णव हैं।

३—श्रीजी, लक्ष्मीजी, सनकादिकजी, ब्रह्माजी और रुद्रजी प्रवर्तित पाँच वैष्णव सम्प्रदाय हैं।

श्रीश्चते लक्ष्मी च पत्न्यौ०। वजुर्वेद ३१।२२

सगुण साकार परब्रह्म की दो पत्नियाँ हैं। जेष्ठा पत्नी श्री हैं, और दूसरी पत्नी लक्ष्मीजी हैं। श्री(सीता)जी प्रवर्तित उसी श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के (कलिके) परमाचार्य जगद्गुरु भगवदवतार श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज हैं। लक्ष्मीजी प्रवर्तित वैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य जगद्गुरु शेषावतार स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज हैं। सनकादिक प्रवर्तित सम्प्रदाय के परमाचार्य चक्रावतार स्वामी श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज हैं। ब्रह्माजी प्रवर्तित वैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य ब्रह्मावतार श्रीमाधवाचार्यजी महाराज हैं। मुख्यतः श्रीराधाकृष्ण के सम्मिलित अवतार महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव हैं, और रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक शंकरावतार अथवा विष्णवतार जगद्गुरु स्वामी श्रीविष्णुस्वामी एवं अग्न्यावतार जगद्गुरु स्वामी श्रीबल्लभाचार्यजी हैं।

इन सबकी शाखा–प्रशाखायें बहुत हैं।

शंका—६८

मानस चौपाइयों द्वारा हवन हो सकता है या नहीं, यदि हो सकता है तो क्या प्रमाण है?

— दलाल भँवरलाल लढ़ा, भूपालगंज (भीलवाड़ा)

समाधान

श्रीसम्वत् १८८४ वि० तक वर्तमान रहने वाले पं० श्रीरामगुलामजी द्विवेदी भारत के प्रसिद्ध विद्वान् रामायणी थे उन्होंने बृहद्ब्रह्म रामायण और महाकाल संहिता से 'श्रीमद्रामचरितमानस रामायण माहात्म्य' तथा 'नवाह्न पारायण श्रवण विधि' का संग्रह किया था, जो अब श्रीरामानन्द आश्रम जनकपुरधाम से पुनः प्रकाशित प्राप्य है।

उस बृहदब्रह्म रामायणान्तर्गत मानस पारायण विधि के दूसरे अध्याय में वर्णित है कि जब शिष्य ने पूँछा कि—

यद्होमं भोजनं योग्यं सर्वं ब्रूहि मुनीश्वर। २।

तब समस्त विधियों को विस्तार से बताते हुये आचार्य ने बताया कि—

अवसाने पुनः कार्यं जय रामेत्ययं ध्वनिः।
सम्पूर्णदिवसे विप्र होमः कार्यो विधानतः। ३२।
रामायणेनोक्त मन्त्रेण (पद्येन) पंचांगेन यथाविधिः। ३३।

श्रीरामचरितमानस के सभी पद्य मन्त्र हैं और इस दिव्यतर ग्रन्थ के पद्यों के पाँच अंग हैं—

१—श्लोक, २—सोरठा, ३—दोहा, ४—चौपाई, ५—और छन्द।

अतः केवल चौपाई ही से नहीं अपितु सभी पद्यों से हवन करना चाहिये।

शंका—६८

पूज्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज किस सम्प्रदाय के थे और उनका क्या सिद्धान्त था अर्थात् वे किस बाद को मानने वाले थे?

१—पं० श्रीरामरत्नदासजी 'तरुण' जयपुर।
२—पं० गोपालदत्तपाण्डेय रामायणी [आरा]

समाधान

हिय कर गर तुलसी लसत, तुलसीसम प्रभु प्रीय।
राम लखन सिय धारि उर, रटत राम रमणीय॥
तुलसी सम पावन परम, तुलसी हुलसी लाल।
जयति जगत तारन तरन, मानस मञ्जु मराल॥

सम्प्रदाय में अनेक भेदोपभेद के समुदाय होते हैं, जो सभी सम्प्रदायों में कुछ शाब्दिक हेर फेर के साथ पाये जाते हैं। जैसे सत्य,

अहिंसा, दान, दया, परोपकार, ईश्वराराधनादि हैं। और कुछ ऐसे चिह्न होते हैं जो प्रत्येक सम्प्रदाय में अलग-अलग होते हैं। उन चिह्नों में छः वस्तुयें प्रधान होती हैं। १—इष्टदेव, २—इष्ट मन्त्र, ३—वेष, ४—वाद, ५—प्रणामाभिवादन के विशिष्ट शब्द और ६—आचार्य। उदाहरण में एक नवीन तर और एक नवीनतम सम्प्रदायका प्रत्यक्षीकरण (उदाहरण दे) करके तब श्रीगोस्वामीपाद की सम्प्रदाय एवं तद्-गत वाद आदि का वर्णन किया जायेगा।

हाँ तो नवीनतर सम्प्रदाय है आर्य समाज जिसमें—

१- इष्ट—निर्गुण निराकार ब्रह्म।

२- मन्त्र—प्रणव (एवं कुछ व्याहृतियाँ भी)।

३- वेषभूषा—कोई निश्चित नहीं।

४- वाद—ब्रह्म जीव और प्रकृत्यात्मक वैदिक त्रैत वाद।

५- प्रणामाभिवादन के शब्द—नमस्ते।

६- आचार्य—महर्षि स्वामी श्रीदयानन्दजी सरस्वती।

नवीनतम सम्प्रदाय है कांग्रेस, जिसमें—

१- इष्ट—है बड़ी बड़ी पदवियाँ प्राप्त करना (ईश्वर या कोई अन्य देवता नहीं, इसी से इसे धर्मनिरपेक्ष अर्थात् हिन्दू धर्म विहीन घोषित किया गया है काँग्रेस के कर्णधारों द्वारा ही)।

२- मन्त्र—रघुपतिराघव राजाराम। पतित पावन सीताराम॥ कभी था पर अब नहीं रहा।

३- वाद—शिश्नोदर परायणतावाद उपनाम अर्थवाद उपनाम रोटीवाद जिसका साधन बना रखा है 'निर्बल हिन्दू उत्पीड़न'।

४- प्रणाम के शब्द—जयहिन्द यत्र-तत्र।

५- वेष—खद्दर की खाजा टोपी, खद्दर का ही कुर्ता, चद्दर, बिना बाँह की बंडी, चप्पल, झोला और फाउन्टेनपेन।

६- आचार्य—विश्ववन्द्य महात्मा गांधीजी नाममात्र के लिये।

आज उनके सदुपदेशों को कोई भी कांग्रेसी अपने आचरणमें न लाता है और न लाना चाहता है ।

श्रीगोस्वामीजीने अलग से अपनी जीवनी अर्थात् आत्म-कथा नहीं लिखी है, जिससे कि उनके सम्बन्धमें कुछ बिशेष जाना जाता । पूज्य-चरण श्रीगोस्वामीजी के सभी काव्य भगवच्चरित्रात्मक ही हैं । हां गोस्वामीजीमहाराज की गुरुपरम्परा निर्भ्रान्त है । सभी विशिष्ट विद्वानों ने स्वामी श्रीनरहरिदासजी (नरहर्यानन्दाचार्यजी) को मानसकार का गुरू माना है, जोकि स्वामी श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी के शिष्य और भगवदवतार श्रीसम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु अनन्त श्रीस्वामी श्रीरामानन्दाचार्य भगवत्पाद के प्रशिष्य थे । भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज तो श्रीराम, सीता, हनुमान्, ब्रह्मा, बशिष्ठ, पराशर, व्यास, शुक, बोधायन प्रवर्तित श्रीसम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य थे । आपके शिष्य प्रशिष्य प्रवर्तित लालश्री, विन्दुश्री (बेंदी), शुक्लश्री (लश्करी) एवं लुप्तश्री (चतुर्भुजी) इन प्रधान चार ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलकयुक्त सैंतीस द्वारे भारत में सर्वत्र फैले हैं ।

१—इस सम्प्रदायमें वेदवेदान्तवेद्यपरब्रह्म श्रीसीतारामजीही इष्टदेव हैं

२—वैदिकषडक्षर तारकब्रह्म श्रीराम मन्त्रराज ही मन्त्र है ।

३—गले में तुलसी और मस्तक पर ऊर्ध्व-पुण्ड्र-तिलक ही इस सम्प्रदाय का विशिष्ट वेष है ।

४-विशिष्टाद्वैत ब्रह्मबादही इस सम्प्रदायका वेदान्तैकवेद्य वाद है।

५—भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यपाद आचार्य हैं ।

६—और परस्पर प्रणाम का शब्द दण्डवत है ।

कुटिलकाल के प्रवाह ने अन्यों की तरह इस सम्प्रदाय में भी अनेक तरह का सांकर्य ला दिया है, जैसे श्रीसीतारामजीमें सख्य दास्य और वात्सल्य भावना के अतिरिक्त अन्य अनेकतरहकी भावनायें,जिन्हें कि अन्य सम्प्रदायोंका अन्धानुकरणमात्र ही कहा जा सकता है, प्रणाम में दण्डवतके अतिरिक्त अनेक अन्य शब्द या शब्दावलीका कथन आदि आदि । अस्तु—

यह शिष्ट कवि परंपरा है कि कवि अपने इष्ट का ध्यान इस तरह वर्णन करता है कि जिससे उसकी वेष-भूषा का निदर्शन हो जाता है, वह अपने सम्प्रदाय की मुख्य मुख्य बातें अपने काव्य में यत्रतत्र निहित रखता ही है। मानसकार पूज्य श्रीगोस्वामीजी के—

१—इष्टदेव श्रीसीता लक्ष्मण विशिष्ट श्रीरामजी हैं। यथा—

बहुरि कहौं जस छवि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रतिलसई।

'सीता लक्ष्मण संयुक्त पथि गतं रामाभिरामं भजे।'

राम वाम दिशि जानकी, लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान मय, सुर तरु तुलसी तोर॥

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप वाण धर राम।
ममहिय गगन इन्दु इव, बसहु सदा निःकाम॥

अनुज जानकी सहित निरन्तर। बसहु राम नृप मम उर अन्तर।

२—इष्ट मन्त्र (गुरु मन्त्र) श्रीराम मन्त्र—

मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
राम मन्त्र मोहिं द्विजवर दीन्हा। हित उपदेश बिबिध विधि कीन्हा।

'जे राम मन्त्र जपन्त सन्त, अनन्त जन मन रंजनम्।'

३—वेष- गले में तुलसी, मस्तक में ऊर्ध्व-पुण्ड्र-तिलक। यथा—

करमठ कठ मलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञान विहीन।
तुलसी त्रिपथ विहाइगे, राम दुआरे दीन। दोहावली।

कुंजर मणि कण्ठा कलित, उरनि तुलसिका माल।
वृषभ कन्ध केहरि ठवनि, बल निधि बाहु बिशाल॥

कम्बु कण्ठ भुज विशाल, उरसितरुन तुलसिमाल।
मन्जुल मुकतावलि युत, जागति जिय जोहैं॥

गीतावली। ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक—

भृकुटि भाल विशाल राजत, रुचिर कुंकुम रेख।
भ्रमर द्वै रवि किरण लाये, करत जनु उनमेख॥

नयन सरोज कुटिल कच कुण्डल, भ्रुकुटि सुभाल तिलक शोभासार।
मनहु केतुके मकर चाप शर, गयो बिसरि मोहित भयो मार ॥
भाल बिशाल विकट भ्रुकुटी विच, तिलक रेख रुचि राजै ।
मनहु मदन तम तकि मरकत धनु, युगल कनक शर साजै । गीतावली।

४—बाद– विशिष्टाद्वैत ब्रह्मवाद (इसके लिये विस्तार से जानना हो तो मानस संघ से प्रकाशित मेरी 'मानस सिद्धान्त' नामक पुस्तक देखिये—

५—प्रणाम के शब्द दण्डवत यथा—

कहेहु दण्डवत प्रभुसन, तुम्हहिं कहउँ कर जोरि ।
बार बार रघुनायकहिं, सुरति करायहु मोरि ॥
करत दण्डवत लिये उठाई । राखे बड़ी बार उरलाई ॥
असकहि करत दण्डवत देखा । उठे राम अतिहर्ष विशेषा ॥
देखि राम मुनि आवत हर्षि दण्डवत कीन्ह ।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह ॥
'कीन्ह दण्डवत तीनिउ भाई । सहित पवन सुत सुख अधिकाई ।'
'केवट उतार दण्डवत कीन्हा ।'
भरद्वाज आश्रम प्रभु आये । करत दण्डवत मुनि उर लाये ॥
मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा । आशीर्वाद विप्रवर दीन्हा ॥
'करि दण्डवत कहत कर जोरी ।'

६—आचार्य–जिसके अनुयायियों में पाँचों बातें हों अर्थात् जिसके यहाँ श्रीसीतारामजी परात्परब्रह्म की उपासना श्रीराम मन्त्र ही गुरुमंत्र हो, गलेमें तुलसी मस्तक पर विशाल ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक हो, विशिष्टाद्वैत ब्रह्मवाद सिद्धान्त हो और प्रणाम का शब्द दण्डवत हो, वही गोस्वामीजी का आचार्य है । ऐसा पूर्णलक्षण हनुमद्वशिष्ठ व्यास शुकबोधायनादि पूर्वाचार्य प्रसारित श्रीसम्प्रदाय है जिसके अन्तिम आचार्य यतिसार्वभौम अनन्त श्रीविशिष्ट भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज हैं ।

अतः गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज श्रीसम्प्रदाय श्रीरामानन्द सम्प्रदाय की एक अन्यतम विभूति हैं और आपका सिद्धान्त वैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ब्रह्मवाद है ।

शंका–१०० से १०४ तक

१––रामायण की घटनायें ऐतिहासिक सत्य हैं या कवि की कल्पना है ?

२– यदि यह ऐतिहासिक सत्य है तो इसका काल निर्णय ।

३––श्रीहनुमान् वानर थे या वानर जाति के मानव थे ।

४––श्रीहनुमान् का जन्म चैत्रसुदी पूर्णिमा को, कार्तिकवदी चतुर्दशी को या मगसीर में, कब हुआ था ।

५––श्रीहनुमान् माता अंजना के गर्भ से वायु के पुत्र एवं शिव के अवतार हैं । केसरीनन्दन तो हैं ही । इसका क्या रहस्य है ।

६––ऋग्वेद में श्रीहनुमान् का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु बृषाकपि शब्द आया है । कुछ लोगों ने इसे हनुमान् माना है कुछ ने सूर्य और कुछ ने अन्य संज्ञा दी है।

७––एक विद्वान् का मत है कि हनुमान् शब्द तामिल के आनमण्डी शब्द का संस्कृत रूप है । इसका निराकरण ।

८––कुछ पुरातत्वबेत्ता लंका की स्थिति मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्र में मानते हैं, क्या यह सत्य है ? पौराणिक वैदिक भारत का बिस्तार क्या है ।

९––कुछ विदेशी एवं भारतीय विद्वानों का मत है कि प्रारम्भमें शिव, शक्ति(दुर्गा)एवं हनुमान अनार्य देवता थे जिन्हें आर्यों ने बाद में अपना लिया ।

१०–ऐसा कहा जाता है कि श्रीहनुमान् की पूजा स्त्रियोंको नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे बालब्रह्मचारी हैं । भगवान् की पूजा में ऐसा प्रतिबन्ध क्यों ।

११–अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट प्रवास के समय एक तापस भगवान् से मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह तापस तुलसी, शिव, सनत्कुमार या अगस्त्य, या वाल्मीकि थे।

१२–समुद्र लंघन और द्रोणाचल यात्रा का आध्यात्मिक महत्व।

११–पुराणों की रचना ईसा की चतुर्थ शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक मानी जाती है जबकि अपनी धारणा यह है कि पुराण अत्यन्त प्राचीन हैं।

१४–देह दृष्टयातु क्या है। [अध्यात्म रामा०]

समाधान

१—श्रीरामायण की घटनायें कुछ छोड़कर सब सत्य हैं। जो घटनायें कल्पित हैं उनके लिये दर्जनों स्थान वाले दावा करते हैं कि यह घटना हमारे ही यहाँ हुई हैं, परन्तु जो घटनायें सत्य हैं उनमें न तो भौगोलिक दोष ही आता है और न उन स्थानों के लिये अनेक लोग दावेदार ही हैं कि ये स्थान कई जगह हैं। जैसे श्रीअयोध्या, चित्रकूट, किष्किन्धा, जनकपुर आदि।

सिंहल (सिलोन) की दूरी भारतीय समुद्रतट से मात्र ३७ मील है, अतः सिलोन लंका नहीं है और वहाँ समुद्रतटपर स्थापित 'श्रीरामेश्वरम्' अवधेश रामकृत नहीं है। इसीतरह सीता वनवास भी कल्पित है। कल्पित घटना होने के कारण ही आज लोग लगभग दो दर्जन स्थान की कल्पना किये बैठे हैं कि सीता–त्याग मेरे यहाँ हुआ था। वे कल्पित स्थान–उत्तरप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, और नेपाल आदि में बिखरे हैं। जिनमें बहुतों का पता ठिकाना श्रीरामचरितके तीन क्षेपक और 'अनिन्दिता' नामक पुस्तकों तथा इसी ग्रन्थ में दिया गया है।

२—बहुत प्राचीन घटनाओं के लिये आज एक शब्द गढ़ लिया गया है—'प्रागैतिहासिक काल'। भगवान् श्रीवेदव्यासजी ने महाभारत

खिल पर्व में श्रीरामावतारका काल वैवस्वत मनु के चौबीसवें त्रेता में निर्णय किया है। जिसे आज पौने दो करोड़ वर्ष के लगभग हुआ।

किन्तु आजकल अंग्रेजों के मानसिक पुत्र व शिष्य लोग सृष्टि को ही ६ हजार से ८ हजार वर्ष तक के भीतर ही हुई मानते हैं।

३—द्वापरके अन्त तक यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, किन्नर, बानर, ऋक्ष, नाग और गृद्ध आदि कई उपदेव जातियाँ थीं, जिनके आकार प्रकार विशाल होते थे परन्तु रूप, रंग, शारीरिक गढ़न आदि वर्तमानकालिक ऋक्ष, बानर, गीद्ध आदि के समान ही होते थे। किन्तु उपदेव होने के कारण अनेकानेक वेष परिवर्तन कर लेने एवं अनेकानेक भाषाविद् होने की क्षमता रखते थे।

आजकल उपदेव जातिगत तथ्य न समझने के कारण बानरजाति के मनुष्य, गीद्धजाति के मनुष्य आदि की कल्पना कर लिया जाताहै। कोषोंमें बानरके लिये जितने पर्याय शब्द आये हैं वे सब शब्द श्रीहनुमान्‌जी के लिये वाल्मीकीयरामायण में वर्णित है। अतः श्रीहनुमान्‌जी आदि बानरजाति के उपदेव थे, बानरजाति के मानव नहीं।

लंका की लड़ाई में उपदेव जाति के बानर, भालु, और आजकी भाँति मिलने वाले बानर, भालु भी थे।

४—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने काशी में संकटमोचन श्रीहनुमान्‌जी की स्थापना चैत्र पूर्णिमा को किया था इसलिये वहाँ उसी दिन हनुमज्जयन्ती मनायी जाती है। समर्थ स्वामी श्रीरामदासजी ने महाराष्ट्र में लगभग एक दर्जन स्थानों पर श्रीहनुमान्‌जी के श्रीविग्रहों की स्थापना कराया था और सभी विग्रह स्थापन का कार्य चैत्र पूर्णिमाको ही सम्पन्न हुआ था। मानससंघ रामवनमें बैसाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) को श्रीहनुमान्‌जी की स्थापना हुई थी। अतः वहाँ पर उसी समय हनुज्जयन्ती मनायी जाती है और कल्पभेद कह दिया जाता है। परन्तु अनेक धर्मशास्त्रों में श्रीहनुमान्‌जी का जन्म कार्तिक कृष्णचतुर्दशी को ही बताया गया है। जिसके प्रमाण कुछ नीचे दिये जाते हैं—

(क) ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां कपीश्वरः।
मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भात् प्रादुरभूत शिवः स्वयम् ।।
(व्रत निर्णय ग्रन्थे)

(ख) स्वात्यां पूजयेत शैव तिथौ तु—
कार्तिककृष्णाञ्जनागर्भ एव साक्षात्।
मेषे कपीन्द्रः प्रादुरभूत शिवः स्वयं
कुजे दिनं तत्र च उत्सवं चरेत् ।।
(उत्सव सिन्धु)

(ग) कार्तिकस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि
भौमवारेऽञ्जनी पुत्रं हनुमन्तमजीजनत्।
(व्रत रत्नाकर)

(घ) कार्तिकस्यासिते पक्षे स्वात्यां भौमे चतुर्दशौ।
मेष लग्नेऽञ्जनीगर्भात् स्वयं जातो हरः शिव ।।
(वायु पुराण)

५—वायु के औरस केसरी के क्षेत्रज्ञ पुत्र हैं।

६, ७—गोस्वामी तुलसीदासजी ने "जय कृपालु कहि कपि चले अङ्गद हनू समेत।" लिखा है। वहाँ हनू शब्द उनकी मनमानी नहीं है वल्कि ऋग्वेद में 'हनू' शब्द आया है—

'नाना हनू विभृते संभरेते॰' [ऋग्वेद १०।७९।१]

यहाँ 'हनू' शब्द केवल श्रीहनुमान्जी ही के लिये हैं, वृषाकपि की तरह अनेकार्थक नहीं है, और यही वैदिक प्रमाण आपकी सातवीं शंका का भी समाधान कर देता है।

८—विक्टोरिया के राज्यकाल में जबलपुर में एक 'कीबे' नामक कमिश्नर थे। उसी अंग्रेज की यह दिमागी खुराफात है कि रावणकी

लंका वर्तमान मध्य भारत में थी । विशेष इसी ग्रन्थ में पृष्ठ ११६ से १२६ तक देखिये ।

आजकल के अंग्रेजों के बेटे-चेले और मानसिक गुलाम लोग अंग्रेजों की बातों के समक्ष श्रीवाल्मीकि, व्यास की ही बात नहीं वेदों की बात भी नहीं माना करते हैं। इसी आठवें समाधान में नवीं शंका का भी समाधान कर लें ।

१०—क्या आजकल की पतिव्रता सच्चरित्रा स्त्रियाँ अपने अविवाहित ब्रह्मचारी भाई और बेटे की सेवा एवं सत्कार नहीं करतीं ? वाल्मीकीयरामायणमें जब हनुमान्‌जीने अपनी पीठपर बैठाकर जानकीजी को लंका से किष्किन्धा ले जाने का प्रस्ताव किया तो क्या श्रीहनुमान्‌जी बाल-ब्रह्मचारी नहीं रह गये ? किसी भी प्रामाणिक आर्ष-सद्ग्रन्थ में कहीं भी ऐसी बात नहीं आयी है कि स्त्रियाँ श्रीहनुमान्‌जी की पूजा नहीं कर सकती हैं । सामान्य लोगों एवं अप्रमाणिक ग्रन्थों की बातें सर्वदा अमान्य रहती हैं । स्त्रियाँ भी हनुमान्‌जी की सेवा, पूजा, दर्शन कर सकती हैं ।

११—बहुत दिनों पूर्व 'वीणा' पत्रिका में प्रयाग के डिस्पुटीकलक्टर लाला सीताराम 'भूप' अयोध्यावासी ने गवेषणापूर्ण एक लेख छपाकर सिद्ध किया था कि अयोध्याकांडीय तापस प्रसंग क्षेपक है । यही बात मानस के प्राचीन टीकाकार अमृतसर स्वर्णमन्दिरके महान्त ज्ञानी श्रीसंतसिंहजी ने अपनी भावप्रकाश टीका में और सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीहरिहरप्रसादादिने तथा लगभग दो दर्जन प्रामाणिक व्यक्तियोंने तापस प्रसंग को प्रक्षिप्त माना है । मैंने उन समस्त प्रमाणों को जहाँ तक उस समय मुझे प्राप्त हुए , 'मानस के तीन क्षेपक' नामक पुस्तक में एकत्र कर दिया है ।

१२—श्रीभरतजी के वाण से जब हनुमान्‌जी भूमि पर गिर पड़े तो ऊपर वायुदेव ने द्रोणाचल को रोक रखा था । यथा—

'परयो कहिराम पवन राख्यो गिरि, पुर तिहि तेज पियो है ।'
(गो० तुलसीदासकृत–श्रीराम गी० लं०-१०)

१३ और १४ की व्याख्या में माथा खपाना व्यर्थ है । पुराण तो अत्यन्त प्राचीन हैं ही । श्रीवेदव्यासजीने मात्र उनका संकलन और सस्कार किया है।

१५—अद्वैतवादी स्वामी विद्यारण्य ने अपने अध्यात्म रामायण में 'देहदृष्ट्यादिक०' श्लोक लिखा है । आज अनेक स्वयम्भू लोग कह देते हैं कि अध्यात्म रामायण ब्रह्माण्ड पुराणका अंश है, जबकि ब्रह्मांड पुराण में अध्यात्म रामायण की सांकेतिक चर्चा भी नहीं है ।

शका–समाधान १०५ से १२४ तक

प्रलापौषधि●

अतीव दीनपालिके शुचिस्मिते कृपालुके,
दयार्णवे जगद्धिते जगत्प्रसूतिकारिके ।
प्रपन्न दुःख हारिणि प्रशस्त सौख्य दायिनि,
प्रसीद रामबल्लभे, प्रदेहि पादपल्लवम् ।।

कोई व्यक्ति किसी कारण पागल (उन्मत्त), हो जाता है तो वह प्रायः अड बंड बकने लगता है(प्रलाप करने लगता है)दूसरों को अकारण गाली देने लगता है । उस पर भी तारीफ यह कि वह स्वयं को पागल नहीं मानता अपितु सारे संसार के ज्ञानियों से बढ़कर ज्ञानी एवं विद्वान् समझता है इसी से अपनी ही बके जाता है किसी की सुनता ही नहीं । उसकी विचार शक्ति तो रह ही नहीं जाती जिससे कि वह विचार करके बोले—

● यह समाधान मानसमणि के अतिरिक्त 'विरक्त' 'मानसहंस' आदि कई पत्रों ने निकाला था ।

बातुल भूत विवश मतवारे, ते नहिं बोलहिं बचन बिंचारे।
अतः—

जिन कृत महामोह मदपाना। तिनकर कहा करिय नहिं काना॥

और कोई विचारशील व्यक्ति कभी किसी पागल के प्रलाप पर ध्यान देता भी नहीं परन्तु मानवता के नाते प्रत्येक व्यक्ति से जहाँ तक बने उसका उत्तमोत्तम उपचार करना चाहिये। यदि किसी तरह वह पागल उत्तम औषधि का सेवन कर लेवे तो उसका मस्तिष्क ठीक हो जाय, प्रलाप करना गाली बकना बन्द हो जाय। किसी तरह औषधि सेवन ही नहीं करेगा तब तो ईश्वरेच्छा बलीयसी, 'हरि इच्छा भावी बलवाना' न्यायानुसार रोग को उसके पूर्व पाप का परिणाम समझना ही पड़ेगा। गीता में मुनि का लक्षण बतलाया गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २॥

ऐसे मुनि सदैव से एकमात्र नारायण का ही भजन करते हैं। भा० १।२।२५-२६।

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनुतानिह॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ताः भजन्ति ह्यनसूयवः॥

जिसमें उपर्युक्त लक्षण न हों वह मुनि नहीं हो सकता, परन्तु इन दिनों गोरखपुर में गीता एवं भागवतोक्त लक्षणों से सर्वथा रहित होनेपर भी एक महाशय स्वयं को मुनि ही नहीं मुनीश्वर तक लिखते मानते हैं और फीस लेकर जिसे अपना अनुयायी बनाते हैं उसे भी मुनि कहते एवं लिखते हैं। अपने दलालों द्वारा सैकड़ों मील से पत्र मँगाकर अपनी धाक जमाने के लिये छापते हैं कि सैकड़ों मील दूर

रहता हुआ भी रोगी केवल पत्र लिख देने मात्र से ही असाध्य रोग से मुक्त हो जाता है । प्रयाग कुम्भ के आकस्मिक मृत्युकाण्ड में राम-राम कहने वाले दबकर मर गये पर मुनीश्वर का नाम जपने वाले, दबने वालों की मध्य भीड़ में भी सपरिवार साफ-साफ बच गये, आदि आदि । (देखिये ज्ञानशक्ति १९५४ की जून, जुलाई का अंक पृष्ठ क्रमशः १७-१८) ।

प्राचीन काल के मुनियों ने 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा··· ···अतिमानं सुरापानम्' बतलाया है । वह गोरखपुरी योगीश्वर मुनीश्वर उपाधि-धारी व्यक्ति अपने वाक् चातुर्य के बलपर कुछ सामान्य लोगोंसे थोथी प्रतिष्ठा प्राप्त करके अति मान सुरा का पान करके उन्मत्त हो गये हैं । अनेक तरह का प्रलाप करते रहते हैं । उसी प्रलापमें यदा-कदा जगत्पूज्य परमवेदज्ञ महात्मा गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी को भी एक श्वाँसमें सैकड़ों गालियाँ दियाकरतेहैं । दिल्लीकी बदनाम पत्रिका 'सरिता' ने भी इसी मार्ग को अपनाया है । अभी-अभी १५-६-५४ ई० को अपने ज्ञानशक्ति के अंक में मानस की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करके उनपर वेद प्रमाण तुलसी के अनुयायियों से मांगा है । प्रति चौपाइयों के आगे पीछे गालियाँ देकर श्रीतुलसीदासजी का स्मरण किया है । हर बात के लिये कह दिया है कि यह बात वेद में नहीं है जिससे मुनि समाज के सदस्य समझें कि हमारे मुनीश्वरजी बड़े वेदज्ञ हैं । पर मुनीश्वरजी ने तो—

घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा रासभरोहणम् ।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ।।

नीति को अपनाया है । अस्तु, उस लेख का शीर्षक है—

'तुलसीदासजी ने वेदों को पढ़ा क्या देखा तक नहीं था ।' देखने में लेख का कलेवर लम्बा-चौड़ा है पर ७।८ अंश गाली है और १।८ अंश मानस की उद्धृत पंक्तियों पर वैदिक प्रमाण की जिज्ञासा । वही जिज्ञासा

बिना गाली दिये हुये जिज्ञासु भाव से सभ्यजनोचित शब्दों में की जा सकती थी जैसा कि अनेक मानस पाठक और जिज्ञासु करते रहते हैं परन्तु प्रलापी को गाली का विचार कहाँ ? गालियों का उत्तर तो न देकर उस सम्बन्ध में मैं यही कहूँगा कि—

ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तः ।

पर उनकी उद्धृत चौपाइयों का वेद प्रमाण पूरे पते के साथ दूँगा । यही उस प्रलाप की औषधि होगी, किन्तु इसके पूर्व मैं बता देना चाहता हूँ कि कौन तरहकी पोथियाँ वेद मानी जाती हैं। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्दजी ने जबसे यह कह दिया कि मन्त्र संहितान्तर्गत केवल चार पोथियों का ही नाम वेद है तबसे अनेक अज्ञानान्धकार गर्त पतित लोग 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' कहकर केवल चार पोथियों मात्रको ही प्रमाण मानने लगे हैं । स्वामी दयानन्दजीसे पूर्व सभी लोग मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों को वेद मानते थे और आज भी भारतीय शुद्ध सनातन एवं निष्पक्ष वैदिक संसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानता है । कुछ प्राचीनों का मन्तव्य देखिये—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या शेषे ब्राह्मणशब्दः ।

(मीमांसा दर्शन २।१।३२, ३३)

मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः । (शवर भाष्य १।२।३)

गाथा शब्देन ब्राह्मणगता ऋच उच्यन्ते ।

आश्वालायन श्रौत सूत्र ।

(५।६ पर श्रीनारायण स्वामी का भाष्य)

स्मरण रहे कि ब्राह्मणगत ऋचाओं का नाम गाथा भी है ऐसा—

गाथानां ऋग्विशेषाः । (आश्व० श्रौ० सू० ३।३।१)

का कहना है । निरुक्तकार ने भी स्पष्ट रूप से निरुक्त ४।६ में—

ब्रह्म ····गाथा मिश्रं भवति ।

कहा है । वेद में ही गाथा भाग होता है—

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह ।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शास्त्रान्तराः स्मृताः॥

(चरण व्यूह)

मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।

(सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र १।१।७ आपस्तंब श्रौ०सू० २४।१।३१ कात्यायनीय प्रतिज्ञा सूत्र)

मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्या चक्षते ।

(बोधायन गृ० सू० २।६।२)

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः ।

(सायणाचार्य का ऋग्वेद भाष्योपोद्घात)

कुछ मन्त्र भाग की और अधिकांश ब्राह्मण ग्रन्थोंके अमुक-अमुक भाग की होने से उपनिषदें भी वेद हैं । मनु ने तो वनमें रहने वाले विप्रों को उपनिषदों की ही श्रुतियों के सेवन की आज्ञा दिया है ।

एताश्चान्याश्चसेवेतदीक्षा विप्रो वने वसन्
विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतिः ।

(मनु० ६।२९)

अतः मन्त्र ब्राह्मणोपनिषदारण्यक सभी मिलकर वेद हैं । इन चारों के वाक्य श्रुति नाम से अभिहित हैं और श्रीगोस्वामीपाद ने भी प्राचीन वेदज्ञ महर्षियों की तरह इन चारों के वाक्यों को वेद निगम श्रुति आदि स्वीकार किया है ।

जबसे यूरोपियनों के चेले भारत में हुये तबसे वे "ईसा पन्थी, मूसा (चूहा) पन्थी" गुरुण्ड चेले लोग वेदों की प्रत्येक बातोंको आकाशीय या भौतिक पदार्थ मात्र मानने लगे हैं । वे वेदों में इतिहास नहीं मानते परन्तु प्राचीन कालीन सभी वैदिकों ने वेदों को त्रिकालज्ञ

(त्रैकालिक) वक्ता मानकर वेदों में भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त इति-हास भी माना है । प्राचीनकाल में वेदार्थ करने के जितने साधन थे उनमें एकमात्र श्रीयास्क का निरुक्त ही पूर्णरूपेण बचा है बाकी सबका कलेवर पूर्णतः या अंशतः कराल काल के गालमें गलित हो गया है। महर्षि यास्क परम वैज्ञानिक होते हुये भी वेदों में इतिहास का होना भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

इत्यैतिहासिकाः । —निरुक्त नैगम काण्ड २।५।१६।२ ।

तत्रेतिहासमाचक्षते । —नि०नै०का० २।७।२८।२ ।

तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति ।
(नि०नै० ४।१।६)

आज के सर्वमान्य धर्मशास्त्र प्रणेता मनु कहते हैं कि—

भूत भव्य भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ।
(मनु० १२।९७)

वेद स्वयं भी कहता है कि हमारे पेट में इतिहास भरे हुये हैं—

१—तमितिहासश्च पुराणश्च गाथाश्च,
नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ।

२—इतिहासस्य च वैसपुराणस्य च गाथानां
नाराशंसीनां च प्रियधाम भवति य एवं वेद ।
(अथर्ववेद १५।६।११, १२)

ऊपर थोड़े से प्रमाण दिये गये हैं कि मन्त्र ब्राह्मण और उप-निषद वेद हैं तथा वेद में इतिहास प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, परन्तु वेदों के अर्थ का ज्ञान अंग्रेजी अनुवाद या दयानन्दी भाष्य किंवा वैदिक सम्पत्ति सरीखे एकपक्षीय आलोचनात्मक पुस्तकों मात्र के पढ़ने से ही नहीं होता अपितु 'न ह्येष प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ।' (निरु०)

बिना ऋषित्व और तपस्वित्व के मन्त्र साक्षात्कार नहीं होता अर्थात् ऋषित्व से ही पूर्ण वेद ज्ञान होता है और ऋषित्व उसी को प्राप्त होता है जो धर्मका साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् श्रौत स्मार्त विहित स्ववर्णाश्रमधर्मोंका यथावत् पालन करता है। श्रीयास्काचार्य कहते हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवुस्ते अवरेभ्यो असाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्राहुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समानाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि। —नि० १।६।२०।२

अर्थात्—पहिले ऋषि स्वभावतः मन्त्रद्रष्टा थे उन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया था अनन्तर मन्त्र दर्शन सामर्थ्य रहित जिज्ञासुओं को उन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने मन्त्रों का ज्ञान कराया। काल प्रभाव से आगे चलकर जब साक्षात् वेदोपदेश ग्रहण की शक्ति क्षीणप्राय होने लगी तो वेद का सांगोपांग रहस्य समझनेके लिये निरुक्त व्याकरणादि वेद के अन्यान्य अंगोपांगों का विस्तार किया गया।

वेद में जिन इतिहासों का संकेत है उनका विस्तृत वर्णन रामायण भागवत एवं पुराणों में है और वेद के विधि निषेधात्मक संकेतों का विशदीकरण स्मृतियों में हैं इसलिये वेदार्थ ज्ञान के लिये बचन-भूषणकार का मत है कि—

वेदार्थोनिश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः। —व० भू० १

श्रीरामजी कल्पित हैं श्रीरामचरित, वाल्मीकि, व्यास आदि की कल्पना है। ऐसी कल्पना करने वालों ने कभी वेद का स्वयं साक्षात् दर्शन तो किया ही नहीं और न मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की कृतियोंको ही देखा है। 'ज्ञानशक्ति' में और 'संरिता' में भी गाली बकने वालों ने मानस की जिन पंक्तियों को उद्धृत किया है उनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों पंक्तियां ऐसी हैं जिन्हें वेदमूलक लिखा है। मैंने प्रायः सबकी

मूल श्रुतियों को प्राप्तकर लिया है परन्तु यहाँ प्रलापक की जिज्ञासित पंक्तियों की ही वेद मूलकतारूप औषधि बताई जाती है। उचित है कि प्रलापक महाशय निर्देशित स्थानों पर श्रुतियों को देखकर अपने मस्तिष्क की औषधि कर लें यदि सचमुच उनकी बेदमूलकता चाहते हों। यदि उनमें कुछ आत्मबल हो और वे सत्यपथ पर आरूढ़ हों तो इस लेखको ज्योंका त्यों अपने ज्ञान शक्ति पत्रमें और सरितामें भी बिना घटनायें बढ़ाये छाप दें।

अब ज्ञान शक्ति में उद्धृत मानस की पंक्तियों की वेद मूलकता देखिये पर स्मरण रहे कि जिन श्रुतियों का अर्थ बहुत स्पष्ट है उनका हिन्दी अर्थ नहीं दूँगा लेख का कलेवर बढ़ जाने के डर से कठिन मन्त्रोंका ही अर्थ दूँगा। लेकिन अपनी ओरसे नहीं वरन् पूर्ववर्ती विद्वानों के लिखे अर्थ का मैं केवल हिन्दी अनुवाद कर दूँगा और पता तो पूरा-पूरा श्रुतियों का रहेगा ही।

१—नानापुराण निगमागम सम्मतम्० ।

वरनहुँ रघुपति विशद जश, श्रुति सिद्धान्त निचोरि ।

इसकी वेद मूलकता जानने के लिये मेरी लिखी २७५ पृष्ठ की मानस सिद्धान्त नामक पुस्तक देखिये जो मानस संघ रामवन सतना मध्यप्रदेश से प्रकाशित है।

२—सकल काम प्रद तीरथ राऊ, बेद विदित जग प्रगट प्रभाऊ।

वेद प्रमाण:—सितासिते सरिते यत्र संगमे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तत्त्वं हि सृजन्ति धीरोस्ते जना: सोऽमृत्वं भजन्ति। —ऋक् परिशिष्ट २२।१

ऋक् परिशिष्ट में लिखा है कि यह मन्त्र ऋग्वेद १०।७५।५ 'इमे गंगे यमुने सरस्वति०' के बाद चाहिये। यह मन्त्र इतना स्पष्ट है कि लघुकौमुदी का विद्यार्थी भी समझ सकता है।

३—स्वायंभू मनु अरु शतरूपा, जिनते भइ नर सृष्टि अनूपा।
दम्पति धरम आचरन नीका, अजहु गाव श्रुति जिनकै लीका।

वेद प्रमाण:–(क) अहं मनुरभवम्। –ऋ०४।२६।१

(ख) मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहरुः,
सर्वाप्रजा निरवाहाऽथेह मनुरेवैक परिशिशिषे।
एतान् हैव प्रजायते यां मनुः प्राजायत,
यस्य ह· प्रजा भवत्येक आत्मना भवत्यथोत
दशघाप्रजा हविष्क्रियते तस्मात् प्रजा भूयो हविष्करणम्।
(शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१-।-६,११,३४)

[ग] मनुना कृतया स्वधया वितष्टा०।
(यजु, काठक संहिता १।२।४)

मनुना ह्येषाकृता स्वधसा०।–यजु०का०सं० ३१।१।१

४—यद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना।

वेद प्रमाण—

१–तद्विष्णोः परम पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
(ऋ० १।२२।२०)

२–विष्णोर्यत् परमं पदम्। –ऋ० १।२२।२१

३–विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः। –ऋ०१।१५४।५

४–परमं पदमवभाति भूरि०। –ऋ०१।१५४।६

५–त्रिपादस्यामृत दिवि।
(ऋ० १०।९०।३, यजु० ३१।३, अथर्व० १९।६।३, तै० आ० ३।१२।१)

६–तत्रमध्यम पाद प्रदेशेऽमित तेज–
प्रवाहकतया नित्यं बैकुण्ठं विभाति।
(त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषत् अध्याय १)

७–स एव नित्य परिपूर्णः पाद्विभूति वैकुण्ठः नारायणे ।
(त्रि० अ० २)

८–तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा पंच वैकुण्ठानतीत्य० ।
(त्रि० अ० ५)

९–अनादि पाद विभूति वैकुण्ठमेवाभाति० ।–त्रि०अ० ६

१०–विद्याविद्ययोः सन्ध्यौ विष्वक्सेनबैकुंठपुरम्० ।
(त्रि० अ० ६)

११–विद्यामायाऽनन्तबैकुंठान्परितोऽवस्थितान्० ।
(त्रि० अ० ६)

१२–एवं ब्रह्मविद्याबैकुंठमाविश्य० । —त्रि० अ० ६

१३–ततः श्रीतुलसीबैकुंठपुरमाभाति । —त्रि० अ० ६

१४–तन्मध्ये च विशुद्ध बोधानन्दबैकुंठम् । —त्रि०अ० ६

१५–ततः सुदर्शनबैकुंठमाभाति० । —त्रि० अ० ७

५—पुरशोभा सम्पति कल्याना । निगम शेष शारदा बखाना ।

वेद प्रमाण— हु वे स्ववंद् अवधं नमस्यत् । ऋ० १।१८५।३

अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्या हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे द्वारे त्रि प्रतिष्ठिते । ……
प्रभाजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥
(अथर्ववेद १०।२।३१, ३२, ३३)

ऋग्वेद १।१२६।४ में दशरथजीकी इतनी धन-सम्पत्ति का बर्णन है कि यज्ञ से विदा होने वाले हजारों ऋत्विजों को (प्रत्येक) को

चालीस चालीस श्यामकर्ण घोड़े और इतनेही सुशिक्षित मतवाले गजेन्द्र एवं हजारों दास बिदाई में दिया था ।

६—अति सुन्दर शुचि सुखद सुशीला । गावहिं बेद जासु जश लीला ।।
दूषन रहित सकल गुन राशी । श्रीपति पुर वैकुण्ठ निवासी ।।
.... । विष्णु सकल गुण धाम ।।

इन पंक्तियों पर मुनीश्वर कहाने वाले का तो भारी प्रलाप है कि वेद में कहीं भी श्रीपति लक्ष्मीपति की चर्चा ही नहीं है । यदि कभी वेदों का अध्ययन किया होता तो वैसा न कहा जाता । विष्णु-सूक्तों श्रीपति की यशः गाथाओं से समस्त वेद भरा है और विष्णु-सूक्तों का संग्रहमात्र एक बड़ा ग्रन्थ बन जाता है । यहाँ पते के सहित कुछ मन्त्र दिग्दर्शन रूप से उद्धृत किये दे रहा हूँ—

१—अतो देवो अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे पृथिव्याः सप्त धामभिः ।।
—ऋ० १।२२।१६ ।

२—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । —ऋ० १।२२।१७

३—त्रीणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । —ऋ० १।२२।१८

४—विष्णोः वीर्याणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पर्शे । ऋ० १।२२।१९

५—विष्णुर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम् । यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
—ऋ १।१५४।१

६—पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि । गुह्यं नाम गोनाम् ।।
—ऋ० ५।३।३

७—विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि विंशतु । ऋ० १०।१८४।१

८—ऋक्परिशिष्ट का ११वाँ सूक्त श्रीसूक्त के नाम से विख्यात है जो कि ऋग्वेद पञ्चम मण्डल का अन्तिम सूक्त है । उनमें २९ मन्त्र हैं जिनमें कई बार श्रीजी को 'हरिवल्लभा, विष्णुपत्नी, माधवप्रिया, विष्णुप्रिया, अच्युतवल्लभा विष्णुमनोऽनुकूला आदि कहा गया है ।

ऋ० ६।६९।१—८ समस्त सूक्त, ऋ० ७।९९, १००।१-१४ समस्त सूक्त श्रीपति का कथन करता है।

९—श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ० । —शुक्ल यजुर्वेद ३१।२२

इस मन्त्र में नारायण की जेष्ठा पत्नीको श्री और कनिष्ठा पत्नी को लक्ष्मी कहा गया है। इस सूक्त के अन्तिम छः मन्त्रों का नाम ही उत्तर नारायण विख्यात है। इनके अतिरिक्त और भी अनेकानेक मन्त्र श्रीपति यशोगान के वेद में भी हैं।

७—ईर्षालु निन्दक महाशय का प्रलाप हैं कि श्रीरामजीके किसी पूर्वज का नाम वेद में नहीं है। अतः यहाँ थोड़े से नाम दिये जाते हैं—

१-इक्ष्वाकु—या त्वं वेद पूर्व इक्ष्वाको ! —अथर्व० १९।३९।९

ईजऽऐक्ष्वाको राज० । —शतपथ ब्रा० १३।५।४।५

२-सुद्यम्न-सुद्युम्नोद्युम्नं यजमानाय धेहि।

—यजुर्वेद मैत्रायणी सं० १।२।१९

३-सुदास—विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम् प्रियायत०। —ऋ० २।५३।९

४-यौवनाश्व मान्धाता। —ऋ० १०।१३४।१-६ तक के ऋषि हैं।

५, ९—यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता के अन्तिमारण्यकं १।४ में एक साथ कुछ चक्रवर्तियों की सूची देते हुये श्रुति ने श्रीरामजी के कई पूर्वजों का नाम गिनाये हैं—

अथ किमेतैर्वा महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्न भूरिद्युम्नेन्द्र-द्युम्न कुवलयाश्व यौवनाश्व अश्व रथाश्चाश्वपतिः शशविन्दुर्हरिश्चन्द्रो-ऽम्बरीषो ननक्तुः शर्यातिर्ययातिरनरण्योऽक्षसेनादयो मरुत्त भरत प्रभृतयः राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोकं प्रयाता।

१०—सगर के साठ हजार पुत्र। —अथर्व० २०।१२७।१

षष्ठिं सहस्रा नवतिं च कौरम आरुशमेषु दद्महे।

११-रघु—रघुः श्येनः पतयत्० । —ऋ० ५।४५।९
उतो अह क्रतुं रघुम् । —ऋ० ८।३३।१७
१२-दशरथ—चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः । —ऋ० १।१२६।४
१३-वैवस्वतमनु—मनुर्वै यत्किंचावदत् तद्भेषजमासीत् ।
—यजु० का० ११।५।९

८—श्रुति सिद्धान्त इहै उरगारी । भजिय राम सब काम बिसारी ॥

वेद प्रमाण--

समेतविश्वा ओजसा पतिं दिवो । य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ॥
--सामवेद पू० ४।३।३

सामसंस्कार भाष्य का हिन्दी अनुवाद--

विश्वा ओजसा=सम्पूर्ण शक्ति से अर्थात् अन्य ओर लगी हुई सारी शक्तियों को एकत्रित करके-सब काम बिसारी। दिवः पतिम्= आनन्द के स्वामी परमात्मा को प्राप्त करो। यः जनानाम् जो परमात्मा समस्त प्राणियों का 'इत् एकः=एक मात्र' अतिथिः भूः=पूज्य एवं प्रिय होता है।

९--यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु वेद विदित नहि गोई॥
सकृति प्रणाम किये अपनाये॥

वेद प्रमाण--

अपिवत् कद्रुवः सुतमिन्द्र सहस्रे बाह्वे । तत्रादिष्ट पौंस्यम् ॥
[साम० पू० २।२।७ ऋ० ८।४४।२६]

सामसंस्कार भाष्य से--इन्द्रः=परमात्मा । कद्रुवः=कुत्सित गति वाले भक्त जीवों का। सुतम्=किया हुआ पूर्व पाप जो कि। सहस्र बाह्वे=हजारों प्रकार से बाधा देने वाले होते हैं उन पापों को। अपिवत्=नाश कर देते हैं। तत्र=पाप नाश हो जाने पर जीवों का पौंस्यम्=पुरुषार्थ, प्रताप। अददिष्ट=देदीप्यमान हो जाता है।

१०--भक्ति मोरि पुराण श्रुति गाई।

वेद प्रमाण--

(क) तस्यते भक्तिवानो भूयास्म । (यजुर्वेद मैत्रायणी सं० १।५।३१)

(ख) आदित ते विश्वे क्रतु जुषन्त शुष्काद् यद्देव जीवो जनिष्ठाः ।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ।
(ऋ० १।६८।३)

आर्यसमाज संस्थापक स्वामी दयानन्दजी का अर्थ—देव = हे जगदीश्वर । आपका आश्रय करके, यत् = जो, विश्वे = सब जनिष्ठाः = अतिज्ञानयुक्त, सपन्न = एक सम्मत विद्वान् लोग, एवैः = प्राप्तिकारण-गुणों और, शुष्कात् = धर्मानुष्ठान तपसे, ते = आपके, देवत्वम् = दिव्य गुण प्राप्त करने वाले, ऋतम् = बुद्धि और कर्म, नाम = प्रसिद्ध अर्थ युक्त संज्ञा आपके सार्थक नामों को सिद्ध, जुषन्त = प्रीति से सेवा करैं नाम जपै वे, ऋतम् = सत्य रूप को, भजन्त = सेवा करते हैं वैसे, अमृतम् = मोक्ष को जीवः = मनुष्य प्रयत्न से आतइत् = सबको प्राप्त करता है। मनुष्य परमेश्वर की उपासना भक्ति बिना व्यवहार व परमार्थ के सुखों को नहीं प्राप्त कर सकता है।

११—उपरोहिती कर्म अति मन्दा। वेद पुराण स्मृतिकर निन्दा ।।

अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण पूवार्द्ध २।२१ में ब्राह्मणों के नाचने और मनुष्यों के गीत गाने की निन्दा की गई है । देखिये—

एष ब्राह्मणो गायनो नर्तनो वा भवति,
तमग्लागृध इत्याचक्षते ।
तस्माद्ब्राह्मणो नैव गायेन्नानृत्येन्माग्ला गृद्धः स्यात् ।
(गो० पू० २।२१)

परन्तु उपरोहितको राजा की प्रशंसा के गीत गाने पड़ते हैं जैसा ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १७३ सूक्तोंके ग्यारह मन्त्रों में वर्णित है। इसी से उपरोहिती कर्म को मन्द कहा है ।

मानसके उपरोहित शब्द पर भी ध्यान देकर पुरोहित और उपरोहिती शब्द के अन्तर को समझ लेना चाहिये। यज्ञाचार्य को 'पुरोहित' कहा जाता है 'उपरोहित' नहीं और यहाँ उपरोहिती कर्म के मन्दत्व की बातहै, 'पौरोहित्य' की निन्दा एवं मन्दत्व से तात्पर्य नहीं।

१२—चहुँयुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।

यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा॥
राम नाम गुण चरित सुहाये। जन्म कर्म अगणित श्रुति गाये॥
जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुक्त होइ श्रुति गावा॥
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुण गाथ।

चारों वेदों के प्रमाण—

१—भूरिनामवन्दमानोदधाति, पितावसो तज्जोषायसे।

(ऋ० ५।३।१०)

अर्थ--पिता=जगत्पिता परमात्मा, वसु=वासुदेव, वन्दमानः= वन्दना करने योग्य अर्थात् 'वन्दमानः सन्' वन्दनीय होकर, भूरिनाम =अनेकों नाम, दधाति=धारण करता है अतः वसो! हे वसु अर्थात् 'वसनिवासे' सर्वव्यापक वासुदेव परमात्मन्!, यदि तत्=अगर वे आपके अनन्त नाम आपको, जोषायसे=जुष् प्रीति सेवनयोः प्रसन्न करते हों तो हम उन्हीं नामों का प्रीति पूर्वक सेवन अर्थात् जप कीर्तन आदि करें।

२--नतस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः। –शु० यजु० ३२।३

अर्थ—तस्य=उस परमात्माका कोई भी, प्रतिमा--प्रतिमान भूत अर्थात् जोड़ीदार बराबरी करने वाला, न अस्ति=नहीं है, यस्य=जिस परमात्मा के, नाम--नाम का, महद्यशः--महान् सर्वोत्कृष्ट यश हैं।

३--नामानिते शतक्रतो विश्वाभिर्गीभिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये।

(अथर्ववेद २०।१९।३)

अर्थ--शतक्रतो! =हे सब यज्ञों से आराधनीय अथच सैकड़ों वीर्य एवं प्रज्ञा बलों से युक्त, इन्द्र! =हे सर्वैश्वर्यमान परमात्मन्!

अभिमातिषाह्ये = अभिमान आदि अध्यात्मिक, शत्रुओं के विजयार्थ, आर्य-समाजी अर्थ है कि अभिमान करने वाले शत्रुओं के विजय करने के निमित्त ही, विश्वाभिः गीर्भिः = परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी आदि समस्त वाणियों से, ते नामानि = आपके अनेकों नाम को, ईमहे = हम लोग गान करते हैं।

४– अर्षा सोम द्यु मत्तमोऽभिद्रोणनिरोरुवत् । सीदन्यानौ वनेष्वा ॥
(सामवेद पू० पवमान काण्ड ५।४।७)

अर्थ—वनेषु = जंगलों में, एकान्त में बैठकर, योनौ = सकल जगत्कारण परमात्मा ने, अभिआ = स्थित होकर सब प्रकार चित्त लगाकर। द्यु मत्तमः = अत्यन्त तेजस्वी इन्द्रियजयी होकर तुम, रोरुवत् = रो रोकर भगवन्नामों को उच्चारण करके, द्रोणानि + ऊर्ध्वगती को, अर्ष = प्राप्त करो।

५— "श्रीरामचन्द्रमनुस्मरणेन गायत्र्या शतसहस्त्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति, प्रणव नामयुत कोटि जपा भवन्ति, दशपूर्वान्दशोत्त-रान्पुनाति, स पंक्तिपावनो भवति, स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छति।" (रामोत्तर ता० उ० ६।४)

क्रमानुसार चतुर्थ युग का नाम है कलियुग' जिसका अर्थ कोषों में वर्णित है कि—

कलिः स्त्री कलिकाया नाशूराजि कलहे युगे ॥ (मेदिनी)
कलिर्विभीतके शूरे विवादेऽन्त्ययुगे युधि ॥ (हैमः)
सम्प्रहाराभिसम्याते कलि संस्फोट संयुगा ॥ (अमरः)
कलयति पापेन जडयति कलिः ॥ (विश्वः)

निकर्ष यह कि वर्तमान चतुर्थ युग कलह विवाद, युद्ध एवं पाप आदि का युग है अर्थात् इन्हीं को बढ़ाता है। कलि शब्द का अर्थ पाप कलहादि है और इस "कलेर्युगः कलियुगः" सामान्यावबोध अर्थ

को न समझकर मुनीश्वर कहाने वाले प्रलापी ने कलियुग का अर्थ मशीन यन्त्रों का युग करके भगवन्नाम की खिल्ली उड़ाने की दुश्चेष्टा करके घोरतम पाप किया है,अपने नामके जलसे तो अपने अनुयायियोंका रोग दूर होना माने प्रचार करे और भगवन्नामके माहात्म्य पर मिथ्यात्व आरोप करे। जो व्यक्ति कलि और कल शब्दका भेद एवं अर्थ नहीं समझ सकता वह कितना बड़ा विकृत मस्तिष्क वाला पागल होगा। शोक !

१४– तहाँ वेद अस कारण राखा। भजन प्रभाव भांति बहु भाषा ॥
भक्ति मोरि पुराण श्रुति गाई ॥

वेद प्रमाण—

दोषो गाय वृहद्‌नाय द्युमद्‌धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सविस्तरम् ॥
तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ नुः। सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥
सघनो देवः सूसविता सा विषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे ॥
(अथर्व वेद ६।१।१,२,३)

१५– ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।
नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं ॥

इसकी विस्तृत व्याख्या इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ९५ से पृष्ठ १०५ तक है। एक तो ये दोनों चौपाइयाँ क्रमशः समुद्र और रावण की कहीं हैं, इनका उत्तरदायित्व समुद्र और रावण पर है, दूसरे इन पर वैदिकता की छाप नहीं है, फिर भी श्रीतुलसी के अनुयायियों से नारी दूषण का वैदिक प्रमाण माँगा गया है। स्मरण रहे कि मानस की प्रत्येक सैद्धान्तिक बातों की वैदिकता दिखाने के लिये श्रीतुलसी का एक साधारण अनुयायी मैं ही अभी तैयार हूँ बड़े-बड़े विद्वानों की बात अलग ही है अस्तु—स्त्रियों के गुण और दूषण के कोटियों प्रमाण वेद में हैं, उनमें मात्र दूषण चाहने वालों के लिये एकाध प्रमाण ये हैं—

१– एषा सा नव्य मायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि।
अग्र एति युवति रह्रयाणा। (ऋ० ७।८०।२)

२- सात्रृकी रश्विना वृषणा नरेति । (ऋ० १।११७।१८)

३- अभ्रातरो न योषणोत्यन्तः, पतिरिपो न जनयो दूरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजानता गभीरम् ॥
(ऋ० ४।५।५)

(रौ रौ नर्क कल्प शत परई ।) ऋ० ४।५।५

४- गुप्त प्रसविनी व्यभिचारिणी, आरे सत् कर्त रहसूरिवागः ।
(ऋ० २।२९।१)

५- कुहंस्विद् दोषा कुह वस्तो रश्विना, कुहाति पित्वं करतः कुहोषतु ।
(ऋ० १०।४०।२ पूरा सूक्त १४ मन्त्र)

६- (छोटी बुद्धि)—गोष्ठं गाव इवाशतां । ऋ० ८।४३।१७

७- एष स्य मानुषीष्वाश्येनो न विक्षु सीदति ।
गच्छन् जारो न जोषितम् ॥ [ऋ० ९।३८।४]

८- अभिगावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम् ।
अगन्नाजि यथा हितम् ॥ [ऋ० ९।३२।५]

९- आजामि रत्के अव्यत भुजेन पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणांवरो न योनि मासदन् ॥ [ऋ० ९।१०१।१४]

१०-युवं कवीष्ठः पर्यश्विना रथं बिशोन । कुत्सो जरितुर्नशायथ ।
युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वो सा, भरत निष्कृतं न योषणा ॥
[ऋ० १०।४०।६]

११-पुरुखो मा मृथा मा प्रपप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥
[ऋ० १०।९५।१५]

१२-यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वानिपद्यते ।
प्रजायस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥
[ऋ० १०।१६२।५]

१३-मोघ संहिता एव योषा तस्माद्य एव नृत्यति गायति ।
तस्मिन्नेवैता निमिश्ल तमा इव ॥ [ऋ० शतपथ ब्रा० ३।२।४।६]

कहिये कुत्ता, शृङ्गाल, भेड़िया, लकड़बग्घा, चीता, बाघ आदि हिंसक जन्तु के समान हृदय, अकल्याणरूप, मिथ्यावादी, व्यर्थ बकवादी आदि ताड़न के अधिकारी हैं कि नहीं ?

१५- जासु छाँह छुइ लेइय सींचा। लोक वेद सब भाँतिहि नीचा॥

कोषों में चाण्डाल की श्रेणियों में निषाद की गणना की गई है—

निषादः स्वर भेदेऽपिचाण्डाले धीवरान्तरे। (मेदिनी)

निषादश्वपचावन्तेवासि चाण्डाल पुक्कासा। (अमर)

निरुक्त ने निषाद को पंचम वर्ग कहकर पाप योनि माना है—

वर्णाः निषादः पंचम,। निषाद...पापकम्। (निरुक्त नैगमकाण्ड३।२।२

और वेद ने चाण्डाल को कुत्ता तथा शूकर के साथ परिगणित करके चाण्डाल वर्ग को श्वान शूकर वत् अस्पृश्य एवं त्याज्य बतलाया है—

अथ य इह कपूयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि
मापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनि वा चाण्डालयोनिं वा॥

(सामवेदीय तवल्कार शाखाकाछान्दोग्य ब्राह्मण ५।१८।७)

१६- दुइ सुत सुन्दर सीता जाये। लवकुश बेद पुराणन गाये।

वेद ने बतलाया कि सीताजी के दो पुत्र हुये, पुराणों ने उनका नाम लव और कुश बताया है। जिस तरह एक रामजी ने ही चार रूप से दशरथ-पुत्र रूप में अवतार लिया था उसी तरह सीताजी भी चार रूप में अवतरित हुई थीं, इसी से वेद ने चारों बहिनों के आठों पुत्रों को सीताजी का ही पुत्र कहा है—

अष्टौ पुत्रासो अदितिर्ये जातास्यन्वस्परि। (ऋ०१०।७२।८ तै०आ० १।१३।२ तांडयब्रा० २४।१२।६)

पंडिताग्रगण्य विद्वद्वरिष्ठ श्रीनीलकन्ठजी के भाष्य की हिन्दी—

[यहां अदिति शब्द से देवमाता कश्यप पत्नी का ग्रहण नहीं है क्योंकि उनके आठ ही नहीं अपितु अनेकों पुत्र थे, अतः यहां अदिति शब्द से सीताजी का ग्रहण ही समीचीन है।]

आदितेः = सीताजी के, अष्टौ पुत्रासः = कुशलवादि आठो पुत्रगण (अलग-अलग) अदितेः = पृथ्वी के, तन्वः = शरीर अर्थात् बिभिन्न खंडों के, परि = ऊपर, जातः = राजा हुये ।

ऋग्वेद १०।११९ पूरे सूक्त के ऋषि लव ही हैं ।

१७—'विप्रवेष धरि वेद सब कहि विवाह बिधि देहिं ।'

'विप्र वेष धरि वेद तब आये जहँ श्रीराम ।'

वैदिक साहित्य का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला व्यक्ति वेदों को सामान्य पुस्तक मानकर कुरान, बायबिल या अलिफ लैला फोस्ट क्रूसो आदि पुस्तकों के समान मानकर मानसकार को गाली न देता हँसी न उड़ाता । अधिदेव बाद के तत्व को जानने वाला वेदोंके शरीर धारण पर शंका ही नहीं कर सकता । यह ठीक है कि सामान्य पुस्तकें शरीर नहीं धारण कर सकतीं, परन्तु वेदाधिदेव के शरीर हैं ही । उसके आँख, कान, नाक, मुख आदि अवयव तो प्रसिद्ध ही हैं । वेद अपने वेष को परिवर्तित कर लेते हैं । वेदों के शरीर बिवरण के लिये जिज्ञासुजनों को चरण-व्यूह देखना चाहिये । चरण-व्यूह में वर्णित है कि—

ऋग्वेददस्य ईति पत्नी, अयं रुक्मवर्णः, पद्मपत्रायताक्षः, सुविभक्तग्रीवः कुंचित केशश्मश्रुः पिंगलाक्षः प्रमाणेन पंचवितस्तिमात्रश्च ।

यजुर्वेदस्यपत्नी धृति, अयं दीर्घ कपोलः ताम्र वर्णः, कांचन नयनः आदित्य वर्णः षट् प्रादेश मात्रश्च ।

सामवेदस्य पत्नी शिवा । अयं नित्य स्रग्वी शुचिवासाः, शमो दान्तो, दण्डी, काँचन नयनः श्वेत वर्णस्तथाषडरत्निमात्रः ।

अथर्ववेदस्य पत्नी शक्तिः, अयं तीक्ष्णः, चण्डः कामरूप,क्षुद्रकर्मा, स्वशाखा ध्यायी, विश्वात्मा, प्राज्ञः, महा-

नीलोत्पलवर्ण: दशारत्निमात्र, स्वदार जुष्ट:,परास्त्रिया: स्तन्यपश्चेति । (वेदवृत्तम् से)

बस अधिदैववाद को समझने वाला इस तत्वको भलीभांति समझ सकता है । वेद के शरीर है और वेद ने ब्रह्म की विनती भी किया है । वेद स्तुति का मन्त्र केवल दिग्दर्शन के लिये दिया जाता है—

बोधमे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयतेत्वो अनुत्वो गृणाति बन्दासस्ते तन्व वन्दे अग्ने ।।

(ऋ १।१४७।२, शु०य० १२।४२, तै०स० ४।२।३।४, नि० ३२०)

अर्थ—यविष्ठ ! =हे सदैव युवा रहने वाले भगवान् !, मे=मेरे अस्य=इस, मंहिस्ठस्य=पूजनीय, प्रभृतस्य=अच्छे प्रकार से सजाये हुये स्तोत्र को, बोध=सुनिये, स्वभाव! =हे सुन्दर रीति से प्रजा को धारण करने वाले (राजारूप) परमेश्वर !, त्वः=कोई तो, पीयते= आपकी निन्दा करता है और, त्वः=कोई, अनुगृह्णाति=आपकी स्तुति करता है । अग्ने ! =हे प्रकाश रूप प्रभो!, ते वन्दासः=हम वेद तो आपकी स्तुति करने वाले हैं । अतः, ते=आपकी, तन्वम्=मूर्ति को आ=सम्यक् प्रकार से अर्थात् विधिपूर्वक, वन्दे=वन्दना करते हैं ।

सर्वथा निराकारवादी स्वामी दयानन्दजी ने भी इस मन्त्रके अर्थ में 'शरीरं अभिवादये' 'तेरी शरीर की वन्दना करता हूँ ।' लिखा है। मालूम पड़ता है कि श्रीरामचरितमानस में उद्धृत वेद स्तुति का—

ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुण यश नित गावहीं ।

यह वाक्यांश इसी उपर्युक्त मन्त्र का भावानुवाद है ।

१८—प्रलापी का प्रलाप है कि वेदों में कहीं भी श्रीराम कथा या 'रामनाम' नहीं है । उसने कभी वेदोंको पढ़ा ही नहीं । (शिश्नोदर पारायणता में अपना सारा जीवन बिताने वाला, परिवार पोषण के लिये चन्दा माँगने में व्यस्त रहने वाला अन्तिम आयु में वेदों को

पढ़ भी नहीं सकता । ऐसे लोगों के लिये वेदों में श्रीराम कथा एवं श्रीरामनाम जानने के लिये सुगम साधन है कि वे मेरी हिन्दी टीका युक्त सन्दर्भ सहित 'वेदों में रामकथा' और वेदों में 'कृष्णकथा' पढ़ें, दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

(प्रकाश्य 'मानस की वैदिकता' की प्रतीक्षा करें ।)

श्रीरामनाम समन्वित कुछ वेद मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

१—प्रतद्दुःशी में पृथवाने वेने प्ररामे अवोचम् । —ऋ० १०।९३।१४

२—सचन्तः यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवोशम विन्दन ।

(ऋ० १०।११।७)

३—नक्तं जातास्य औषधे रामे कृष्णे पलक्नि च । —अथर्व० १।३१।१

४—सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुषद्भिर्वर्णैरभि राममस्यात् ।

(साम०, उत्त० १५।२।५)

५—नास्य राम उच्छिष्टं पिवेत्० । —तै० आ० ५।८।१३

६—अधोरामः सावित्र्य० । —शु० यजु० २९।५९

इस छठे मन्त्र के सम्बन्ध में सामसंस्कार भाष्यकार का कहना है कि यजुर्वेद की यह सम्पूर्ण कण्डिका सूर्यवंशावतीर्ण श्रीरामजी का ही कथन करती हैं।

(देखिये–तत्वदर्शी वर्ष ४ अंक ४ मार्गशीर्ष १९९१ वि०)

१९—नर मरकट इव सबहिं नचावत, राम खगेश वेद अस गावत ।

वेद प्रमाण—

शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ्नृचक्षः ।
आस्तां जाल्मउदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ।

—अथर्ववेद ४।१६।७

२०—'भक्तहेतु लीला तनु गहई ।' 'जो यह बचन सत्य श्रुति भाषा ।'

श्रुति प्रमाण—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना ॥

(अथर्ववेदीय राम पूर्वतापिनी उप० कण्डिका १ श्रु० ७)

अन्त में मैं श्रीयास्काचार्यजी का एक वाक्य देकर औषधि रूप इस लेख को पूर्ण करता हूँ—

नैष स्थाणोरपराधो येदनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुष विशेषो भवति पारोवर्यविम्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति ।

(निरुक्त नैगमकांड णु० २।५।६।२)

यह उस पुरुष का अपना अपराध अथवा दोष है कि जिसको शास्त्रों का स्पष्ट अर्थ दिखाई नहीं पड़ता । यदि अन्धा व्यक्ति ठूँठ पेड़ या स्तम्भ को नहीं देख सकता तो ठूँठ का क्या अपराध यह तो उस अन्धे का अपराध है । जैसे देश में विद्या विशेष से पुरुष विशेष होता है, इसीप्रकार वेदज्ञोंमें जो विशेष विद्वान होगा उसी की प्रशंसा होगी, साधारण ज्ञान वालों को विद्वानों में कौन पूँछेगा ।

मैंने उस प्रलाप की पूरी औषधि बता दिया है, औषधि सेवन करके मस्तिष्क ठीक कर लेने से प्रलाप स्वयं ही बन्द हो जायगा, यदि औषधि सेवन ही नहीं करेगा और—

'सन्निपात जल्पसि मनुजादा ।'   'जल्पहि कल्पित वचन अनेका ।'

न्यायानुसार सरितामें भी प्रलाप चालू ही रहा तो उससे न तो मानसकी प्रतिष्ठा कम हो सकती है तथा न किसी आस्तिक प्राणीके हृदय से गोस्वामीजी ही उतर सकते हैं और न उनके अनुयायियों की ही कमी हो सकती है ।

श्रीगोस्वामीजी के ही शब्दों में—

ईशशीश विलसति विमल तुलसी तरल तरंग।
श्वान, सरावग के कहे लघुता लहै कि गंग॥
तुलसी देवल देवके लोग लाख करोरि।
काक अभागे हगि भरयो महिमा भई कि थोरि॥
—दोहावली० ३८३, ३८४।

शंका–१२६

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के—

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभी के प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम॥

दोहे को लेकर परमवेद-शास्त्रज्ञ गोस्वामीजी पर दो दोष लगाते हैं। एक तो अश्लील कथन(कामिहिं नारि०)दूसरा मुसलमान सूफियों की तरह परमात्मा को स्त्री के समान कहना, जबकि रसिक समाजमें प्राय: पतिभाव से परमात्मा की उपासना होती है इन दोनों दोषों का परिहार क्या है ? —म० रघुवर दासजी विशारद 'शिवनाम'।

समाधान

मानस रामचरित्र के भीतर, भूरि गुणावलि है शुचि सीकी।
बेदन को शुचि अर्थ अनूपम, सोहति दिव्य कथा सिय पी की॥
सार 'कुमार' धरचो सब शास्त्रन, काव्य पुराणहु सों अति नीकी।
गागर में भरचो सागर साँच सों, लागै लखे कविता तुलसी की॥

श्रीगोस्वामीजी परमवेद–शास्त्रज्ञ थे इसीसे कोई भी तथ्य उन्होंने वेद शास्त्र से प्रतिकूल नहीं लिखा है। 'कामिहिं नारि पियारि' में अश्लीलता देखने वालों ने कभी भी वैदिक साहित्य एवं पुराणों का दर्शन तक नहीं किया है। पुराणोंके प्रमाणसे तो प्रकाण्ड पोथा प्रस्तुत हो सकता है अत: केवल श्रुतियों के थोड़े से प्रमाण देखिये जिनकी अश्लीलता मर्यादा की सीमा सर्वथा पार कर गई है।

१—योषा बाव गौतमाग्निस्तस्या, उपस्थ एवसमिदुत्यपमन्त्रयते ।
सधूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति, तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः ॥
(छान्दोग्योपनिषत् ५।८।१)

२—योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एवसमित्...... ।
—बृहदारण्यको० ६।२।१३, शत०प०ब्रा० १४।९।१।१६

३—योनिरुलूखलं...... ...शिश्नं मुसलं तद्वृत्तमिवभवति...... ।
—श०प०ब्रा० ७।५।१।३७

४—स यामिच्छेत् कामयेतगेतितस्यामर्थं निष्ट्वाप्य
मुखेन मुखं सन्धायोपस्थ—
मस्याऽभिमृश्य जपेद् अंगादगात् सम्भवति हृदयादधि जायसे ।
—श० प० ब्रा० १४।९।४।८

५—योषा वै वेदिः... .... अनग्नानां करोति
अनग्नताया एव तस्माद्वर्हिस्तृणानि ।
—श० प० ब्रा० १।३।३।८

६—योषा वृषाणः शेतेमिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते ।
—श० प० ब्रा० १।२।५।१५

७—योषामधिद्रवति तस्यांरेतः सिंचति । —श०प०ब्रा० २।२।४।३२

८—तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो । नवाह्यं किंचन वेदनान्तरम् ॥
—श० १४।७।१।२२, बृ० उ० ४।२।२१

९—तस्मात्स्त्री युवतिः प्रिया भावुका । —तै० ब्रा० ३।८।१३

१०—अजानि गर्भधमात्वमजाऽसिगर्भधम् । —शु०यजुर्वेद २३।१९

११—वृषावाजी रेतो धारेतो दधातु ॥ २० ॥

१२—उत्सकथ्याऽअवगुदं धेहि समंजसि ।
चारया वृषन् । यः स्त्रीणां जीव भोजनः ॥ २१ ॥

१३—माता च ते पिता च तेऽग्रे बृक्षस्यक्रीडतः ॥ २५ ॥

१४—मुष्काविदध्या एज गोतोशफेशकुलाविव ॥ २८ ॥

१५—तां पूषञ्छिवतमामेरयष्व यष्यांबीजं मनुष्या वदन्ति ।

या न ऊरु उषती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहरामशेवम् ॥
—अथर्व० १४।२।३८, ऋ० १०।८।३, नि० ३।२१

१६–महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुधावति ।
इमास्तदस्यगा रक्ष यभ मामद्धचौदनम् ॥–अथर्व० २०।१३६।११

१७–आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे ।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥
—ऋ० १।१२६।६, नि० ५।१५

१८–अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥
—ऋ० ४।५।५

१९–जघने चोद एषां विसक्थानि नरो ययुः । पुत्रकृथ न जनयः ।
—ऋ० ५।६१।३

२०—अत्रिर्यद् वामरोहन्नृबीसमजोहवीन्नाधमानेव योषा ।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनाऽऽगच्छतमश्विना शंतमेन ॥
—ऋ० ५।७८।४

२१—विजिहीष्व वनस्पते योनिः सूष्यन्त्या इव ।

२२—मर्यो न योषामभिनिष्कृतं यत् संगच्छते कलश उस्त्रियाभिः ।
—ऋ० ९।९३।२

२३—अश्वो ओढासुखं रथं हसनामुपमंत्रिणः । ऋ० ६।७८।५
शेषो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छति ॥
—ऋ० ९।११२।४

२४—पतिं न पत्नी रुषती रुषन्तं स्पृशन्ति, त्वा शवसावन् मनीषाः ।
ऋ० १।६२।११

उषतीः पत्नीः न(इव)=जैसे सुन्दरी पत्नी, उषन्तं पतिं स्पृशति =सुन्दर पति को ग्रहण करती है, त्वां मनीषाः=हे प्रभो वैसे ही आपकी कृपाबुद्धि, शवसावन्=हमें ग्रहण स्वीकार करें ।

२५–जायेव पत्यावधिशेव मंहसे । —ऋ० ९।८२।४

२६–गच्छन् नारो न (इव) योषितः । —ऋ० ९।३८।४

२७–मर्यं न योषा कृणुते सद्मस्थ आ । —ऋ० १०।४०।२

२८–उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उषती सुवासाः ।
—ऋ० १०।७१।४

इत्यादि शतशः श्रुतियाँ अश्लीलता से आप्रणरवात् भरी पड़ी है, तब मर्यादित कथन करने वाले गोस्वामीजी पर ही अश्लीलवादी का दोष कैसे देने का साहस होता है लोगों का ।

परमात्मा को स्त्री मानकर उपासना करना मुसलमान सूफियों को देन नहीं है अपितु वेदोंकी देन है । वेद के विद्वानों ने ही अरब आदि मुस्लिम प्रदेशों में प्रचार किया होगा। मुस्लिम मजहब को अभी चौदह सौ वर्षभी नहीं हुआ और वेद प्राचीनतम ग्रन्थ हैं वेदका मन्त्र देखिये–

२९–पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ।
––ऋग्वेद मं० १०।सू० १४९ मं० ४

पतिः इव जायाम्—जैसे पति अपनी पत्नी के प्रति आकृष्ट होता है । वैसे, दिवः धर्ता, सविता—सर्वाधार, सर्वोत्पादक एवं विश्ववार.—सर्व वरणीय प्रभु । नः नि एतु–हम सबको अपने प्रति आकृष्ट करें ।

अर्थात् प्रभु हमें वैसे ही प्रिय लगें जैसे पति (कामी) को पत्नी (नारि) प्रिय लगती है । मालूम होता है इसी मन्त्र का भावानुवाद ही गोस्वामीजी का उक्त जिज्ञासित दोहा है ।

३०–नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो नमेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।
––कठो० १।२।२२, मुंड० ३।२।३

३१–नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न प्रमादात्तपसो वाप्यलिगात् ।
––मुण्डको० ३।२।४

जिस तरह एक स्वयंवरा सुन्दरी युवती जिसको अपने मन से बरण कर लेती है उसी के सामने स्वेच्छा से (स्वां तनूं विवृणुते) अपने शरीर को विवृत विवस्त्र करती है और वह बलवान को ही वरण

करती है। उसी तरह यह आत्मा (परमात्मा) सुन्दरी किसी की वाक्‌-पटुता तीव्रबुद्धि एवं बहुत अध्ययन से उसे वरण नहीं करती अपितु आत्मबल वाला ही उसे प्राप्त कर सकता है।

जब श्रुतियाँ ही ऐसा कह रही हैं तब गोस्वामीजी ने वैसा कह-कर कौन सा अपराध कर किया। प्रत्यक्ष है कि जितना आकर्षित पुरुष स्त्रियों के प्रति होता है उतना ही आकर्षण स्त्रियों को पुरुषों के प्रति होता है। गोस्वामीजी पुरुष थे इसलिये पुरुषों में होने वाली भावना ही हर जगह व्यक्त किया है—(प्रकारान्तर से ईश्वरको श्रौत सिद्धांन्ता-नुसार स्त्री रूप में व्यक्त किया है।

कबहुँ राम पिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।
ज्यों सुभाय प्रिय लागति, नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये,
करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥
मनसा को दाता कहै श्रुति, प्रभु प्रवीन को।
तुलसीदास को भावतो बलि जाउँ,
दयानिधि दीजै दादि दीन को॥

—विनयप० २६।६७

कामिहि नारि पियारि जिमि—तिमि प्रिय लागहु राम।

कई लोग यह कहते सुने जाते हैं कि बिना अपने में स्त्री भावना लाये भगवान् प्रसन्न नहीं होते, प्राप्त नहीं होते, नित्य कैंकर्य नहीं देते आदि। परन्तु यदि ऐसी बात है तो वह भगवान् मिथ्यावादी है—कपट प्रिय हैं और अल्पज्ञ हैं। क्योंकि—

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

कहने वाला भगवान् उस पर कैसे प्रसन्न हो सकता है जो पुरुष होकर कपटसे अपने में स्त्री की भावना करे क्या वह नहीं जान सकता

कि यह पुरुष है हमें भी धोखा देने के लिये स्त्री बनता है। स्त्रियों सरीखे अली, कली, लता, पता, आदि नाम के अन्तमें जोड़ लेता है। दूसरे जब—

काल कर्म गति अगति जीव की, सब हरि हाथ तुम्हारे।

है तो अपनी प्रसन्नता के अनुकूल जिस जीव को अपना प्रिय बनाना होता उसे स्त्री बनाकर ही मृत्युलोक में जन्म देता जिससे उसके साथ भी कपट करके पुरुष को स्त्री रूप में व्यक्त न करना पड़ता।

तथ्य तो यह है कि ईश्वर और जीव दोनों तत्व न स्त्री है न पुरुष जीव आत्मा है तो ईश्वर परमात्मा है, जीव पुरुष है तो ईश्वर परमपुरुष महापुरुष है। अतः जो जीव अपने प्राकृत कर्मानुसार स्त्री या पुरुष का प्रारब्ध लेकर जन्म लेता है वह उसी सच्चाई ही से ईश्वर के प्रति भावना करने का अधिकारी है। अर्थात् जिसका स्त्री शरीर है वह ईश्वर को पिता, पुत्र, भ्राता अथवा पतिरूप में प्राप्त करना चाहे तो उसका चाहना न्याय्य है, जैसे गोपिकायें। इसी तरह जिसका शरीर पुरुष का है वह ईश्वर को पिता, पुत्र, भ्राता, सखा और पत्नी रूप में प्राप्त करना चाहे तो उसका चाहना भी न्याय्य है।

शिवजी ने बालकाण्ड दोहा १२० में जब—

सुनु शुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल।
कहा भुशुण्डि बखानि सुना विहँग नायक गरुड़।।
सो सम्बाद उदार जिहि बिधिभा आगे कहब।।

आगे कहने की बात कहा ही था तब उत्तरकांड ५२।७ में—

उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुशुण्डि खगपतिहि सुनाई।।
कछुक राम यश कहेउँ बखानी। अब को कहउँ सो कहहु भवानी।।

क्यों ? यह दोनों चौपाई अटपटी इसलिये लगती है कि—

विमल कथा हरि पद दायिनी। भक्ति होइ सुनि अनपायिनी।।

का सम्बन्ध—

सुनि सब कथा उमा हरषानी। बोली अति पुनीत मृदुबानी ।।

से है। क्योंकि बोली—'धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी' से 'सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा' ७।५३।७ तक कहकर प्रार्थना की श्रीराम-कथा के आरम्भ में आपने कहा था कि—'कीन्ह काक तन जाइ... आगे कहूँगा अतः विरति ज्ञान–५५। कहहु कवन विधि भा सम्वादा। दोउ हरि भक्ति काक उरगादा। ७।५५।५ तब 'गौरि गिरा सुनि — — ७।५५।६। इस चौपाई का भाव याज्ञवल्क्य का कथन है उससे 'धन्य सती पावनि मति तोरी' से 'मधुर वचन बोलेउ तब कागा' तक गरुड़ भुशुण्डि संवाद का उपोद्घात है। अस्तु—

अतः मेरी समझसे ७।५२।६–७ चौपाई उनकी लीला है जिन्होंने कई जगह निष्काशन समिश्रण एवं पाठान्तर किया है। वैसे उन दोनों चौपाइयों का औचित्य सिद्ध करने के लिए कई क्लिष्ट कल्पनायें भी की जा सकती हैं।

[उत्तरकाण्ड समाप्त]

—।। इति ।।—

इस खण्ड में उद्धृत ग्रंथों की सूची

शंका-सुची

लङ्काकाण्ड

उत्तर काण्ड

(२)

उत्त

१ बामदेव
२ भरम
३ धेनु-बन
४ बात्तसल्य
५ भरतादि
६ रमानाथ
७ नीच टह
८ हनुमत